

अमृत वाणि (मोक्षवाणि)

प्रा.न्या.पु.आ.

१८

श्रीमदुदयनाचार्य-विरचितः

न्याय-कुसुमाञ्जलिः

श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-विरचितया वृत्त्या
प्रभाऽऽख्यया संस्कृत-व्याख्यया
विभाऽऽख्यया हिन्दी-व्या-
ख्यया च विभूषितः ।

व्याख्याकारः—
श्रीनारायणमिश्रः
प्राध्यापकः,
संस्कृत-पालि-विभागः
का. हिं. विश्वविद्यालयः

प्रकाशक :—
भारतीय-विद्या-प्रकाशन
वाराणसी ।

प्रकाशक :—

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बा० नं० १०८, कचौड़ी गली

वाराणसी

प्रथमसंस्करणम्–१९६८

मूल्य-भारतीय विद्या प्रकाशन,

संशोधित मूल्य..10/50..

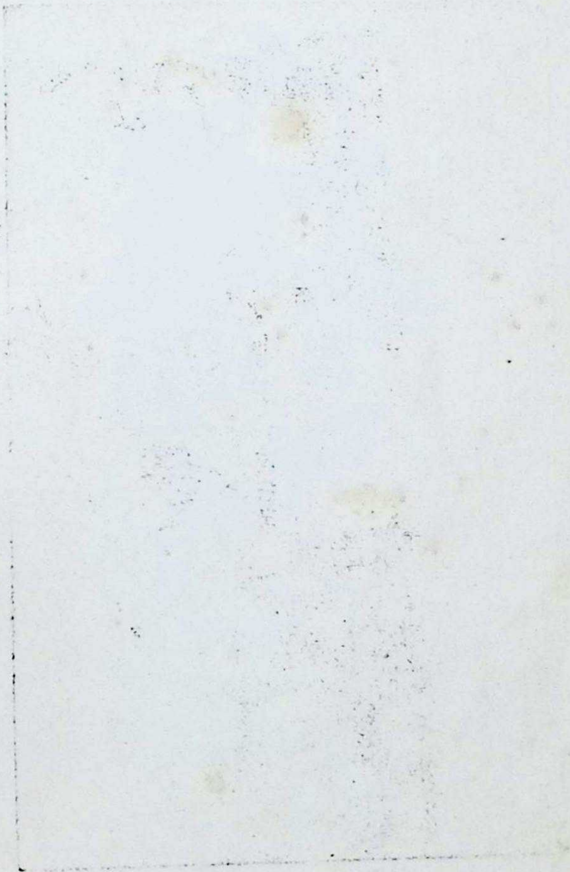
मुद्रक :—

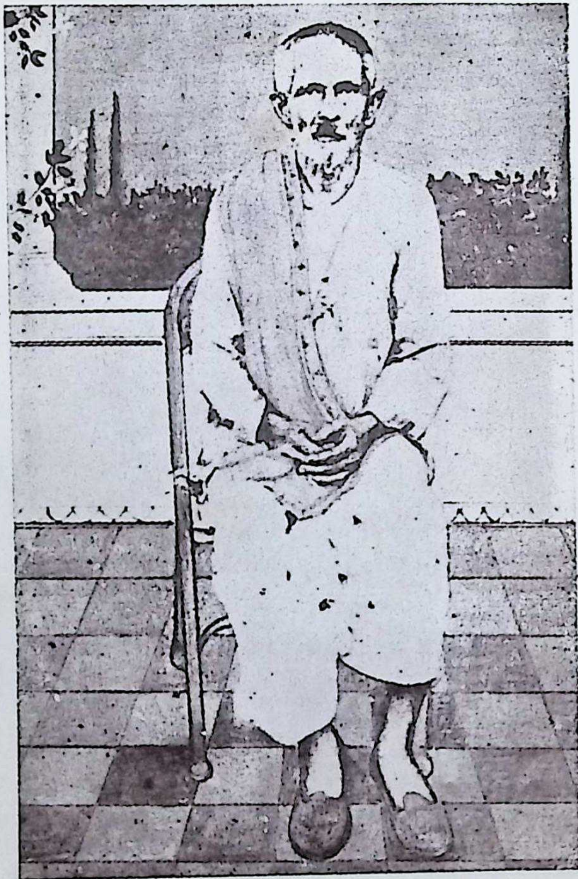
मंदनगोपाल

भगवान शाण्डिल्य प्रेस,

ए. ३/८१, त्रिलोचन

वाराणसी।





पूज्यतातपादाः स्व० पं० लक्ष्मीनाथमिश्राः

यदा श्रान्तोऽपि नाऽपश्यं तत् पुत्रे यन्न पैतृकम् ।
तदा त्वत्प्राप्तमेवार्थं तुभ्यं प्रत्यर्पये पितः !
त्वद्भक्त्युपेत-संरम्भा विभयाऽनुगता प्रभा ।
मयि ते स्मृतये भूयात् भवेऽपि विभवेऽपि च ॥

FOREWORD

The great Udayana is a name in Indian Logic. Of all his works, the Kusumanjali is as widely read as it bristles with originality. Addressed to the establishment of God, the work was commented upon by many. But the commentary of Haridasa Bhattacharya deserves special mention for its brevity and fidelity to the original.

Shri Shrinarayna Mishra has proposed a sub-commentary on Haridasa together with its Hindi translation. The sub-commentary has brought to the fore many interesting points of logic. The Hindi translation would be a help to enter the mind of the great Udayana.

I recommend the work to the scholarly world.

Dr. S. Bhattacharya,

Mayurbhanj Professor of Sanskrit,
&
Head of the Deptt. of Sanskrit & Pali,
BANARAS HINDU UNIVERSITY,
VARANASI-5.

न्यायकुसुमाञ्जलि-विषय-सूची

प्रथमस्तबकः

ईश्वरविषये चार्वाकस्य प्रथमविप्रतिपत्तेः मतान्तरालोचनात्मक-सन्दर्भेण निरसनम् (१–१०० पृष्ठ)

द्वितीयस्तबकः

तृतीयस्तबकः

चतुर्थस्तबकः

पञ्चमस्तबकः

———

न्याय-कुसुमाञ्जलि-

कारिका-सूची

कारिका—	स्तवकः	कारिका-संख्या
(१) अति-प्रसङ्गान्न फलम्	५	१२
(२) अनियम्यस्य नाऽयुक्तिः	३	१९
(३) अनैकान्तः परिच्छेदे	३	१३
(४) अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा	४	३
(५) अप्राप्तेरधिक-प्राप्तेः	४	१
(६) अर्थेनैव विशेषो हि	४	४
(७) अवच्छेद-ग्रह-ध्रौव्यात्	३	२२
(८) असत्त्वादप्रवृत्तेश्च···	५	१३
(९) अस्माकन्तु निसर्ग-सुन्दर !	५	१९
(१०) आक्षेप-लभ्ये संख्येये	५	११
(११) आगमादेः प्रमाणत्वे	३	५
(१२) इत्येवं श्रुति-नीति	५	१८
(१३) इत्येष नीति-कुसुमाञ्जलि	५	२०
(१४) इत्येषा सहकारि-शक्ति	१	२०
(१५) इष्ट-सिद्धिः प्रसिद्धेंशे	३	४
(१६) इष्टहानेरनिष्टाऽऽप्तेः	५	८
(१७) उद्देश एव तात्पर्यम्	५	६
(१८) एकस्य न क्रमः क्वापि	१	७
(१९) कर्त्तृ-धर्मा नियन्तारः	१	१४
(२०) कारं कारमलौकिकाद्भुत	२	४
(२१) कार्यत्वान्निरुपाखित्वम्	५	५
(२२) कार्यायोजन-धृत्यादेः	५	१
(२३) कृताऽकृत-विभागेन	५	९
(२४) कृत्स्न एव च वेदोऽयम्	५	१६
(२५) चिर-ध्वस्तं फलायाऽलम्	१	९

न्याय-कुसुमाञ्जलिस्थ-कारिका-पाठभेदोपयुक्त-पुस्तक-विवरणम्

'क'–पुस्तकम्—बोधिनी-प्रकाशादि-सहितम् (चौखम्बा)
'ख'–पुस्तकम्—आमोद-विवेक-सहितम् (कलिकाता)
'ग'–पुस्तकम्—रामभद्र-सार्वभौमकृत-व्याख्या-सहितम् (कलिकाता)
'घ'–पुस्तकम्—वीर-राघव-व्याख्या-सहितम् (तिरुवाई)

निवेदन

मानव के चरम-लक्ष्य—निःश्रेयस—के साधक अथवा मार्ग-दर्शक होने के कारण सभी शास्त्रों में दर्शन-शास्त्र का स्थान ऊँचा है। इन दर्शन-शास्त्रों में भी व्यवहार तथा तर्क के आधार पर ही तत्त्व का प्रतिपादक न्याय-शास्त्र सर्वोपरि है। अत एव भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है :—

प्रदीपः सर्व-विद्यानाम् उपायः सर्व-कर्मणाम्।
आश्रयः सर्व-धर्माणाम् शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

न्याय-शास्त्र का क्रम-वद्ध स्वरूप हमें अक्षपाद के न्याय-सूत्रों में मिलता है। मध्य-युग में कुछ प्रकाण्ड वौद्ध-दार्शनिकों के साथ हुए वाद-प्रतिवाद से इस शास्त्र का और भी उत्कर्ष हुआ। उत्कर्ष-कारी नैयायिकों में ही एक विशिष्ट नैयायिक हमारे उदयनाचार्य भी हैं। इन्हें प्राचीन-न्याय तथा नव्य-न्याय का 'सङ्गम-स्थान' कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र की 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' पर 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नामकी व्याख्या लिखकर इन्होंने बौद्धों को मुँहतोड़ जवाब दिया है। यही कारण है कि जैन-सम्प्रदाय के महातार्किक श्री वादिदेव सूरि ने भी उदयनाचार्य को 'द्विप[1]' की उपाधि दी है। सभी शास्त्रों में इन्हें 'न्यायाचार्य' शब्द से उपात्त किए जाने की प्रवृत्ति भी आचार्य के पाण्डित्य-प्रकर्ष का परिचायक है।

उदयनाचार्य का समय ईसा की दशमी शताब्दी को साधारणतः माना जाता है। इसका आधार यह है कि इनकी 'लक्षणावली' की 'सरस्वती-भवन' में सुरक्षित ५९४ सं० की पाण्डु-लिपि में 'लक्षणावली' के निर्माण-काल के रूप में ९०६[2] शकाब्द का उल्लेख है। उदयनाचार्य के समय के विषय में 'History of Navya-Nyaya in Mithila' के पृ० ५१ से ५४ तक द्रष्टव्य हैं।

---

१. यदत्र शक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयन-द्विपः। स्याद्वाद-रत्नाकर।
२. तर्काम्बराङ्क-प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

उदयनाचार्य के द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ तथा व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गए हैं :—

(१) लक्षणावली,
(२) लक्षणमाला,
(३) आत्म-तत्त्व-विवेक (अथवा बौद्ध-धिक्कार या बौद्धाधिकार)
(४) न्याय-कुसुमाञ्जलि,
(५) न्याय-परिशिष्ट,
(६) न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका-परिशुद्धि,
(७) किरणावली ।

यद्यपि इन ग्रन्थों मे पाण्डित्य का सर्वाधिक प्रकर्ष 'आत्म-तत्त्व-विवेक' में ही है इसमें सन्देह नहीं, तथापि विषय के आकर्पक तथा भाषा-प्रपञ्च से कुछ अंश में रहित होने के कारण 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' का ही सर्वाधिक प्रचार तथा आदर है। इस 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में पाँच स्तवक हैं जिनमें क्रमश: चार्वाक, मीमांसक, बौद्ध, जैन तथा सांख्य के ईश्वर-विरोधी मतों का विश्वसनीय युक्तियों से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता का व्यवस्थापन किया गया है। यद्यपि कुछ लोगों की धारणा है कि पहले 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' का कारिका-भाग लिखा गया, परन्तु इसकी कठिनता के कारण वाद में आचार्य ने वृत्ति भी लिखी, तथापि ग्रन्थ के अवलोकन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि साथ ही साथ दोनों की रचना की गई थी। इसी लिए एक दूसरे के पूरक हैं। अस्तु, यह विषय विचारणीय है। जहाँ तक मूल-सिद्धान्त का प्रश्न है उसका समाधान साररूप में कारिका में निवद्ध है—यह कहना अनुचित नहीं है। परन्तु कारिका-भाग से सभी तत्त्वों के अवगम मे साधारण व्यक्तियों के असौविघ्य तथा गद्यभाग विस्तृत एवं श्रम-बोध्य होने के कारण विशेपत: बङ्गीय मनीषियों ने कारिका-भाग के ऊपर संक्षिप्त व्याख्याएँ लिखीं। इन व्याख्याकारों में हरिदास भट्टाचार्य (१४८०—१५४० ई०), रामभद्र सार्वभौम, जयराम न्याय-पञ्चानन तथा रघुदेव न्यायालङ्कार प्रसिद्ध हैं।

पाण्डित्य की दृष्टि से रामचन्द्र की व्याख्या के प्रौढ़ होने पर भी प्राचीन होने के कारण हरिदास की व्याख्या का प्रचार अधिक है। इस व्याख्या को साधारणतया 'वृत्ति' शब्द से अभिहित किया जाता है। यह 'वृत्ति' वर्धमान के 'प्रकाश' के साथ अधिक सम्बद्ध है। बहुधा 'प्रकाश' के वाक्य ही छिन्न-भिन्न रूप में रख दिए गए हैं। यद्यपि कुछ लोग यह कहते हैं कि मिथिला में पढ़ने के बाद आते समय बङ्गीय छात्रों से मैथिल अध्यापक ग्रन्थादि का अपहरण कर

लेते थे; इसी लिए हरिदास ने— जो उक्त परिस्थिति में ही कुसुमाञ्जलि का अध्ययन कर अपने देश लौट आये थे—केवल स्मृति के आधार पर ही यह 'वृत्ति' लिखी है तथापि 'वृत्ति' के अवलोकन से यह तो कम से कम स्पष्ट हो ही जाता है कि हरिदास का पाण्डित्य उच्च कोटि का नहीं था। फिर भी अत्यधिक प्रचार के कारण कई मनीषियों ने इस 'वृत्ति' पर टीकाएँ लिखीं जिनमें राधामोहन गोस्वामी, महेशचन्द्र न्यायरत्न, चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार तथा कामाख्यानाथ तर्कवागीश प्रमुख हैं। इन व्याख्याओं में प्रथम तो अप्रकाशित ही है और अवशिष्ट तीन भी सम्प्रति अनुपलब्ध तथा पण्डितजनमात्र-वैद्य है। यद्यपि आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी-व्याख्या भी प्रकाशित तथा सम्प्रति सुप्राप्य है, तथापि न्याय-शास्त्र के साम्प्रदायिक अध्ययन के अभाव के कारण इसमें बहुधा विभ्रम है। अत: मैंने भारतीय विद्या-प्रकाशन के अध्यक्ष के द्वारा प्रोत्साहित होने के कारण छात्रोपयोगी 'प्रभा' नाम की संस्कृत व्याख्या तथा 'विभा' नाम की हिन्दी व्याख्या लिखी है। हिन्दी व्याख्या की भाषा में अप्रौढता अवश्य है तथापि व्याख्यात्मक ग्रन्थों के हिन्दी व्याख्यान में भाषा-सौष्ठव का अभाव क्षम्य हो सकता है।

इन व्याख्याओं के मूलभूत मेरे पूज्य पिताजी, जिनका नाम प्रथमोल्लेखनीय होता, 'नाम-मुक्त' हो चुके। वर्त्तमान गुरुजनों में डॉ० श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी, डॉ० श्री शीतांशुशेखर बागची, डॉ० बी० आर० शर्मा जी, प्रो० श्री शोभाकान्त झा जी, प्रो० अनन्तलाल ठाकुर जी, प्रो० कान्तानाथ शास्त्री जी तथा डॉ० दिनेशचन्द्र गुह के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। इनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मेरा कर्त्तव्य है। उत्साही भारतीय विद्या-प्रकाशनाध्यक्ष भी, इस विषय में धन्यवादार्ह हैं जिनकी तत्परता से इस पुस्तक का उचित प्रकाशन हो सका है।

यद्यपि इस पुस्तक की भूमिका के लिए मैंने गुरुवर प्रो० श्री अनन्तलाल ठाकुर जी से प्रार्थना की थी और उन्होंने उसे स्वीकार भी कर लिया था, तथापि किसी विशेष कारण से वह भूमिका इस संस्करण में संयोजित न हो सकी है। मुझे पूरी आशा है कि अग्रिम संस्करण में वह भूमिका इस ग्रन्थ मे अवश्य रहेगी।

अन्त में मैं अपने विद्वान पाठकों से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस पुस्तक में हुई अक्षराशुद्धियों तथा विषयाशुद्धियों की उपेक्षा कर मुझे अनुगृहीत करें।

विनीत—

श्रीनारायण मिश्र

श्रीमदुदयनाचार्य-विरचितः

न्याय-कुसुमाञ्जलिः

श्रीहरिदास-विरचितया वृत्त्या श्रीनारायण-मिश्र-कृतया
प्रभाऽऽख्यया संस्कृत-व्याख्यया विभाऽऽख्यया
हिन्दी-व्याख्यया च विभूषितः

प्रथमः स्तवकः



(वृत्तिः)

ईषदीषदनधीत-विद्यया तात-मातृ-मुदमाविवर्धयन् ।

अथ प्रथमः स्तवकः

(प्रभा)

विश्वं सृजत्यवति खादति लीलयैव
यो ब्रह्म-विष्णु-हर-रूपमुपेत्य शक्त्या ।
साक्षात् शिवः शिवतरो गिरिजाऽङ्ग-सङ्गात्
गङ्गाऽऽगमात् शिवतमः स जगत् पुनातु ॥ १ ॥

मातुर्निधाय चरणं हृदि बुद्धिमत्याः
संसार-ताप-हरणं करणं सुखस्य ।
विद्या-प्रदं च पितरम्प्रणिपत्य लक्ष्मी-
नाथाभिधं सकल-शासन-सार-भूतम् ॥

न्यायाशय - प्रवचनोदयनोदितस्य
कृष्णार्पितस्य कुसुमाञ्जलि-संज्ञकस्य ।
छात्राऽऽगमाय - हरिदास - निबद्ध - वृत्तेः
व्याख्याम्प्रभामथ करोमि यथा-व्यवस्थम् ॥ २-३ ॥

प्रथम-स्तवक

(विभा)

निश्छल पीकर भी समल गरल पल भर भी जो न हुए विह्वल ।
उन महाकाल के चरण-कमल हों मेरे मन में सदा अचल ॥ १ ॥

अपनी स्वाभाविक अव्यक्त वाणी के निरन्तर उच्चारण से अपने माता-पिता

क्षेपणाय भव-कर्म-जन्मनां कोऽपि गोप-तनयो नमस्यते ॥ १ ॥

इष्ट-देवता-सङ्कीर्त्तनं ब्रह्म-प्रतिपादक-सच्छब्द-प्रयोगात्मकं मङ्गलञ्च

विघ्न-विघाताय कृतं मङ्गलं शिष्य-शिक्षायै श्रोतॄणामनुषङ्गतो मङ्गलाय च निबध्नाति—ईषदिति। कोऽपि अनिर्वचनीय-गुण-विशिष्टः गोप-तनयः कृष्णाख्यः परम-पुरुषः नमस्यते इत्यर्थः। कीदृशः गोप-तनयः इत्यत्राह—ईषदीषदिति। वीप्सायां द्विरुक्तिः। तथा च निरन्तरम् अव्यक्तया विद्यया=वाण्या, अस्फुट-वाण्याः निरन्तरोच्चारणेनेति तात्पर्यम्। विद्याशब्दस्य शब्द-परत्वं च वेद-विद्या-पदादौ प्रसिद्धमेवेति नानुपपत्तिः। अधीतायाः अस्पष्टोच्चारणम् अयोग्यत्व-सूचकमित्यभिप्रायेण विद्या-विशेषणम्—अनधीतेति। अनधीतस्य शिशूच्चारितस्यास्पष्ट-वचनस्य पित्रादि-प्रमोदावहत्वं च लोक-सिद्धमेव। नमस्कारप्रयोजनमाह—क्षेपणायेत्यादिना। भवः= संसारः, मिथ्या-ज्ञान-मूला वासना इत्यर्थः। कर्म=धर्माऽधर्मात्मकम् अदृष्टम्, जन्म=आत्मनः शरीरेण सम्बन्धः, तेषां क्षेपणायेत्यर्थः। यद्यपि अदृष्टान्तर्गतस्य धर्मस्य सुख-जनकतया तत्क्षेपणेच्छा साधारणा-नुभव-विरुद्धा तथाऽपि तस्य सुखस्य दुःख-मिश्रतया त्याज्यत्वमेवेत्य-भिप्रायेणोक्तम्।

अत एवोक्तम्—

"पातक-प्रचयवन्मम तावत् पुण्य-पुञ्जमपि नाथ लुनीहि।
काञ्चनी भवतु लौह-मयी वा शृङ्खला तु पदयोर्न विशेषः॥"

इत्यादि।

मङ्गलञ्चेत्यत्र प्रयुक्तः चकारः ग्रन्थ-नामेत्यनन्तरं योज्यः। तथा च इष्ट-देवता-सङ्कीर्त्तनाऽभिन्नं यत् ब्रह्म-प्रतिपादक-सच्छब्द-प्रयोगात्मकमित्यन्वयः। ब्रह्मणः वेदान्त-प्रसिद्धस्य आचार्येष्ट-देवतात्वं च आचार्यैरेव आत्म-तत्त्व-विवेकादौ प्रतिपादितमिति तत एवावसेयम्। समस्तरूपेति—उचितानुपूर्वीक-प्रतिज्ञादिपञ्चकमित्यर्थः। अत्र नीयते विवक्षितार्थ-सिद्धिः अनेन इति योग-बलेन लिङ्ग-

को अत्यन्त प्रमुग्ध करने वाले गोप-तनय (भगवान् बाल-कृष्ण) को अपने संसार (=मिथ्या ज्ञान-जन्य वासना), कर्म-जन्य अदृष्ट (=धर्माऽधर्म) तथा जन्म के प्रक्षय (अत एव मोक्ष) के लिए प्रणाम करता हूँ।

ब्रह्म के स्वरूपतः प्रतिपादक 'सत्' शब्द के प्रयोग के रूप में अपने इष्ट-देव

कुर्वन्नेव ग्रन्थ-नामाह—

सत्पक्ष-प्रसरः सतास्परिमल-प्रोद्बोध-बद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृत-रस-प्रस्यन्द-माध्वीक-भूः ॥
ईशस्यैष निवेशितः पद-युगे भृङ्गायमाणं भ्रमत्-
चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्याय-प्रसूनाञ्जलिः ॥१॥

एष अनघः = निर्दोषः, न्यायः = समस्त - रूपोपपन्नलिङ्ग-प्रतिपादकं पदम् वाक्यम् वा, तत्त्व-ज्ञानार्थं कृतस्य तर्कस्य च प्रतिपादकं वाक्यमपि न्याय-पदाभिधेयम् इति बोध्यम् । अत एव अग्रे पद-शब्दस्य प्रमाण-तर्क-युगलम् इत्यर्थः न विरुद्धयते इति विभावनीयम् । यद्वा योग-बलेन हेतु-पर एव न्याय-शब्दः प्रकृतोपयोगी । पद-युगे इत्यस्य च जीवात्म-परमात्मनोरित्यर्थः कार्यः ।

का सङ्कीर्तन, अर्थात् मंगल, करते हुए ही मूल ग्रन्थ-कार अपने ग्रन्थ का नाम भी बतला रहे हैं :—

[(सत्पक्ष-प्रसरः =) सुविकसित पत्रों से सम्पन्न, (सतां परिमल-प्रोद्बोध-बद्धोत्सवः =) अपनी सुगन्धि के प्रत्यक्ष से निर्दुष्ट नासिकावाले सज्जनों के आनन्द का उद्भावक, (विम्लानो न विमर्दने =) रगड़ लगने पर भी अविकृत, (अमृत-रस-प्रस्यन्द-माध्वीक-भूः =) अमृत-रस को प्रवाहित करनेवाले मधु की जन्म-भूमि, (ईशस्यैव निवेशितः पद-युगे =) भगवान् के चरण कमलों में समर्पित, (अनघः =) निर्दोष अञ्जलिगत पुष्प-समूह जिस प्रकार (भ्रमत् =) मकरन्दास्वाद के लिए चञ्चल भ्रमर को स्व-निपक्त कर निर्विघ्न-पूर्वक प्रसन्न कर देता है उसी प्रकार ("सत्पक्ष-प्रसरः" = पक्षतावच्छेदक-विशिष्ट पक्ष में प्रमात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला, "सतां परिमल-प्रोद्बोध-बद्धोत्सवः" = विवेचकों के आनन्द को सर्वथा उपपन्न व्याप्ति के यथार्थ-ज्ञान के द्वारा उद्भावित करने वाला, "विम्लानो न विमर्दने" = प्रति-हेतु की उपस्थिति होने पर भी प्रबल होने के कारण प्रति-हेतु के बाध के द्वारा अनुमिति के उत्पादन में समर्थ, "अमृत-रस-प्रस्यन्द-माध्वीक-भूः" = इच्छा-विषयीभूत तथा उत्पद्यमान अमृत-स्वरूप मधु की उत्पत्ति-भूमि, "ईशस्यैव निवेशितः पद-युगे" = भगवान् के विषय में किए गए मनन तथा तर्क का प्रतिपादन करनेवाला, "अनघः" = नैराकाङ्क्ष्य आदि वाक्य-दोषों से रहित, अतएव आह्लादक होने के कारण अञ्जलि-गत पुष्प-समूह के समान) यह न्याय, अर्थात् पक्ष-सत्त्वादि

प्रतिपादकं वाक्यम्, स एव कुसुमाञ्जलिः, मे=मम चित्तं रमयतु= दुःख-सामग्री-विहीनं करोतु। अनघत्वं शब्द-दोष-रहितत्वम्, विषयाऽशुद्धेः पूर्वार्द्धेनैव निरासादिति प्रकाशः। अविघ्नं यथा स्यात्। ईशस्य पदयुगे=पद्यते अनेन इति व्युत्पत्त्या पदम्=प्रत्यायकम्

कुसुमाञ्जलिरिति—यद्यपि "तौ युतावञ्जलिः पुमान्" इति कोशात् विन्यास-विशेष-विशिष्टौ करौ एव अञ्जलिः तथाऽपि राजदन्तादिवत् अञ्जलेः प्रसूनमिति समासः इति गुणानन्द-विद्यावागीशाः। मिश्रास्तु न्याय एव आह्लादकत्वात् प्रसूनम् तेषामेव बहूनामञ्जलिरिव अञ्जलिरिति प्राहुः। प्रकृतस्य न्यायस्य मोक्षोपायतया सम्मतत्वेन तेन सुख-प्राप्तिरसम्भवीत्यतः दुःखाभावे एव सुखोपचाराभिप्रायेण रमयतु इत्युक्तमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—दुःख-सामग्री-विहीनङ्करोत्विति। शब्ददोषो नैराकाङ्क्ष्यादिः। विषयाऽशुद्धेः इति—वाक्य-जन्य-शाब्द-बोध-विषयस्य पदार्थस्य, अशुद्धेः=दोषस्य असिद्धादि-हेत्वाभासस्येत्यर्थः। प्रकाशः इति वर्धमानोपाध्याय-कृतायाः न्याय-कुसुमाञ्जलि-टीकायाः नाम। प्रत्यायकम्—एतच्च प्रमाणस्य साक्षात्, तर्कस्य च तदनुग्राहकतयेति बोध्यम्। पद-युगे इत्यत्र विषयत्वं सप्तम्यर्थः, तच्च

गुणों से सम्पन्न हेतु का प्रतिपादक वाक्य, मेरे (भृङ्गायमाणम्"= मकरन्दास्वाद में भृङ्ग के समान दुःख-हानि के उपाय मे स-काम और "भ्रमत्" दुःख हानि के उपाय के अन्वेषण में ही संसक्त) चित्त को निर्विघ्न-पूर्वक प्रसन्न करे॥ १॥]

यह "अनघः" अर्थात् निर्दोष, "न्यायः" अर्थात् पक्ष-सत्त्वादि-गुण-युक्त-हेतु-प्रति-पादक वाक्य, वही अञ्जलि-गत पुष्प-समूह, 'मे' अर्थात् मेरे चित्त को, 'रमयतु' अर्थात् दुःख-सामग्री से हीन करे। यहाँ अनघ-शब्द शब्द-निष्ठ निराकांक्षत्व आदि दोषों के ही अभाव का प्रतिपादक है न कि विषय, अर्थात् अर्थ, में रहने वाले दोषों का भी, क्योंकि विषय-गत हेतु-दोष आदि का निरास तो "सत्पक्ष······माध्वीक-भूः" इस पूर्वार्ध से ही हो चुका है—यह न्या० कु० की प्रकाश नाम की व्याख्या करनेवाले वर्धमान उपाध्याय का मत है।

निर्विघ्न जिस प्रकार हो सके उस प्रकार मेरे चित्त को प्रसन्न करे। भगवान् के पद-युग—यहाँ "पद" शब्द का अर्थ, "पद्यते अनेन" अर्थात् जिससे ज्ञान हो सकता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार, प्रतिपादक है और

प्रमाण-तर्क-रूपम्, तत्र निवेशितः=तद्विषयतया उत्पादितः। चेतः कीदृशम्? भृङ्गायमाणम्=भृङ्ग इव मकरन्दे दुःख-विगमोपाये सतृष्णम्; भ्रमत्=दुःख-विगमोपायमनुसन्दधत्। प्रसूनाञ्जलिसाम्य-माह—सदित्यादि। सता=समीचीनेन, पक्षेण=अनुकूलेन रवि-किरणा-

प्रतिपादकत्वे पर्यवस्यति इत्याह—तद्विषयतयेति। तत्प्रतिपादकत-येत्यर्थः। उत्पादितः=सञ्चितः। रमणक्रियायाः कर्मीभूतं चेतो विशि-नष्टि—भृङ्गायमाणम् इति। आचारे क्यङ्प्रत्ययः। दुःख-विगमोपाये= मोक्षोपाये इति सम्प्रदाय-विदः। वस्तुतस्तु आत्म-स्वरूपलाभे इत्यर्थः। तथा चाहुराचार्याः—"स्वरूपेण व्यवस्थानमात्मनो मोक्ष इति मोक्षविदः। तत्रात्म-स्वरूपम् एव कीदृशम् इति चिन्त्यं न पृथक् मोक्ष-स्वरूपम्। आत्मनश्च सुख-दुःख-बुद्ध्यादय आगन्तुकाः भावाः" इत्यादि। अत एव सतृष्णमित्यपि उपपद्यते। इतरथा हि तृष्णायाः मोक्ष-प्रतिबन्धकत्वस्य—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः येऽस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति" इत्यादिश्रुतेः, "अविद्या-तृष्णे धर्माऽधर्मौ च जन्मकारणमिति" स्मृतेश्च—सिद्धतया सतृष्णस्य मोक्षानु-पपत्ति-प्रसङ्गात्। दुखोपाय-विगमस्योक्तार्थकत्वे तु "अथाकामय-मानः योऽकामः निष्कामः आत्म-कामः आप्त-कामः" इत्यादि-श्रुत्या आत्म-विषयक-तृष्णायाः मोक्षाप्रतिबन्धकत्व-प्रतिपादनान्नानुपपत्ति-रिति। लौकिक-कामस्यैव प्रतिबन्धकत्वं श्रुति-स्मृति-तात्पर्य-गोचरम् इति न दोष इत्यस्मत्पितृ-चरणाः।

साम्यमिति—तच्च स्व-प्रतिपादक-शब्दप्रतिपाद्यत्वेनेति तर्क-वागी-शाः। श्लेष-प्रतिपादितार्थानाम् साम्याभिधानं च—

"पृथुकार्त्तस्वर-पात्रं भूपित-निश्शेष-परिजनं देव।
विलसत्करेणु-गहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥"

'युग' का अर्थ है दो; इसलिए प्रमाण तथा तर्क में 'निवेशितः' अर्थात् उनके प्रतिपादन मे पर्यवसित। किस प्रकार के चित्त को प्रसन्न करे? 'भृङ्गायमाणम्' अर्थात् जिस प्रकार मकरन्द (पराग) में भ्रमर निरत रहता है उसी प्रकार दुःख-हानि के उपाय में निरत अथवा सोत्कण्ठ, 'भ्रमत्' अर्थात् दुःख-हानि के उपाय का अनुसन्धान करनेवाले चित्त को। पुष्पाञ्जलि के साथ न्याय-समूह का साम्य बतलाते हैं—'सत्' इत्यादि शब्दों से। 'सता' अर्थात् सुन्दर, 'पक्षेण' अर्थात् अनुकूल सूर्य-किरण

दिना, प्रसरः=विकासः यस्य सः तथा। सताम् पक्षाणाम्= दलानाम् विकासो यत्र स तथेति वा। सताम्=अनुपहतघ्राणानाम्, परिमलस्य=गन्ध-विशेषस्य, प्रोद्बोधेन=साक्षात्कारेण, बद्धः उत्सवः= आनन्दः येन सः। विमर्दने=कर-पुट-विमर्दने, न विम्लानः=नाऽन्यथा-भूत-संस्थानः। अमृतरसं प्रस्यन्दते इति प्रस्यन्दः, एतादृशं माध्वीकं= मधु, तस्य भूः=उत्पत्ति-स्थानम्।

न्याय-पक्षे—सति=प्रामाणिके, पक्षतावच्छेदक-विशिष्टे इति यावत्। पक्षे=सिषाधयिषित-साध्य-धर्मके धर्मिणि। प्रकर्षेण सरः = ज्ञानं

इत्यादौ प्रसिद्धमेव।

पक्षतावच्छेदक-विशिष्टे इति। एतेन आश्रयाऽसिद्धि-व्युदासः, पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षस्यैव आश्रयासिद्धिरूपत्वात्। सिषाधयि-षितेत्यादि—सिषाधयिषितं साध्यं धर्मो यस्येति बाध-व्युदासः। सिषाध-यिषितेत्यनेन सिद्ध-साधन-निरासः। धर्मिणि=हेतु–भूत-धर्मवतीति स्वरूपाऽसिद्धि-निरासः इति रुचिदत्तोपाध्यायाः। परे तु उक्त-व्याख्यया-ऽपि भागाऽसिद्धेरनिरासेन प्र-शब्द-ज्ञानार्थक-सर-शब्दाभ्याम् 'प्रकर्षेण-सरः=ज्ञानं यस्मात्' इत्यतः परं हेतोः इत्यस्य शेषेण च अवच्छेदका-ऽवच्छेदेन हेतु-प्रमा-ज्ञानस्यावश्य-विवक्षणीयतया तेनैव स्वरूपासिद्धे-रपि निरास-सम्भवे धर्मिणीत्यस्य हेतुमतीत्यर्थ-कल्पनमनावश्यकम्। ततश्च धर्मिणि इत्यस्य साध्य-रूप-धर्मवति इत्येवार्थः। सिषाधयिषित-साध्य-धर्मके इत्यत्र साध्य-धर्मक इत्यस्य च सिषाधयिषा-रूप-सम्बन्ध-

आदि से, 'प्रसरः' अर्थात् विकास हुआ है जिस पुष्पाञ्जलि का, वह। अथवा—'सताम्' अर्थात् दोष-रहित घ्राणेन्द्रियवाले सज्जनों की आत्मा में, 'परिमलस्य' अर्थात् अपनी सुगन्धि के, 'प्रोद्बोधेन' अर्थात् यथार्थ प्रत्यक्ष से, 'बद्धः' अर्थात् उद्भावित कर दिया गया है, 'उत्सवः' अर्थात् आनन्द, 'येन' अर्थात् जिस पुष्पाञ्जलि के द्वारा, वह। 'विमर्दने' अर्थात् रगड़ लगने पर भी, 'न विम्लानः', अर्थात् अविकृत। अमृत-रस को वहानेवाला 'प्रस्यन्द' है। इस प्रकार के अमृत-रस को प्रवाहित करने वाली, 'माध्वीकम्' अर्थात् मधु, उसकी 'भूः' अर्थात् उत्पत्ति-भूमि।

न्याय के पक्ष में—'सति' अर्थात् प्रामाणिक, अर्थात् पक्षताऽवच्छेदक से विशिष्ट, 'पक्षे' अर्थात् अनुमान की इच्छा के विषयीभूत साध्य-स्वरूप-धर्म से सम्पन्न पदार्थ में, 'प्रकर्षेण' अर्थात् यथार्थ रूप में, 'सरः' अर्थात् ज्ञान हो रहा

यस्मात्। एतेन आश्रयाऽसिद्धि-स्वरूपाऽसिद्धि-बाध-निरासः।

सताम् = विवेचकानाम्, परि = सर्वतो भावेन, मलः = सम्बन्धः

मात्र तात्पर्यकत्वम् इति प्रवदन्ति। तात्पर्यं च कुसुमाञ्जलि-टिप्पण्यां मैथिलोपाध्यायैः साधु विवृतमिति तत एवावधार्यं जिज्ञासुभिः। आश्रयासिद्धीत्यादि—तत्र आश्रयाऽसिद्धि-निरास-प्रकारः प्रदर्शितः। स्वरूपाऽसिद्धिरिति—भागाऽसिद्धेरप्युपसङ्ग्राहकम् इदम्। प्रसर-पदेन वृत्त्युक्तार्थकेन स्वरूपासिद्धि-भागासिद्धि-व्युदास इत्यपि उक्तमेव। तत्र स्वरूपासिद्धिः पक्षे हेत्वभावः, हेत्वभाव-वत्पक्षो वा। यथा ह्रदो द्रव्यं धूमात् इत्यत्र पक्षे ह्रदे हेतोर्धूमस्याभावः। भागाऽसिद्धिस्तु स्वरूपासिद्धेरेव भेदः। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतोरभावः स्वरूपासिद्धिः। यथा उक्तोदाहरणे यावत्येव ह्रदे धूमस्य हेतोः अभावः। पक्षतावच्छदेक-सामानाधिकरण्येन हेतोरभावः भागासिद्धिः। यथा शब्दः अनित्यः संयोगजत्वात् इत्यत्र संयोग-जत्वम् भागासिद्धम्, पक्षो हि शब्दः तत्र "संयोगात् विभागात् शब्दाच्च शब्द-निष्पत्तिः" इति वैशेषिक-सिद्धान्तात् पक्ष-भूतस्य-शब्दस्य त्रैविध्यम्। परन्तु संयोगजत्वं हेतुः पक्षैकदेशे विभागजे शब्दजे च शब्दे नास्तीत्यन्यत्र बिस्तरः। बाधेति—सच पक्षे साध्या-भावः, साध्याभाववत्पक्षो वा। यथा ह्रदो वह्निमान् इत्यत्र। एष च दोषः प्रकृते साध्यवदर्थकेन धर्मि-पदेन निरस्यते। अधिकमन्यतोऽ नुसन्धेयम्। सर्वतो भावेन = साध्याभावाऽसामानाधिकरण्य-सहकारेण। (यद्यपि सिद्धान्त-लक्षण-पुरस्कारणेत्युचितम् तथापि गौरवान्नेहोक्तम्)। व्याप्तिः = साध्यसामानाधिकरण्यम्। व्यभि-चारेति—व्यभिचरितो हेतुः त्रिधा—साधारणः असाधारणः अनुपसंहारी च। तत्र साध्यवद्वृत्तित्वे सति साध्याभाववद्वृत्तित्वं साधारणत्वम्, तच्च प्रकृते साध्याभावासामानाधिकरण्यार्थकेन 'परि' इत्यनेन निरस्यते। असाधारणत्वं च साध्यवद (= सपक्षाऽ) वृत्तित्वम्, स च दोषः साध्य-सामानाधिकरण्यार्थेन निराकृतः। अन्वय-व्यतिरेक-दृष्टान्त-रहितत्वं च अनुपसंहारित्वम्। तत्र अन्वय-दृष्टान्त-रहितत्वं च

है जिससे। इस विशेषण के प्रयोग से आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि तथा बाध नाम के हेतु-दोषों का निरास हो जाता है।

'सताम्' अर्थात् सज्जनों का, 'परि' अर्थात् सब रूप से, 'मलः' अर्थात्

व्याप्तिः, तस्याः प्रोद्बोधेन = प्रमया, बद्ध उत्सवः = आनन्दो येन। एतेन व्यभिचार-व्याप्यत्वाऽसिद्धि-विरोधानां निरासः।

विमर्दने = विरोधि-प्रमाण-चिन्तायाम्, न विम्लानः = न कार्याऽक्षमः। तेन सत्प्रतिपक्ष-निरासः। अमृतं = मोक्षः, रसः = इष्यमाणम्, "कृद्विहितः" इति न्यायात्। प्रस्यन्दः = उत्पद्यमानम्। तेन मोक्षस्या-

साध्य-सामानाधिकरण्येन, व्यतिरेकदृष्टान्त-रहितत्वं च साध्याभावाऽसामानाधिकरण्येन निरस्यते इत्यनुपसंहारित्व-निरासः। एवं च विशेषकूट-निरासे सामान्यस्य निरासः स्वतः आयातीति व्यभिचारो निराकृतः। तथाविध-व्याप्तेः प्रोद्बोधेन, व्याप्यत्वस्य = व्याप्तेः, असिद्धिः निराकृता। अत्र सताम् इति विशेषणमपि उपयोगि। साध्य-सहचरितात्यन्ताभाव-प्रतियोग्यात्मकश्च विरोधः साध्य-सामानाधिकरण्य-प्रमया निरस्तः। प्रतिपत्ति-प्राधान्येन च हेत्वाभास-तारतम्यमिति न सङ्कर-प्रसङ्ग इत्यन्यत्र विवेचितम्।

विरोधि-प्रमाणम् प्रतिहेतुः, तस्य चिन्ता = मानसोपस्थितिः, प्रतिवाद्युपस्थापनम् वा। कार्यम् = अनुमितिः। न अक्षम इत्यनेन स्वोपात्तानुमानस्य प्रबलत्व-बोधनात् प्रतिहेतोः दुर्बलत्वमिति तुल्य-बल-विरोधि-परामर्श-कालिक-परामर्श-विषयत्वात्मकस्य सत्प्रति-पक्षस्य निरास इति विचारेणाह—सत्प्रतिपक्ष-निरास इति। कृद्विहित इति—"कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इति हि न्याय-स्वरूपम्। तेन रस-पदस्य 'रस्यते' इति व्युत्पत्त्या क्रिया-स्वरूपतायाः प्रतिभासेऽपि द्रव्य-रूपत्वमिति तस्य इष्यमाणमिति द्रव्यपरत्वमुपपद्यते। एष एव न्यायः प्रस्यन्द इत्यत्रापि उपयोगी। उत्पद्यमानम् इति। न चैतेन मोक्षस्य

व्याप्ति-स्वरूप सम्बन्ध, उसके 'प्रोद्बोधेन' अर्थात् यथार्थ-ज्ञान से, 'बद्धः' अर्थात् उत्पादित किया गया है, 'उत्सवः' अर्थात् आनन्द जिसके द्वारा। इस विशेषण के द्वारा व्यभिचार, व्याप्यत्वाऽसिद्धि तथा विरोध नाम के हेत्वाभासों का निरास सिद्ध होता है।

'विमर्दने' अर्थात् प्रतिहेतु के उपस्थापन होने पर भी, 'न विम्लानः', अर्थात् प्रबल होने के कारण प्रतिहेतु के बाध के द्वारा अपने अनुमित्यात्मक कार्य के उत्पादन में समर्थ। इस विशेषण से यहाँ सत्प्रतिपक्ष नाम का हेत्वाभास नहीं है—यह सिद्ध होता है। 'अमृतम्' अर्थात् मोक्ष, 'रसः' अर्थात् इच्छा-विषयीभूत। इस शब्द में 'रस्यते' इस व्युत्पत्ति के आधार पर क्रिया की प्रधानता के

साध्यता निराकृता। तदेव माध्वीकं=मधु, तस्य भूः = उत्पत्तिस्थानम् ॥१॥

नन्वीश्वर-पद-युग-निवेशितस्य न्यायस्य मोक्ष-रूप-फल-सम्बन्धे मानाऽभावः, तत्त्व-ज्ञान-विषयात्म-बोधकस्य आत्म-शब्दस्य संसार-निदान-मिथ्या-ज्ञान-विषय-स्वात्ममात्र-परत्वात्; तन्मननस्यैव मोक्षो पायत्वात् ? इति शङ्कायामाह—

अनित्यत्व-शङ्का कार्या, यदुत्पाद्यम् तदनित्यम् इत्यस्य भाव-कार्य-मात्र-साधारणत्वात्, मोक्षस्य च दुःखाभावात्मकस्य अभावरूप-त्वात्। अत्र रस-पदेन इष्यमाणतां दर्शयता दुःखाभावो न पुरुषार्थः इति शङ्का समाहिता। अधिकं प्रकाशादौ द्रष्टव्यम् इह तु विस्तर-भयान्न प्रपञ्च्यते ॥ १ ॥

सत्पक्षेत्यादिना ईश्वरमननस्य मोक्ष-फलकत्वमुक्तं तदनुपपन्नम्, तन्मननस्य मोक्ष-प्रयोजकत्वे प्रमाणाऽभावात्। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिश्रुत्या च तद्वि-षय-मननस्यैव मोक्ष-प्रयोजकत्वम् प्रतिपाद्यते यद्विषयकस्य तत्त्व-साक्षात्कारस्य मोक्ष-जनकत्वम् भवति। मोक्ष-जनकत्वं च तद्विषय-कस्यैव तत्त्व-साक्षात्कारस्य उपपद्यते यद्विषयकस्य मिथ्या-ज्ञानस्य (तत्त्व-साक्षात्कार-विरोधिनः) संसार-जनकत्वम्। संसार-जनकत्वं स्वात्म-विषयकस्य मिथ्या-ज्ञानस्यैव शास्त्र-सिद्धमिति स्वात्म-विषयक-मेव तत्त्व-ज्ञानं मोक्ष-जनकं नेश्वर-विषयकं तत्त्व-ज्ञानम् इति ईश्वरे प्रमाणोपन्यास-प्रयासो विफल इत्येव पूर्व-पक्षाशयः; तदाह वृत्ति-कृत्—स्वात्म-मात्रेति।

प्रतिभास होने पर भी "कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इस नियम के अनुसार, रस परत्वपद में द्रव्य-विशेषणत्व की सिद्धि होती है। 'प्रस्यन्दः' अर्थात् उत्पद्यमान। इससे मोक्ष की असाध्यता दूर हो जाती है। वही मोक्ष है 'माध्वीकम् अर्थात् मधु, उसकी 'भूः' अर्थात् उत्पत्ति-स्थान ॥ १ ॥

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर के पद-युगल में समर्पित न्याय के मोक्षात्मक फल के साथ कार्य-कारण-भाव में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानविषयी-भूत आत्मा-रूप पदार्थ का प्रतिपादक ('आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति में प्रयुक्त) आत्मन् शब्द तो संसार-प्रयोजक मिथ्याज्ञान के विषय जीव-मात्र का वाचक है, इसलिए जीवात्मा का मनन मोक्ष का प्रयोजक हो सकता है, परमात्मा का नहीं, इस प्रश्न के समाधान के लिए कहा गया है—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ २ ॥

स्वर्गापवर्गयोः = स्वर्ग - तुल्ययोः अपवर्गयोः जीवन्मुक्ति - परम-मुक्त्योः । ईश्वर - मननञ्च स्वात्म - साक्षात्कार - द्वारा[1] अदृष्ट-द्वारा

स्वर्ग-तुल्येति—साधारण - जनानां कृते स्वर्ग - प्राप्तिरेव परम-पुरुषार्थत्वेनाभिमता इति तेषामपि स्वर्ग - सादृश्य - भावनया मोक्ष-विषयिणी प्रवृत्तिर्यथा स्यादिति हेतोः अपवर्गयोः स्वर्ग-तुल्यत्वाऽभिधानम् । जीवन्मुक्तीति—त्रिविधं हि कर्म—प्रारब्धं सञ्चितं क्रियमाणं चेति । तत्र आत्म-तत्त्व-ज्ञानेन सञ्चित-क्रियमाण-कर्मणोर्विनाशः "एनं ह वाव न तपति किमहं साधु नाऽकरवम् किमहं पापमकरवमित्यादि" श्रुतेः, "ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इत्यादि-स्मृतेश्च । प्रारब्ध-कर्मणश्च भोगादेव क्षयः, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्" इत्याद्युक्तेः । अतः यस्य जीवात्मनः स्वात्म-साक्षात्कारः सम्वृत्तः इति मिथ्याज्ञानादि निवृत्तम्, किन्तु प्रारब्ध-कर्मणो भोग अवशिष्ट इति कृत्वा शरीर-मास्ते, तद्भोगाय स हि जीवन्मुक्त इत्युच्यते, तदीया च मुक्तिः जीवन्मुक्तिः । प्रारब्ध-कर्म-भोगानन्तरं सञ्जात-तत्त्व-ज्ञानस्यात्मनो मुक्तिः परम-मुक्तिरित्याह—परम-मुक्तिरिति ।

स्वात्म-साक्षात्कारेति—ननु ईश्वर-मननस्य मोक्ष-हेतुत्वम् अधस्ता-द्वर्ण्यमानम् अनुपपन्नम्, "स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्म-साक्षा-त्कारस्योपकरोति" इति सिद्धान्तात् । अतः ईश्वर-मननस्य स्वात्म-साक्षात्कार-द्वारा मोक्ष-हेतुत्वमुक्तम् । ईश्वर-मननं स्वात्म-साक्षात्कारोत्पादन-द्वारा मोक्षोपकारि भवतीति तात्पर्यम् । तमेव

[जिस परमात्मा की उपासना को मनीषियों ने स्वर्गतुल्य जीवन्मुक्ति तथा परम-मुक्ति का प्रसाधक माना है, उसीका निरूपण प्रकृत ग्रन्थ में किया जायगा ॥ २ ॥]

'स्वर्गापवर्गयोः' अर्थात् स्वर्ग के समान अनुकूल जीवन्मुक्ति तथा परम-मुक्ति का । ईश्वर का मनन भी अपनी आत्मा के साक्षात्कार द्वारा अथवा

१. यद्यपि मुद्रित-पुस्तके 'अदृष्ट-द्वारा स्वात्म-साक्षात्कार-द्वारा वा' इत्येव पाठः, तथाऽपि अर्थानुरोधात् तथा पाठ आदृतः ।

वा मुक्तौ हेतुः। "तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतिः तत्कारणत्वे मानम्। स्वात्म-साक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वे मानञ्च—

यदात्मानं विजानीयादहमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंसरेत्॥ इति॥ २॥

विदित्वेत्यादि-श्रुतिरपि एतदेव प्रतिपादयति, न तु मिथ्याज्ञानोन्मूलन-द्वारा ईश्वर-मननस्य मोक्ष-हेतुत्वमिति न श्रुति-विरोधोऽपि। परन्तु ईश्वरमननाव्यवहितोत्तर-काले एव आत्म-साक्षात्कारस्यानुदयात् ईश्वर-मननस्य स्वात्म-साक्षात्कार-जनकत्वम् एतदनुकूलादृष्टोत्पादन-द्वारा एव वाच्यम् इति ईश्वर-मननम्, ततः अदृष्टोत्पत्तिः, ततः आत्म-साक्षात्कारः, ततः मिथ्याज्ञानाद्युन्मूलनम्, ततो मुक्तिः इति गुर्वी प्रक्रिया; अतः ईश्वर-मननस्य अदृष्ट-द्वारा मोक्ष-हेतुत्वमेव वरं लाघवात् इत्याह—अदृष्ट-द्वारेति। तथा च अदृष्ट-द्वारा ईश्वर-मनने मिथ्याज्ञानोन्मूलन-द्वारा च आत्म-साक्षात्कारे मोक्ष-जनकत्वं पर्याप्तमिति भावः। एतदेव उभयोः मोक्ष-कारणत्व-प्रदर्शन-मुखेन विवृणोति—तमेवेत्यादिना—संसार-मनुसंसरेदित्यन्तेन ग्रन्थेन। तमेव=ईश्वरमेव; "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इत्यादिना ईश्वरस्यैव प्रक्रान्तत्वेन तत्पदेन ईश्वरस्यैव ग्रहणस्य युक्तत्वादिति तात्पर्यम्। तत्कारणत्वे= ईश्वर-मननस्य मोक्ष-कारणत्वे इत्यर्थः। आत्मानम्=स्वात्मानम्।

एवञ्च स्वात्म-साक्षात्कारवत् ईश्वर-मननस्यापि मोक्ष-हेतुत्वे सिद्धे तन्निरूपण-प्रयासः तत्पदनिवेशितस्य न्यायस्य निरूपणं च न निष्फलमिति उक्तम्भवति॥ २॥

स्वात्म-प्रत्यक्षोपयोगी अदृष्ट के उत्पादन द्वारा मोक्ष का प्रयोजक होता है।

ईश्वर का मनन मोक्ष का प्रयोजक है इसमें प्रमाण है—'तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' (= उसी परमात्मा को जानकर जीव मृत्यु-पाश का सर्वदा के लिए अतिक्रमण कर सकता है, अन्य कोई उपाय वहाँ जाने का नहीं है)—यह श्रुति। इसी प्रकार अपनी आत्मा (जीव) के साक्षात्कार की मोक्ष-प्रयोजकता में प्रमाण है—

"जब जीव यह समझ लेता है कि इसका यथार्थ स्वरूप यही है, तब वह किस इच्छा तथा किस वासना से इस संसार में आयेगा? अर्थात् नहीं आता।"

इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः,

शुद्धः द्वितीय-रहितः, बुद्धः बोध-स्वरूपः । आदौ = सर्गादौ, विद्वान् = चिद्रूपः, सिद्धः = अष्ट-विधैश्वर्यवान् ।

ईश्वरानुमानं करिष्यति ग्रन्थकृत् आचार्यः। तत्र अनुमान-प्रवृत्तिः सन्दिग्धे एवार्थे, न तु सिद्धे। तदुक्तं न्याय-भाष्ये—"नाऽनुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्त्तते किन्तहि सन्दिग्धेऽर्थे" इति। तत्रेश्वरे न केषामपि विप्रतिपत्तिः, सर्वैरेव यथाकथञ्चिदीश्वरस्य स्वीकारादिति असन्दिग्धे ईश्वरे अनुमानोपन्यास एव वृथेति आक्षिपति—इहेत्यादिना। इह—परमात्मनि। परमात्म-विषये किं निरूपणीयम्? प्रकृते हि ग्रन्थे परमात्म-विषयमनुमानमेव निरूपयिष्यते। अनुमानञ्च संशयमन्तरा न प्रवर्त्तते इति निश्चयः। एवञ्च परमात्म-विषयानुमान-प्रवृत्त्यर्थं परमात्मनि अपेक्षितः संशय एव कुतः, सर्वैरेव औपनिषदादिभिः तेन तेन रूपेण परात्मनि सम्प्रतिपत्ति-प्रदर्शनादिति पूर्व-पक्ष-ग्रन्थ-तात्पर्यम्। द्वितीय-रहितः = अद्वितीय इत्यर्थः, "एकमेवाऽद्वितीयम्" इत्यादिश्रुतेः। बोध-स्वरूपः = स्व-प्रकाशः, द्वितीयाभावे पर-प्रकाश्यत्वाऽसम्भवात्। औपनिषदाः = वेदान्तिनः। आदौ विद्वान् आदि-विद्वान्। आदौ = प्रथमत एव, विद्वान् = चेतनः, स्वाभाविकचैतन्य-सम्पन्न इति तात्पर्यम्। कापिल-मते हि पुरुषः स्वाभाविक-चैतन्य-सम्पन्नः प्रकृतिस्तु चेतनोपरागाल्लब्धचैतन्येति विवेकम्प्रकटयितुं विशेषणम् निर्दिष्टम्। सिद्धः = कूटस्थ-नित्यः। एषा च व्याख्या सकल-पुरुष-साधारणत्वान्नोत्कर्षमर्हतीति "सर्गादावादिविद्वान् अत्र भवान् कपिलो महा-मुनिः धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्य-सम्पन्नः प्रादुर्बभूव इति स्मरन्ति" इति शिष्टोक्तानुसारेण व्याख्यान्तरमाह वृत्ति-कृत्—आदौ = सर्गादौ इत्यादिना। एतदेव वर्धमानोपज्ञं व्याख्यान्तरम्।

[यद्यपि जिस किसी भी पुरुषार्थ को चाहने वाले सभी दार्शनिक-सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में जिस परमात्मा को मानते ही आ रहे हैं—जैसे अद्वैत-वेदान्ती लोग अद्वितीय, ज्ञान-स्वरूप तथा नित्यमुक्तस्वभाव तत्त्व के रूप में, सांख्य-दर्शनवाले आदि-विद्वान् तथा सर्वैश्वर्य-सम्पन्न तत्त्व के रूप में,] 'शुद्धः' अर्थात् द्वितीय से रहित, 'बुद्धः' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप। 'आदौ' अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में, 'विद्वान्' अर्थात् चित्स्वरूप, 'सिद्धः' अर्थात् अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों से सम्पन्न।

क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः निर्माण - कायमधिष्ठाय सम्प्रदाय-प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोक - वेद-

अविद्याऽस्मिता - राग - द्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, कर्म - धर्माऽधर्म-हेतुः याग-हिंसादिः, विपाकाः = जात्यायुर्भोगाः, आशयाः - धर्माऽधर्माः, निर्माणाऽर्थं कायः निर्माण-कायः, सम्प्रदायो वेदः, प्रद्योतक इति प्रकाशकः, वेदस्य नित्यत्वात्, घटादौ कर्त्तव्येऽनुग्राहकः =

अविद्या = अनित्याऽशुचि-दुःखाऽनात्मसु । नित्य-शुचि-सुखाऽऽत्म - ख्यातिरविद्या । अस्मिता = दृग्दृष्टिशक्त्योरेकतेवाऽस्मिता, (बुद्ध्यात्मनोरेकत्वेन ज्ञानम् अस्मिता अहङ्कारो वेति भावः) । सुख-दुःख-तत्साधन-विषयौ राग-द्वेषौ प्रसिद्धौ । अभिनिवेशः = लब्धैश्वर्य-नाश-भयः । विपाकाः = जात्यायुर्भोगाः इति । तथा च सूत्रम् पतञ्जलेः—"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति । जातिः = ब्राह्मण्यादि, आयुः = श्वास-प्रश्वास-परिच्छिन्न-काल-विशेषाऽवधिकः प्राण-शरीर-संयोगः, भोगः = सुख-दुःखादिः । आशयाः = आशेरते फलोत्पाद-पर्यन्तमित्याशयाः, ते च धर्माऽधर्मा एव । अपरामृष्टः = असम्बद्धः । नन्वेवं कर्माद्यभावे तन्निमित्त-शरीराभावात् सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकत्वमनुपपन्नमित्यत आह—निर्माण-कायेति । जगन्निर्माणाद्यर्थम् स्वेच्छा-मात्र-निर्मितानि शरीराणि व्युत्पाद्य-व्युत्पादक-भावेनाधितिष्ठतीति भावः । सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायः, तदाह—'वेदः' इति ।

[क्लेश, कर्म, कर्म-फल-भोग एवम् धर्माऽधर्म से सर्वथा असम्पृक्त, निर्माण-कार्य के लिए शरीरी, वेद के प्रकाशक तथा शिक्षक के रूप में पातञ्जल योग-दर्शनवाले] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। 'कर्म' का अर्थ है धर्माऽधर्म के आपादक यज्ञ-हिंसा आदि । 'विपाकाः' अर्थात् जन्म, आयु तथा भोग । 'आशयाः' अर्थात् धर्म तथा अधर्म । निर्माण के लिए परिगृहीत शरीर 'निर्माण-काय' कहलाता है । 'सम्प्रदायः' अर्थात् वेद, 'प्रद्योतकः' अर्थात् उस वेद का प्रकाशक, क्योंकि वेद नित्य है, अतः ईश्वर उसके उत्पादक नहीं हो सकते । 'अनुग्राहकः' अर्थात् घटादि-निर्माण-कला के शिक्षक ।

विरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञ-पुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः,

शिक्षयिता । शिवो निस्त्रैगुण्यः । पितामहः = जनकस्याऽपि जनकः । इज्यते इति यज्ञः । सर्वज्ञः = क्षणिक-सर्वज्ञः । आवरणम् = अविद्या-राग-द्वेष-मोहाऽभिनिवेशाः । उपास्यत्वेन देशितः = मन्त्रादिः ।

लोक - विरुद्धैः सर्पादि - धारणादिभिः, वेद-विरुद्धैश्च लिङ्ग-पुराणस्थैकोनविंशाध्यायवर्णितैः दारु - वन - द्विज - वधू - विध्वंसनै-रुपलक्षितोऽपि निर्लेपः = पापात्मक-लेप-रहितः । विरुद्धाचरणं हि पापावहम् प्राणिनाम्, न तु नित्य-सर्वज्ञस्येति भावः । स्वतन्त्रः = जग-त्कर्त्ता । निस्त्रैगुण्यः = सत्त्व-रजस्तमोऽतीतः । पुरुषोत्तमः = पुरुषेभ्यः उत्तमः, पुरुषेषु उत्तम पुरुषाणामुत्तम इति वा । उत्तमत्वं च सर्वज्ञत्वम् असंसारित्वम् चेति बोध्यम् । यज्ञ-पुरुषः = यज्ञे प्रधानमिज्यम्, यज्ञा-धिष्ठातृदेवतेत्यर्थः ।

क्षणिकेति—एतदेव न्याय-मत-भेदकम् । अविद्येत्युपलक्षणम् सर्व-विषयक-चैतन्याच्छादकत्वेन शरीरस्य अदृष्टस्य च आवरणत्वात् । एव-म्विधावरण-शून्य इत्यर्थः । उपास्यत्वेन देशितः इत्यस्य वेदे इति शेपः । तात्पर्यार्थमाह वृत्ति-कृत—मन्त्रादिरिति । मीमांसक-मते हि मन्त्रादि-भिन्नस्य देवस्येन्द्रादेः न सत्त्वम् । अत एव इन्द्रोऽपि 'इन्द्राय स्वाहे'ति मन्त्रेण हविः समर्पयति । अन्यथा हि स्वमुद्दिश्य

[महा-पाशुपत लोग लोक-विरुद्ध तथा वेद-विरुद्ध तत्त्वों से उपलक्षित, परन्तु पाप से सर्वथा असम्पृक्त तथा जगत् के कर्त्ता के रूप में, शैव-सम्प्रदायवाले शिव के रूप में, वैष्णव-सम्प्रदायवाले पुरुषोत्तम के रूप में, पौराणिक लाग पितामह के रूप में, याज्ञिक-सम्प्रदाय वाले यज्ञपुरुष के रूप में]

'शिवः' अर्थात् त्रिगुणातीत । 'पितामहः' अर्थात् पिता के भी पिता । जिसके निमित्त यज्ञ किया जाता है वही यहाँ यज्ञ-शब्द से अभिप्रेत है ।

[बौद्ध लोग क्षणिक सर्वज्ञ के रूप में, जैन-सम्प्रदायवाले आवरण, अर्थात् क्लेश, से रहित तत्त्व के रूप में, मीमांसक लोग उपासनीय मन्त्र आदि के

लोक - व्यवहार - सिद्धः इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किम्बहुना ? यं कारवोऽपि विश्व - कर्मेत्यु-पासते, तस्मिन्नेवं जाति - गोत्र - प्रवर - चरण-कुल-धर्मादिवदासंसारं सुप्रसिद्धाऽनुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः ? इति किं निरूपणीयम् ! तथापि—

यावदुक्तेषु यदुपपन्नं तेनोपपन्नः। चरणं शाखा।

स्व - कर्तृक - यागस्यासम्भवः, इन्द्रान्तर - स्वीकारेऽनवस्था चेति बोध्यम् । लोक-व्यवहार-सिद्धः = राजादिः प्रत्यक्षः, चतुर्भुजत्वा-द्युपेता प्रतिमैव वा, चार्वाकाणां हि कृते प्रत्यक्षातिरिक्तस्य प्रमाण-स्याभावात्। यावदुक्तेषु सर्वज्ञत्वादिधर्मेषु यत् उपपन्नम् = युक्तिसिद्धम् तेन उपपन्नः = युक्तः। कारवः = शिल्पिनः। गोत्रम् = वत्सादि लोके प्रसिद्धम्। प्रवराः = यथा शाण्डिल्य-गोत्रीयाणाम् शाण्डिल्यासित-देवलाः त्रयः प्रवराः। कुल-प्रवरत्वात् प्रवराः। शाखा = कठ-काला-पादिः। भवे = भवति अस्मात् जगत् इति भवः परमात्मा, तस्मिन्। विषयत्वं सप्तम्यर्थः। किं निरूपणीयमिति—सन्देहाभावेन साध्य-संश-यात्मक-पक्षतायाः अनुमित्यङ्गभूतायाः विघटनादनुमित्यप्रवृत्तेः इति भावः। समाधत्ते—तथापीति।

रूप में, चार्वाक लोग लोक-व्यवहार-प्रसिद्ध राजा आदि के रूप में] 'सर्वज्ञः' अर्थात् क्षणिक सर्वज्ञ। 'आवरणम्' अर्थात् अविद्या, राग, द्वेष, मोह तथा अभिनिवेश। 'उपास्यत्वेन देशितः' अर्थात् मन्त्रादि।

[नैयायिक-सम्प्रदाय उपर्युक्त ईश्वर-धर्मों में प्रामाणिक जगत्कर्तृत्वादि-धर्म से सम्पन्न सर्वज्ञ तत्त्व के रूप में, यहां तक कि शिल्पी-लोग भी विश्वकर्मा के रूप में जिसकी उपासना करते हैं—उस ब्राह्मणत्वादि जाति, शाण्डिल्यादि गोत्र, और्व-च्यवनादि प्रवर, कठ आदि शाखा, कुल तथा धर्म आदि की तरह समस्त संसार में सुप्रसिद्ध प्रभाववाले भगवान् सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर में किसीका सन्देह कहाँ ?]

जितने रूप बतलाये गये हैं, उन रूपों में जो प्रामाणिक हैं, उनसे सम्पन्न—यही 'यावदुक्तोपपन्नः' का अर्थ है। 'चरणम्' का अर्थ है वेद की कठ आदि शाखाएं। [फिर किस तत्त्व का अनुमान किया जाय ? क्योंकि साध्य-परमेश्वर-विषयक सन्देह के अभाव होने से पक्षता के अभाव हो जाने पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है, तथापि—

न्याय-चर्चेयमीशस्य मनन-व्यपदेश भाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।। ३ ।।

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुति-स्मृतीतिहास-पुराणादिषु इदानीं मन्तव्यो भवति "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रुतेः ।

आगमेनाऽनुमानेन ध्यानाऽभ्यास-रसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।

इति स्मृतेश्च ।। ३ ।।

न्याय-चर्चेति—तथा च न्याय-चर्चेयमुपासनाऽपर-पर्यायात्मकं मननमेवेति नानुपपत्तिरिति भावः। मननस्य सिद्धे अपि वस्तुनि प्रवृत्ति-सम्भवात् सिद्धेऽपि परमेश्वरे न्याय-प्रवृत्तिः नानुचितेति सारम् । यद्वा—न्याय-दर्शन-सम्मते ईश्वर-धर्मे वादिनाम्विप्रतिपत्तेः संशयोऽप्यस्त्येवेति संशय-कारणकोऽपि अनुमिति-प्रयोगः नानुपपन्नः। श्रवणानन्तरेति—एतदेव विवृणोति—श्रुतो हीत्यादिना। मननस्योपयोगं दर्शयति—इदानीमित्यादिना । तस्य च विपरीत-भावना-निवृत्तिः फलमिति कृत्वा श्रुते परमेश्वरे तदावश्यकमिति तात्पर्यम् । प्रज्ञा = साक्षात्कारः, योगः = योग-फलम् निःश्रेयसम् । अत एवोत्तमत्वमस्येति भावः। तत्र श्रवणस्य असम्भावना-निवृत्तिः फलम्, मनन-निदिध्यासनयोस्तु क्रमेण विपरीत-भावना-पारोक्ष्य-निवृत्ती फले इति वेदितव्यम् ।

परमेश्वर-विषयक न्याय-चर्चा के द्वारा हम उनकी उपासना के रूप में अपेक्षित मनन ही कर रहे हैं ।। ३ ।। हमने अपने परमेश्वर के विषय में श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों में बहुत कुछ सुना, अब उनका मनन करना चाहिए, क्योंकि श्रुति का कथन है—"इस परमात्मा का क्रमशः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए", और स्मृति का भी यही कथन है—"तीन प्रकार से—वेद से श्रवण, अनुमान के द्वारा मनन तथा ध्यान एवं अभ्यास के द्वारा निदिध्यासन से—जब साधक को प्रज्ञा की प्राप्ति होती है तभी वह उत्तम योग-फल, अर्थात् मोक्ष, का अधिगम कर सकता है" ।। ३ ।।]

शाब्द-सिद्धावपि अनुमित्सयाऽनुमितेः संशयाऽसत्त्वं न दोषाय ॥ ३ ॥

'तुष्यतु' इति न्यायेन संशयमप्याह—

तदिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः—

(१) अलौकिकस्य पर-लोक-साधनस्याभावात्,

वृत्तौ—शाब्देत्यादि । सिद्धे हि वस्तुनि नानुमान-प्रवृत्तिरिति सामान्या स्थितिः। परन्तु यदि सिद्धमपि वस्तु अनुमातुमिच्छा अनुमातरि तर्हि तत्रापि अनुमान-प्रवृत्तिः भवत्येवेति भावः। तथा चोक्तम् मिश्रैः—"प्रत्यक्ष-परिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क-रसिकाः"। वस्तुत इयमुक्तिर्वृत्तिकृतः चिन्त्या, मननात्मक-न्याय-प्रयोगे अनुमित्सायाः संशयस्य च अनङ्गत्वात् ॥ ३ ॥

ये तु सर्वत्रैवानुमितौ संशयस्याङ्गत्वमिच्छन्ति तान् प्रत्याह–तुष्यत्विति। संक्षेपत इति अवान्तर-विप्रतिपत्त्यविवक्षया। पर-लोक-साधनत्वेन अभिमतस्य अदृष्टस्यापि कादाचित्कत्वेन कार्यत्वानुमानात् तस्यापि (अदृष्टस्य) कारणं वाच्यम्, तच्च कारणं ज्योतिष्टोमादिरिति अल्पज्ञैरस्मदादिभिः दुर्ज्ञेयम्, अज्ञातेन च कारणेन व्यवहारः न शक्यते कर्त्तुम्। अतः वेदाज्ज्योतिष्टोमादेः अदृष्टकारणत्वावगतिः कार्या। न च वाक्यात्मकस्यानित्यस्य वेदस्य वक्तृ-प्रामाण्यमन्तरा प्रामाण्य-निर्वाहः इति वेद-वक्तृत्वेन ईश्वरस्य परिशेषानुमानात् सिद्धिः। अत एव अदृष्टस्य फलोत्पादकतापि घटते। अन्यथा अचेतनस्य अदृष्टस्य स्वतः प्रवृत्त्यभावात् पर-लोकादि-साधकत्वानुपपत्तेः इति नैयायिकाः वदन्ति। तत्र अदृष्टमेव न, कुतः तदाश्रितानुमानेनेश्वर-सिद्धिरिति चार्वाकाणामाशयः। तदाह—अलौकिकस्येति।

शब्द-प्रमाण से ईश्वर के सिद्ध होने पर भी अनुमित्सा, अर्थात् अनुमान करने की इच्छा, होने पर अनुमिति हो जाती है। इसलिए संशय को अनुमिति का अङ्ग नहीं माना जाता। एवञ्च ईश्वर-विषयक संशय का अभाव ईश्वराऽनुमान में विघटक नहीं हो सकता है ॥ ३ ॥

'तुष्यतु दुर्जनः पूर्वम् परस्तात् सज्जनः' इस लौकिक न्याय के आधार पर संशय भी बतला रहे हैं:—'तदिह' इत्यादि शब्दों से।

[यहाँ, संक्षेप में, पांच प्रकार की विप्रतिपत्तियां हैं:—

(१) पर-लोक का साधक अदृष्ट नाम का कोई भी अलौकिक पदार्थ नहीं है;

(२) अन्यथाऽपि परलोक-साधनानुष्ठान-सम्भवात्,
(३) तदभावाऽऽवेदक-प्रमाण-सद्भावात्,
(४) सत्त्वेऽपि तस्याऽप्रमाणत्वात्,
(५) तत्साधक-प्रमाणाऽभावाच्च ।

मीमांसक-विप्रतिपत्तिमाह्--अन्यथाऽपीति । अस्तु परलोकः, अस्तु च तत्साधनमदृष्टम्, अस्तु च अदृष्ट-कारणस्य ज्योतिष्टोमादेः वेदादवगमः, तथाऽपि न परमेश्वरस्यावश्यकता, वेदस्य नित्यत्वात् स्वतः प्रमाणत्वात् । तथा च स्वतः प्रमाणमेव वेदमवलम्ब्य अदृष्टकारणावगतिः सम्भवतीति न वेद-कर्त्तृत्वेन परमेश्वरसिद्धिः उचिता। अस्तु वा वेदस्य यथाकथञ्चित् पौरुषेयत्वम्, तावताऽपि न निर्वाहः, आदि-विदुषः कपिलादेरेव तन्मूलत्वोपवर्णने लाघवात् इति हि मीमांसकाशयः ।

सौगतानाम्विप्रतिपत्तिमाह्—तदभावेति। अथ मा भूत् अदृष्टाश्रिता ईश्वर-सिद्धिः, क्षित्यादि-कर्त्तृत्वेन परिशेषादीश्वर-सिद्धिस्तु निरावाधेति नैयायिकाभ्युपगमं निराकरिष्णुः बौद्धः अनुपलब्धि-सहकारेण चक्षुरादित एव ईश्वराभावस्य लौकिक-प्रत्यक्ष-गोचरतया क्षित्यादिकार्यत्व-प्रयुक्तानुमानं वाधितमित्याह ।

सर्वज्ञः ईश्वरः प्रमाणत्वेन नैयायिकानामभिमतः, तत्र ईश्वरस्य ज्ञानं न प्रमाणम्, अनधिगतार्थ-गन्तृ हि प्रमाणम् इति प्रमाणज्ञाः संगिरन्ते। ईश्वरस्य च यदि सर्वज्ञत्वमभ्युपेयते तर्हि तज्ज्ञानस्य सकल-विषयकत्वाभ्युपगमे ईश्वरस्य अधिगतार्थ-गन्तृत्वेनाऽप्रामाण्यम् । नित्य-सर्वज्ञः अनधिगतार्थगन्ता चेति तु व्याहतमिति जैन-विप्रतिपत्तिमाह्--सत्त्वेऽपि इति ।

ईश्वर-साधकं प्रमाणमेव न, तत्साधकत्वेनोपन्यस्तं श्रुत्यादि तु अन्यार्थपरमिति कापिलमत-विप्रतिपत्तिमाह्—तत्साधकेति ।

(२) ईश्वर के माने बिना ही अदृष्ट की प्रवृत्ति तथा अदृष्ट द्वारा पर-लोक को सिद्ध करने वाले यज्ञादि का अनुष्ठान उपपन्न है,

(३) ईश्वर की असत्ता को सिद्ध करनेवाला प्रमाण उपलब्ध है, इसलिए ईश्वर नहीं हैं;

(४) ईश्वर के रहने पर भी वह प्रमाण नहीं हो सकता; और
(५) ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण ही नहीं है।]

धर्माऽधर्मात्मकाऽलौकिक-पर-लोक-साधने विप्रतिपन्नं प्रति तत्साधनम्, सिद्धे च तस्मिन् तदधिष्ठातृतया ईश्वर-सिद्धिः, अचेतनस्य कारणस्य सचेतनाधिष्ठानेनैव कार्यजनकत्वात्। तत्साधनायाह—

सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद्विश्व-वृत्तितः।
प्रत्यात्म-नियमात् भुक्तेः अस्ति हेतुरलौकिकः ॥ ४ ॥

अलौकिकः - अतीन्द्रियः, पर-लोक-हेतुरस्तीति प्रतिज्ञा। तत्र प्रथमतः कारण-सामान्य-साधनाय आह—सापेक्षत्वादिति। सापेक्षत्वं कादाचित्कत्वात्। तथा च कार्यं सहेतुकम् कार्यत्वात्, भोजन-जन्य-तृप्तिवत्।

कादाचित्कत्वम् च काल-विशेष-नियतत्वम्, किञ्चिदेव कार्यं कदाचिदेव भवति, न सर्वमेव कार्यं सर्वदैव भवति इति कादाचित्कत्वेन पदार्थस्य सापेक्षत्वम्(=सहेतुकत्वम्)अनुमेयम्। अनुमान-प्रामाण्यं च व्यवहार-निर्वाहायाऽपि स्वीकार्यमेवेत्यन्यत्र विस्तरः।

धर्म तथा अधर्म के रूप में उपस्थित अदृष्ट में जिसकी विप्रतिपत्ति है, उसके समक्ष अदृष्ट की सिद्धि करनी होगी; अदृष्ट के साधित हो जाने पर उस अदृष्ट के प्रेरक के रूप में ईश्वर की सिद्धि कर्त्तव्य है; क्योंकि अचेतन कारण किसी अन्य चेतन की प्रेरणा से ही कार्य को उत्पन्न करते देखे जाते हैं। इस दृष्टि से पहले अदृष्ट की सिद्धि की भूमिका के रूप में 'सापेक्षत्वात्' आदि कारिका लिख रहे हैं:—

[कार्य में नियत-देश-काल-जन्यत्व होने के हेतु कारण-साक्षेप होने से; कार्य-कारण-भाव की परम्परा के, वीजाङ्कुर-परम्परा की तरह, अनादि होने से; कार्य में वैचित्र्य देखे जाने से; स्वर्गादि-साधक यज्ञादि में सबों की प्रवृत्ति होने से तथा प्रत्येक जीव में सुख तथा दुःख की अनुभूति में व्यवस्था होने से यह सिद्ध है कि अलौकिक अदृष्ट है ॥ ४ ॥]

'अलौकिक' अर्थात् अतीन्द्रिय, परलोक-साधक अदृष्ट है', यही प्रतिज्ञा-वाक्य है। इसकी उपपत्ति के प्रसङ्ग में, सबसे पहले सामान्य-रूप में कार्य-कारण-भाव की सिद्धि के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं:—'सापेक्षत्वात्'। कार्य की उत्पत्ति किसी निश्चित देश तथा निश्चित काल में ही होती है, अतः उसका कारण-सापेक्षत्व सिद्ध है। अन्यथा उसकी उत्पत्ति में देश-काल की व्यवस्था नहीं होती। अतः यह अनुमान सिद्ध हुआ कि कार्य सहेतुक है, कादाचित्क होने के कारण, भोजन से होनेवाली तृप्ति के समान।

ननु घटादि-हेतोः सदातनत्वे घटादेरपि सदातनत्वापत्तिः, तथा च तस्य कादाचित्कत्वं वाच्यम्, एवं तत्कारण-परम्पराऽपि कादाचित्की सहेतुका वाच्या इत्यनवस्थायाम् उक्तम्—अनादित्वात् इति। बीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषायेत्यर्थः।

ननु ब्रह्मैव कारणमस्तु, किं वा नाना-बुद्ध्यात्मिका प्रकृतिरेव तथा अस्तु, इत्यत्राह—वैचित्र्यात् इति। कार्यं विचित्र-कारण-

घटादि-हेतोरित्यत्र षष्ठी-तत्पुरुषः न तु कर्मधारयः। सदातनत्वे इत्यत्र निरपेक्षत्वेन इति पूरणीयम्। तथा च = घटादेः सदातनत्वापत्ति-वारणाय, तस्य = घटादि-हेतोरपि, कादाचित्कत्वम् = कादाचित्कत्वेन सापेक्षत्वम्। कादाचित्की सहेतुकेत्यत्र कादाचित्कीति हेतु-गर्भं विशेषणम्। तथा च यतः कादाचित्कत्वं ततः सहेतुकत्वमित्यर्थः। अनादित्वादित्यनन्तरम् कार्य-कारण-प्रवाहस्येति शेषः। एतच्चाभ्युपेत्य-वादेन, स्व-मते परमाण्वादेः नित्यत्वाभ्युपगमात्। कुम्भकारादि-निमित्तकारणापेक्षा वोक्तिः। न दोषायेति—यथा बीजाङ्कुरादौ अनवस्थायां सत्यामपि न कार्यानुपपत्तिः तथा प्रकृतेऽपीति भावः।

चार्वाकः वेदान्ति-सम्मतं सांख्य-सम्मतं च कारणमुपस्कुर्वाणः प्रत्यवतिष्ठते—ब्रह्मैवेत्यादि। ब्रह्मैव प्रकृत्यभिन्ना बुद्धिरेव वा जगत्कारणमस्तु, किमीश्वरेण ब्रह्माद्यतिरिक्तेन अदृष्ट-प्रेरकेणेति तस्याशयः। विचित्र-कार्यत्वादिति—कार्य-वैचित्र्यं हि कारण-वैचित्र्यमन्तराऽनुपपद्यमानम् एक-कारण-वादं सजातीय-कारण-वादं च वेदा-

अब प्रश्न है कि यदि घटादि कार्यों के हेतु में नित्यता है, तब तो उसके कार्य में भी नित्यता आ जायगी। अतः यही कहना होगा कि घटादि कार्य की तरह उसके हेतु में भी कादाचित्कत्व ही है। इस प्रक्रिया से घटादि के हेतु का भी हेतु उसका भी हेतु मानने से अनवस्था हो जाती है, जिससे कार्य-कारण-भाव में ही उपपत्ति नहीं होती। इसी प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं:— 'अनादित्वात्'। इसका तात्पर्य यह है कि बीज तथा अङ्कुर की अनवस्था जिस प्रकार कार्य-सिद्धि में बाधक नहीं होती है उसी प्रकार कार्य-कारण की अनादि परम्परा भी कार्य-कारण-भाव का विघटक नहीं होती है।

अब प्रश्न है कि एक ही अद्वैत ब्रह्म-तत्त्व, माया से उपलक्षित होने के कारण, इस दृश्यमान जगत् का कारण है, अथवा नाना बुद्धियों (महत्-तत्त्वों) के रूप में प्रथमतः परिणत होनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही इस जगत् का कारण मान लिया जाय। फिर अदृष्ट या अदृष्ट-जनक-यागादि-प्रतिपादक-

वत् विचित्र-कार्यत्वात् ।

ननु दृष्टं यागाद्येव कारणमस्तु किम् अदृष्टेन इत्यत आह—विश्व-वृत्तितः इति ।

विश्वेषां पर-लोकार्थिनाम् वृत्तितः = यागादौ प्रवृत्तितः । स्वर्गादि-फलकत्व-ज्ञानमेव यागादि-प्रवृत्ति-जनकम्, यागादेः च तज्जनकत्वम्

न्तिनः सांख्यस्य च सम्मतं तिरस्कुरुते इत्यर्थः । तदेवं कार्य-कारण-भावे सिद्धे जगद्वैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्या अनुमानादि- प्रमाण-सिद्धस्य पर-लोकस्य च साधनत्वेनादृष्टं सिद्ध्यति तन्मूलकतया चेश्वर-सिद्धिरित्यत्र पुनः चार्वाकः दृष्टं दण्डाद्येव जगद्वैचित्र्याधायकत्वेन यागादि-दृष्ट-पदार्थमेव च पर-लोक-साधनत्वेन मन्यमानः अदृष्टं च निराकुर्वन् प्रत्यवतिष्ठते—ननु दृष्टमिति । यद्यपि अदृष्टाऽस्वीकारेऽपि यागादिषु परलोक-साधनत्वं प्रतिपादयतः वेदस्य कर्त्तृत्वेन ईश्वर-सिद्धिः निराबाधा, तथाऽपि वेद-नित्यत्व-वादि-मीमांसक-मताऽनु-प्रवेशेन चार्वाकस्य पूर्व-पक्षोऽयमिति बोध्यम् ।

विश्व-वृत्तित इत्यनेन भ्रमाभावो बोधितः, सर्वेषां भ्रान्तत्वा-ऽसम्भवात् । व्यापारं विनेति—स्वतः स्व-व्यापार-द्वारा वा कार्या-व्यवहित-प्राक्-क्षणाऽवच्छेदेन वर्त्तमानं हि कारणम् । चिरध्वस्तस्य च यागादेः स्वतः स्वर्ग-प्राप्त्यव्यवहित-प्राक्-क्षणावच्छेदेन वर्त्तमान-त्वमनुपपन्नमिति स्व-व्यापारद्वारैव तत्र (यागादौ) कारणत्वमुपपा-दनीयम् इति व्यापाररूपेण अदृष्ट-सिद्धिः । एतच्च "चिर-ध्वस्तं फला-

वेदवाक्य तथा उसके प्रामाणिक वक्ता ईश्वर की क्या आवश्यकता है। इसीके उत्तर में कह रहे हैं:—'वैचित्र्यात्' । कार्य में वैचित्र्य के स्पष्ट होने से उसे विचित्र कारण से ही जन्य मानना पड़ेगा ।

पुनः प्रश्न है कि प्रत्यक्ष-गोचर यागादि पदार्थों को हीं स्वर्गादि फलों का कारण मान लेने पर अदृष्ट की कल्पना अनावश्यक है। इसके उत्तर में कहा जाता है:—'विश्व-वृत्तितः' । इसका अर्थ है:—

सभी परलोक-प्राप्ति में साभिलाष व्यक्तियों की, 'वृत्तितः' अर्थात् यागादि में प्रवृत्ति होने से। विहित यज्ञादि क्रिया के अनुष्ठान से स्वर्ग आदि फल मिलते हैं, यही इष्टसाधनता-ज्ञान यागादि में लोगों की प्रवृत्ति कराता है। परन्तु यागादि चिर-काल के बाद होनेवाले स्वर्गादि फल का स्वरूपतः कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यागादि का स्वर्ग-प्राप्ति से बहुत

तत्कालावस्थायि-व्यापारं विना न सम्भवतीति अदृष्ट-सिद्धिः ।

नन्वदृष्टं न भोग-समानाधिकरणम्, किन्तु भोग्यादिनिष्ठत्वेनैव भोग - जनकम् इत्यत्राह—प्रत्यात्म - नियमादिति । भुक्तेः = भोगस्य, प्रति - नियतात्म - वृत्तित्वात् । व्यधिकरणादृष्टस्य भोग - जनकत्वेऽति-प्रसङ्गात् ॥ ४ ॥

यालम्" इत्यादि-कारिका-व्याख्याने उपपादयिष्यते । सत्यपि दण्डादि-दृष्ट-कारणाऽभेदे घटादौ परस्परं भेद-प्रतिपत्त्याऽपि तद्भेद-प्रयोजकत्वेनादृष्ट-सिद्धिरित्यपि वोध्यम् ।

भोग आत्म-निष्ठः इति भोजकमदृष्टमपि आत्म - निष्ठ-मित्येव युक्तमिति नैयायिक-मतम् विनिगमकाभावेन प्रतिक्षिपति चार्वाकः—नन्विति । अतिप्रसङ्गादिति—अन्य - कृत - कर्म - जन्यस्य अदृष्टस्य अन्यत्र फलोत्पादकत्वापत्तेरव्यवस्था स्यादिति भावः । तथा च पारमर्षं सूत्रम्—"आत्मान्तर-गुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्" इति । एतदेव च अदृष्टस्य भोग-सामानाधिकरण्ये विनिगमकमिति भावः । तथा चादृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वर-सिद्धिर्निरावाधेति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

पहले ही नाश हो गया रहता है। इसलिए यागादि के व्यापार के रूप में अदृष्ट की सिद्धि हो जाती है।

पुनः प्रश्न है कि वह अदृष्ट भोग के आश्रय आत्मा में नहीं अपि तु भोग्य पदार्थ में ही रहता है और भोक्ता के द्वारा प्रेरित होकर फल का उत्पादन करता है। अतः उसके प्रेरक के रूप में ईश्वर का स्वीकार अनावश्यक है । इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कह रहे हैं:—'प्रत्यात्म-नियमात् भुक्तेः' अर्थात् भोग के व्यवस्थित रूप में ही आत्मा में उत्पन्न होने से । तात्पर्य यह है कि सभी आत्माओं का भोग सर्वदा एक सा यतः नहीं होता अतः भोग्य पदार्थ में अदृष्ट को सत्ता नहीं हो सकती है, अपि तु भोक्ता आत्मा में ही । अन्यथा (यदि भोग्य में हीं अदृष्ट की सत्ता मान ली जाय तब) तो एक पदार्थ का भोग सभी जीवों को समान रूप में होने लगेगा । इसलिए आत्मा में ही अदृष्ट की सत्ता माननी चाहिए, भोग्य पदार्थ में नहीं ॥ ४ ॥

अ-कस्मादेव भवति, न किञ्चिदपेक्षं कार्यम् इति। अत एव "अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टक-तैक्ष्ण्यादिवत्" इति पूर्व-पक्ष- सूत्रम्। तत्राह—

हेतु-भूति-निषेधो न स्वाऽनुपाख्य-विधिर्न च।
स्व-भाव-वर्णना नैवम् अवधेर्नियतत्त्वतः ॥ ५ ॥

अकस्मादिति किं हेतु - निषेध - परम्, भवन - निषेध - परं वा? स्वातिरिक्त-हेतु-निषेध-परम्, पारमार्थिक-हेतु-निषेध-परं वा? अत्रोभयत्र

पूर्व - कारिकोक्तं सापेक्षत्वादिति हेतुं विस्तरेण विवरीतु-काम उपात्ताम् प्रकृत-कारिकाम् पूर्व-पक्षोपन्यासेन अवतारयति— अ-कस्मादिति। अ-कस्मादित्यत्र यदि 'अ' इति स्वतन्त्रः शब्दः, अ मा नो नेत्यादि-प्रामाण्यात्तर्हि 'अ' इत्यस्य यथेच्छम् कस्मा-दित्यनेन भवतिना वा सम्बन्धः स्यात्। कस्मादित्यत्र हेतुपञ्चम्या किमः हेत्वर्थकत्वमुपपद्यते। तथा च निषेधार्थकस्य 'अ'इत्यस्य कस्मादित्यनेन सम्बन्धे अभिमते सति (१) हेत्वभावे सति भवनं लभ्यते। यदि तु भवति-क्रियथैव सम्बन्धः अभिमतः, तर्हि (२) हेतोः भवनाऽभावः सिद्ध्यति। अथ—अ इति नञः पर्युदासस्य "नलोपो नञः" इति लुप्तादि-व्यञ्जनस्य रूपम्, तर्हि अकस्मादित्यस्य अहेतोरित्यर्थः पर्यवस्यति (भवन-क्रियायां च नास्य समस्तस्य नञः अन्वयः, पदार्थैकदेशत्वात्)। अहेतोरित्यनेन च द्वयी प्रतिपत्तिः—(३) हेतुभिन्नात् स्वरूपादेव भवति, अथवा (४) हेतुभिन्नात् अली-

यहाँ चार्वाक, जो कार्य-कारण-भाव को नहीं मानता, कह रहा है कि अ-कस्मात् ही कार्य होता है, वह कार्य अपनी उत्पत्ति में किसी को अपेक्षा नहीं रखता। इसीलिए न्याय-दर्शन में भी पूर्व-पक्षोपस्थापक सूत्र है:—"पदार्थ की उत्पत्ति किसी निमित्त के बिना ही होती है, कांटों में नोक की तरह"। इसके उत्तर में कारिकाकार का कथन है:—

[हेतु अथवा भवन (उत्पत्ति) का तो निषेध होगा नहीं, स्व से स्व की उत्पत्ति अथवा किसी अलीक पदार्थ से कार्य की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती, और स्वभाव से भी कार्य को उत्पत्ति नहीं मानो जा सकतो, क्योंकि कार्यों की अवधि नियत होती है ॥ ५ ॥]

चार्वाक का 'अकस्मात्' शब्द हेतु का निषेधक है अथवा उत्पत्ति का? स्व से भिन्न हेतु का निषेधक है या किसी वास्तविक हेतु का?

अहेतुकत्वम्[1] अलीक-हेतुकत्वं च पर्यवस्यति । स्वभावादित्यर्थपरं वा। स्वम् = कार्यम् । अनुपाख्यम् = अलीकम्। अवधेर्नियत्वतः = नियतावधिककार्य-दर्शनात्, अनियतावधिकत्वे च कादाचित्कत्व-व्याकोप इति भावः ॥ ५ ॥

कात् एव भवतीति । अथ अकस्मादिति पदम् अश्व-कर्णादिवत् अव्युत्पन्नमेवेति मन्यते चार्वाकैः चेत्, तर्हि तस्य स्वभाव एवार्थः स्यात्। तथा च (५) स्वभावादेव भवतीत्यर्थः स्यात्। सर्वथाऽपि नोपपद्यते अकस्माद्भवतीति,। तथा हि सति कार्यस्य कादाचित्कत्व-व्याघातः । एतमेवार्थं मनसि निधाय वृत्ति-कृत् व्याचष्टे--**अकस्मादिति किम् हेतुनिषेधे**त्यादिना । तत्र हेतु-निषेधात्मके प्रथमे कल्पे भवनस्यानपेक्षत्वेन सर्वदा भवनं स्यात् इति कादाचित्कत्व-व्याघातः । द्वितीये सर्वदैवाभवनं स्यात्, उत्पत्त्यभावस्य पूर्वापर - कालयोरविशेषात् इति कादाचित्कत्व-व्याघातः । उत्पत्तेः पूर्वम् असतः कार्यस्य स्व-हेतुत्वे सर्वदैव कार्य-सत्त्व-प्रसक्त्या कादाचित्कत्व-व्याघातः इति स्वस्मात् भवतीति तृतीयोऽपि कल्पः पराहतः । स्वस्मिन् स्वस्य कारणत्वे कार्यकारणयोः पौर्वापर्य्य-व्याघातश्च । चतुर्थे तु कल्पे कारणस्यानुपाख्यस्योत्पत्तेः प्रागपि अविशेषात् सर्वदा कार्योपलब्धि-प्रसङ्ग इति कादाचित्कत्व-व्याघातः। पञ्चमे कादाचित्कत्व - व्याघातस्तु स्पष्ट एवेत्याद्यभिप्रेत्योक्तम्—**अवधेर्नियतत्वतः** इति । तदेवं कार्य-कारण-भावे सिद्धे जगद्वैचित्र्य-प्रयोजकत्वेन स्वर्गादि-प्रयोजकत्वेन च अदृष्टस्य तत्प्रयोजकत्वेन चेश्वरस्य सिद्धिरिति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

अन्तिम दोनों विकल्पों के अनुसार कार्य में क्रमशः अहेतुकत्व तथा अलीक-हेतुकत्व सिद्ध होता है। अथवा 'अकस्मात्' का अर्थ 'स्वभावात्' है? 'स्वम्' का अर्थ है कार्य, 'अनुपाख्यम्' का अर्थ है अलीक। 'अवधेर्नियतत्वतः' अर्थात् प्रत्येक कार्य में देश-काल की व्यवस्था देखी जाती है, यदि तु कार्य में उक्त व्यवस्था न मानी जाय तब तो कार्य में कादाचित्कत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

---

१ अन्त्येऽलीक-हेतुकत्वमित्यपपाठः ।

न नु अनादिश्चेत् कार्य - कारण - प्रवाहः कादाचित्कत्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्यः तदा वह्नित्वाऽवच्छिन्नस्य तृणादि-व्यभिचारितया तृणाद्यकारणत्वे कादाचित्कत्व-स्वभाव-व्याकोपः, कारणान्तरस्य च

अनादित्वादिति हेतुं व्याख्यातु-कामः निराकरणीयामाशङ्कामाह––नन्विति। कल्प्य इति––तथा च कादाचित्कत्वमेव कार्य-कारण-भावानुमापकमिति यत्र यत्र कादाचित्कत्वम् तत्र तत्र कारण-सापेक्षत्वम् इति व्याप्तिः प्रतिफलति। न चैषा व्याप्तिः सुग्रहा, तदेवोपपादयति––वह्नित्वावच्छिन्नेति। अयमाशयः––कदाचिद्धि वह्निः अरणि-मन्थनेन कदाचिच्च मणेः कदाचिच्च तृणात् उत्पद्यते इति तृणा-रणि-मणीनामग्नि-कारणत्वं वाच्यम्। न चैतत् सम्पद्यते, कारणतायाः अन्वय-व्यतिरेकावधारणीयत्वात्। प्रकृते च अरणि-सत्त्वे (वह्नित्वा-वच्छिन्न-) वह्निः, मणि-सत्त्वे (वह्नित्वावच्छिन्न-) वह्निः, तृण-सत्त्वे (वह्नित्वावच्छिन्न-) वह्निरित्येवमन्वय-ग्रहस्य सुकरत्वेपि अरण्यभावे वह्न्यभावः, मण्यभावे वह्न्यभावः, तृणाऽभावे वह्न्यभाव इति व्यतिरेकस्य ग्रहणं न सम्भवति, अरण्यभावेऽपि मणि-तृण-जन्य-वह्नेः, मण्यभावेऽपि अरणि-तृण-जन्य-वह्नेः, तृणाऽभावेऽपि अरणि-मणि-जन्य-वह्नेः सत्त्वादिति वह्नित्वावच्छिन्नेन समम् तृणादेः कारणत्व-ग्रहो नोपपद्यते। कादाचित्कत्वं च वह्नेः प्रत्यक्ष-सिद्धमिति वह्नि-गतं कादाचित्कत्वम् कारण-सापेक्षत्वं न व्याप्नोति इति कथं कादा-चित्कत्व-कारण-सापेक्षत्वयोर्व्याप्ति-ग्रहः, कथञ्च तन्मूलं कार्य-कारण-भावानुमानम्? तदेतत्सर्दं हृदि निधायाह वृत्तिकृत्—"वह्नित्वा-वच्छिन्नस्य..............कादाचित्कत्व-स्वभाव-व्याकोपः" इति। कादा-चित्कत्वस्य स्वभावः नैयायिकाद्यभिप्रेतः कारण-सापेक्षत्व-व्याप्यत्वम्, तस्य व्याकोपः वह्नि-विषये इत्यर्थः।

यदि कार्य-कारण-प्रवाह को अनादि माने बिना कार्य में कादाचित्कत्व की उपपत्ति नहीं होने के कारण कार्य-कारण-प्रवाह को अनादि माना जाय तब तो तृण या काष्ठ-विशेष या मणि में से अन्यतम के अभाव में भी किसी एक कारण (जैसे मणि) से भी वह्नि की उत्पत्ति देखे जाने के कारण तृण, अरणि तथा मणि में से प्रत्येक के साथ वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का व्यतिरेक-व्यभिचार होने से कार्य-कारण-भाव की व्यवस्था के बिना भी वह्नि में प्रतीय-मान कादाचित्कत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि नैयायिकों की दृष्टि से तो

वक्तुमशक्यत्वात् ?

तत्र वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्वेन कारणता, शक्तिश्च पदार्थान्तरम्,

अथवा कादाचित्कत्वस्य कारण-सापेक्षत्वेन सहचार-दर्शने सत्यपि व्यभिचाराऽदर्शनाभावः, अन्वय-व्यतिरेकाभावतया वह्नेः तृणादि-कारणकत्वेऽसिद्धे यत्र यत्र कारण-सापेक्षत्वाऽभावः तत्र तत्र कादाचित्कत्वाभावः इत्यस्यासम्भवात्, वह्नेः कारण-सापेक्षत्वाभावेऽपि प्रत्यक्ष-सिद्ध-कादाचित्कत्वादिति भावः।

ननु मा भूताम् तृणादिषु वह्नेरन्वय-व्यतिरेकौ, अन्येनैव कारणेन अन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वमस्येति न कादाचित्कत्व-स्वभाव-व्याकोप इत्यत आह—कारणान्तरेत्यादि। अशक्यत्वात् इति—एतच्च असामर्थ्यादुपपद्यते।

वह्नौ कादाचित्कत्वस्य स्वभाव-व्याकोपात् कार्य-कारण-भाव-भङ्गं प्रतिपादयतां चार्वाकाणां समाधानाय मीमांसक-मतं तावदाह—तत्रेत्यादिना। वह्न्यनुकूलेति—तथा च न अरण्यादीनां वह्नित्वाविच्छन्नं प्रति अरणित्वादि-रूपेण कारणता येन व्यतिरेको न गृह्येत, अपि तु वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्वेन रूपेणैवेति वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमता सह वह्नित्वावच्छिन्नस्य अन्वय-व्यतिरेकौ अपेक्षितौ, तौ च तयोः सुग्रहाविति न कादाचित्कत्व-स्वभाव-व्याकोप इति युक्तं कार्य-कारण-भावानुमानमिति मीमांसकानामाशयः। पदार्थान्तरमिति—अत एव मण्यादि-समवधाने सति सत्यपि वह्नीन्धन-

कारण-सापेक्षत्व तथा कादाचित्कत्व की व्याप्ति है, जिसका अर्थ है कि जहाँ कारण-सापेक्षत्व नहीं है वहाँ कादाचित्कत्व भी नहीं है; और तृणादि को छोड़ कर अन्य पदार्थ को तो वह्नि का कारण माना ही नहीं जा सकता हैं। अतः कारण-सापेक्षत्व और कादाचित्कत्व में व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है—इस पूर्व-पक्ष का उत्तर शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ माननेवाले मीमांसक निम्नलिखित रूप में देते हैं:—तृण या अरणि तृणत्वेन रूपेण या अरणित्वेन रूपेण वह्नि का कारण नहीं है अपि तु वह्न्युत्पादक-शक्तिमत्त्वेन रूपेण। एवञ्च वह्न्युत्पादक-शक्तिमान् के साथ वह्नि का अन्वय-व्यतिरेक और कार्य-कारण-भाव है, न कि तृण या अरणि आदि के साथ भी। अतः उपर्युक्त पूर्वपक्ष निराधार है। कारण में कार्यानुकूला शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ है और वह प्रति-वस्तु में अनन्त है, नित्य पदार्थ में रहनेवाली शक्ति नित्य है और

प्रति-व्यक्ति नाना, [नित्ये नित्या] अनित्ये अनित्या, "नित्ये नित्यैव सा शक्तिः अनित्ये भाव-हेतुजा" इति सिद्धान्तात् । वह्न्यनुकूला तृणाऽरणि-मणि-निष्ठा शक्तिः नित्येति तु मतान्तरम् ।

न्याय-मतन्तु—तृणादि-जन्यताऽवच्छेऽकं वैजात्यमेव । विजातीयेष्वेक-जातीयाऽनुकूल - शक्ति - कल्पने धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्,

संयोगे दाहः न भवति, तत्र मण्यादिना वह्नि-निष्ठशक्तेरभिभवात्; पुनश्च मण्यादि-निरासेन दाहो भवति, तत्र दाहकत्व-शक्तेः उद्भवादिति अनुभवः । शक्तेः पदार्थान्तरत्वाभावे तु पुनरपि चार्वाकाणां समाधानं नैव स्यादिति शक्तेः पदार्थान्तरत्वमुक्तम् ।

भाव-हेतुजेति—भावः पदार्थः, तस्य यो हेतुः स एव तन्निष्ठ-शक्तेरपीत्यर्थः । अतिरिक्त-शक्ति-वादमनाद्रियमाणानां नैयायिकानां मते समाधानमाह—न्याय-मतन्त्वित्यादिना । वैजात्यमेवेति—तथा च तार्ण-वह्नित्वावच्छिन्नस्य तृणत्वावच्छिन्नेन कार्य-कारण-भावः, तत्र च अन्वय-व्यतिरेकौ सुलभौ इति न कादाचित्कत्व-स्वभाव-व्याकोपात् कार्य-कारण-भावाऽनुमानानुपपत्तिरिति भावः । कारणता-स्वरूपातिरिक्त-शक्ति-वादे दोषमाह—धूमादिनेत्यादिना । वह्न्यनुमानं नेत्यादि—अयमाशयः—कार्यताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य हि कारण-तावच्छेदकावच्छिन्नेन व्याप्ति-ग्रहात् कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नम् कारणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्यानुमापकमिति हि स्थितिः । तथा च धूम-कारणत्वं वह्नौ न वह्नित्वेन रूपेण अपि तु धूमानुकूलैक-जातीय-

अनित्य में अनित्य । अतएव यह सिद्धान्त है "नित्य-पदार्थ-निष्ठ शक्ति नित्य है और अनित्य पदार्थ में उसीके कारण से शक्ति की उत्पत्ति होती है।" मीमांसकों का ही एक वर्ग है जो तृण, अरणि तथा मणि में वह्नि को उत्पन्न करनेवाली नित्य-शक्ति मानता है ।

परन्तु शक्ति को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माननेवाले नैयायिकों का उक्त पूर्व-पक्ष के समाधान में मत यह है:—तृण आदि से उत्पन्न होनेवाले वह्नि का कार्यता-वच्छेदक धर्म क्रमशः तार्ण-वह्नित्व, अरणि-वह्नित्व तथा मणि-वह्नित्व हैं। फलतः तृण के साथ तार्ण-वह्नि का अन्वय-व्यतिरेक चाहिए और वह बन ही जाता है। इस लिए पूर्वोक्त पूर्व-पक्ष निराधार है। परस्पर-भिन्न-जातीय तृण, अरणि तथा मणि में एक-जातीय-वह्नि-स्वरूप-कार्योत्पादनानुकूल शक्तिके आधार पर अन्वय-व्यतिरेक का उपपादन—जैसा मीमांसकों ने किया है—उचित नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में धूम-सामान्य का वह्नि-सामान्य के साथ कार्य-कारण-

न स्याच्च तृण - फूत्कार - समवधानस्य, निर्मन्थनारणिसमवधानस्य, प्रतिफलित-रवि-किरण-समवधानस्य च प्रतिनियमः। कारणतावच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य कारणतावच्छेदकाऽवच्छिन्न-समवधाने कार्य-जननस्य दृष्टत्वात्, फूत्कार-मणि-सम्बन्धादितोऽपि वह्न्यापत्तेः।

शक्तिमत्त्वेनैव अतिरिक्त-शक्तिवादिनाम्मते सिद्ध्यति। ततश्च धूमत्वाऽवच्छिन्नस्य धूमानुकूलैक-शक्तिमत्त्वाऽवच्छिन्नेन व्याप्ति-ग्रहः इति धूमेन धूमाऽनुकूलैक-शक्तिमत एवानुमानम् स्यात् न तु वह्नित्वाऽवच्छिन्न-वह्नेः इति। दोषान्तरमप्याह—न स्याच्चेति। प्रति-नियमः = व्यवस्था। उपपत्तिमाह—कारणतेत्यादि। अयमर्थः—न ह्येकस्मादेव कारणात् कार्योत्पत्तिरिति नियमः अपि तु कारण-कूटादेवेति। तत्र यावत्-कारणतावच्छेदकावच्छिन्नस्य कार्यतावच्छदेकावच्छिन्न-प्रयोजकतया यत्र सकल-कारणताऽवच्छदेकावच्छिन्नानां समवधानं तत्र कार्योत्पत्तिः नान्यथेति वस्तु-गतिः। प्रकृते च न्याय-मते तृणत्वाऽवच्छिन्नस्य फूत्कारत्वावच्छिन्नस्य च तार्ण-वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति कारणतया यत्रैव तृणत्वावच्छिन्न-फूत्कारत्वावच्छिन्नयोः समवधानम् तत्रैव तार्ण-वह्नित्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिरिति व्यवस्था उपपद्यते। तृणत्वावच्छिन्न-समवधाने सत्यपि निर्मन्थनत्वावच्छिन्न-समवधाने च सति न तार्ण-वह्नित्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिः, निर्मन्थनत्वावच्छिन्ने तार्ण-वह्नि-निरूपितकारणतायाः अग्रहणात्। अतिरिक्त-शक्ति-वादे तु वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्वावच्छिन्नस्यैव कारणतावच्छेदकत्वमिति तृणे निर्मन्थने च वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्वावच्छिन्नत्वस्याविशेषात् तृण-निर्मन्थनाभ्यामपि वह्न्युत्पादप्रसङ्गात्। तस्मादश्रद्धेयोऽयमतिरिक्त-शक्ति-वादः इति। तदेवाह—फूत्कारेत्यादिना।

भाव नहीं होने से कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्ग-स्वरूप तर्क पर निर्भर व्याप्ति-ग्रह के अभाव में धूम-हेतु से वह्नि का अनुमान नहीं हो पाएगा, और तृण के साथ फूत्कार के, अरणि के साथ निर्मन्थन के तथा मणि के साथ सूर्य-किरण के समवधान की व्यवस्था नहीं रह जायेगी, क्योंकि अतिरिक्त-शक्तिवाद में वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्व ही कारणतावच्छेदक होगा और यह नियम है कि एक कारणतावच्छेदकावच्छिन्न दूसरे कारणतावच्छेदकावच्छिन्न से समवहित होकर कार्योत्पादन करता है। एवञ्च वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्वावच्छिन्न फूत्कार के वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्वावच्छिन्न मणि के समवधान में भी वह्नि की उत्पत्ति की आपत्ति हो जाएगी।

यदि च तृण-फूत्कारादि-सम्बन्धादिषु वह्न्यनुकूला एका शक्तिः कल्प्यते तदा नैतत् समाधानम्। परन्तु तार्ण-वह्न्यादि-निष्ठं वैजात्यं प्रत्यक्षसिद्धम् दीपत्वादिवदिति न पदार्थान्तर-शक्ति-कल्पनम्।

अमुमर्थमाह—

प्रवाहो नाऽऽदिमानेष न विजात्येक-शक्तिमान्।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यम् अन्वय-व्यतिरेकयोः ॥ ६ ॥

मीमांसकः पुनः प्रत्यवतिष्ठते—न वयं तृणे फूत्कारे च पृथक् पृथक् वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमाद्रियामहे येन प्रति-नियम-भङ्गः स्यात्, अपि तु तृण-फूत्कारयोः सम्मिलितयोरेव वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्वं मन्यामहे, तथा च कुतः प्रतिनियम-भङ्गः? तदेतदाह— नैतत् समाधानमिति। एवमपि नातिरिक्त-शक्ति-कल्पनमुचितम् गौरवात् इत्याह— परन्तु इति। दीपत्वादिवदिति—यथा आलोक-विशेष-जनकतावच्छेदकं प्रत्यक्ष-सिद्धं वैजात्यम् तथा प्रकृतेपि इति भावः। न पदार्थान्तर-कल्पनमिति—अवश्य-क्लृप्त-वैजात्येनैव निर्वाह-सम्भवे अतिरिक्त-शक्ति-वादो गौरव-पराहतत्वादश्रद्धेय इति भावः। वस्तुतः सम्मिलिते शक्ति-कल्पने अन्वय-व्यतिरेकवतां तृणादीनामकारणत्व-प्रसङ्गोपि दोपः।

कारिकार्थं संगृह्य कारिकामवतारयति—अमुमर्थमिति। ननु

यदि मीमांसक ऐसा मानें कि फूत्कार-समवहित तृण, निर्मन्थन-समवहित अरणि आदि में विशिष्ट में ही वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्त्व पर्याप्त है, प्रत्येक तृण तथा फूत्कार आदि में नहीं, तव उपर्युक्त आपत्ति तो नहीं होगी; परन्तु तृण-जन्य वह्नि, अरणि-जन्य वह्नि आदि में वैलक्षण्य के, तत्तत्कारण-जन्य तत्तत् दीप में रहनेवाले तत्तद्दीपत्व के समान, प्रत्यक्ष होनेसे तत्तत् वह्नि मे जब वैजात्य (तार्ण-वह्नित्व आदि) को मानना ही पड़ेगा तव इसी वैजात्य के आधार पर अन्वय-अतिरेक का उपपादन करना ही लघुतर होगा, स्वतन्त्र शक्ति के मानने मे तो गौरव होगा। अतः स्वतन्त्र शक्ति मानना उचित नहीं है।

यही वात इस कारिका में वतला रहे हैं:—

[यह कार्य-कारण-प्रवाह अनादि है और विजातीय तृण, अरणि तथा मणि में कोई वह्न्यनुकूलैक-शक्ति भी नहीं माननी चाहिए। यदि कार्य-कारण-भाव का ग्रहण अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही करना इष्ट है तो उसके लिए वैजात्य-कल्पन आदि प्रयास करना चाहिए ॥ ६ ॥]

एष कार्य-कारण-प्रवाहः, नादिमान् = अनादिः । विजातीयेषु तृणादिषु एक-शक्तिमान् न प्रवाहः । अन्वय-व्यतिरेकयोः तत्त्वे = नियतत्त्वे निर्वाह्ये, यत्नवता भाव्यम् = यत्नः करणीयः, वैजात्यं कल्पनीयम् इति भावः । वह्नि-सामान्यम्प्रति तु विजातीयोष्ण-स्पर्शवत्तेज एव कारणम् ॥ ६ ॥

ननु यथा एक एव दीपः आलोककारी वर्त्ति-विकारकारी घटादि-रूप-प्रकाशकारी च तथा एकमेव ब्रह्म, किम्वा कार्य-कारणयोरभेदात् प्रतिपुरुषं विभिन्ना बुद्धिरभिन्ना प्रकृतेः एव हेतुरस्तु ? तथा च न अदृष्टाऽ-

वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति किं कारणम् इत्यत आह—वह्नि-सामान्यमिति । तदेवं कार्य-कारण-भावे सिद्धे वैचित्र्यादि-प्रयोजकादृष्टाधिष्ठातृतयेश्वर-सिद्धिरिति भावः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्तं वैचित्र्यादिति हेतुं विशदयितुम् पातनिकामाह—नन्विति । ब्रह्मेति—एतच्च वेदान्त-मतम् । बुद्धिरिति—एतच्च सांख्य-मतम् । अत्र विभिन्न-बुद्धेरभिन्ना प्रकृतिरिति पाठस्तु उपेक्ष्यः । बुद्धिरिति जात्येकवचनम् । बुद्धिषु एकजातीयत्व-साधनाय आह—कार्य-कारणयोरभेदादिति । एतत्फलितार्थमाह—अभिन्ना प्रकृतेः इति । हेतुः = जगद्वैचित्र्य-हेतुः । तथा च न जगद्वैचित्र्याधायकत्वेन अदृष्ट-

यह कार्य-कारण-प्रवाह, 'नादिमान्' अर्थात् अनादि है 'विजातीयेषु' अर्थात् तृण, अरणि तथा मणि आदि परस्पर-विजातीय तत्त्वों में, वह्नयनुकूलैक-शक्ति की कल्पना से उस प्रवाह का निर्वाह नहीं होता है। अन्वय-व्यतिरेक में कार्य-कारण-भाव-ग्राहकता यदि निश्चित रूप में माननी है तब 'यत्नवता भाव्यम्' अर्थात् यत्न करना चाहिए यानी तार्ण-वह्नित्व आदि वैजात्य की कल्पना करनी चाहिए। वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि के प्रति तो विजातीय उष्ण-स्पर्श से युक्त तेज ही कारण है ॥ ६ ॥

जिस प्रकार एक ही प्रदीप द्रव्य का प्रकाश भी करता है, वत्ती को भी जलाता है और घट आदि के रूप का भी प्रकाश करता है उसी प्रकार यदि एक ही ब्रह्म-तत्त्व को विचित्र जगत् का कारण मान लिया जाय या कार्य-कारण में तादात्म्य के कारण प्रकृति से अभिन्न किन्तु प्रत्येक पुरुष में परस्पर-भिन्न एकजातीय बुद्धि को ही विचित्र जगत् का कारण मान लिया जाय तब अदृष्ट के साधक के अभाव में अप्रामाणिक अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में

धिष्ठातृतया ईश्वर-सिद्धिः इत्यत्र आह—

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यं च समस्य न ।
शक्ति-भेदो न चाऽभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ७ ॥

एकस्य = कारणस्य नियम्यो न कार्याणां क्रमः, समस्य = एक-जातीयस्य कारणस्य प्रयोज्यश्च न कार्याणां वैचित्र्यम् । तथा च क्रमिक-कार्य-निर्वाहकतया क्रमिक-कारण-सिद्धिः, विजातीय-कार्य-जनकतया च विचित्र-हेतु-सिद्धिः इत्यर्थः । शक्ति-भेदादेव सजातीयादेकस्मात् कार्य-वैजात्यम् इति शङ्कां निराकुरुते—शक्ति-भेदो न चाऽभिन्नः इति ।

सिद्धिः, स्वर्गादिस्तु नास्त्येवेति कुतः तदधिष्ठातुरीश्वरस्य सिद्धि-रिति भावः । एकस्य क्रमः परैरपि नाऽभ्युपगत इत्यतः पूरयति—नियम्येति । एकस्येत्यत्र क्रम-प्रयोजक-सहकारि-विधुरस्येति पूरणीयम् । अन्यत् स्पष्टम् ।

ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है—इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं:—

[एक कारण से विचित्र कार्यों की उत्पत्ति मानने पर कार्योत्पत्ति में प्रसिद्ध पौर्वापर्य की उपपत्ति नहीं होगी; एक-जातीय बुद्धि-तत्त्व को कारण मानने पर कार्यों में उपलब्ध वैचित्र्य का उपपादन नहीं हो सकेगा । यतः शक्ति और शक्तिमान् में सत्कार्य-वाद-भङ्ग तथा अद्वैत-वाद-हानि के भय से भेद नहीं माना जा सकता है अतः शक्ति-भेद के आधार पर भी वैचित्र्य की उपपत्ति नहीं हो सकती और स्वभाव के आधार पर उपपादन तो और भी असम्भव है, क्योंकि स्वभाव बदलता नहीं है, फलतः अग्नि तथा जल का भी स्वरूप समान ही मानना पड़ जाएगा जो सर्वथा असम्भव है ॥ ७ ॥]

'एकस्य' अर्थात् एक कारण के मानने पर, अनेक कार्यों की उत्पत्ति में 'क्रमः' अर्थात् पौर्वापर्य्य का नियम, नहीं बन सकता है और 'समस्य' अर्थात् एक-जातीय बुद्धि-तत्त्व को कारण मानने पर, कार्यों में वैचित्र्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है । एवञ्च क्रमागत कार्यों की उपपत्ति के लिए क्रमिक कारण की सिद्धि होती है और विजातीय कार्यो के जनक के रूप में विजातीय कारण की सिद्धि होती है—यही तात्पर्य है । अच्छा तो शक्ति-विशेष के कारण ही एक-जातीय बुद्धि से अथवा एक ब्रह्म से कार्य-विशेष की उत्पत्ति मान ली जाय और अदृष्ट न माना जाय ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं:—'शक्ति-भेदो न चाऽभिन्नः' । यहाँ 'च' का अर्थ हेतु है । यतः शक्ति तथा शक्तिमान् में

चो हेतौ, न शक्ति-भेदः, अभिन्नो यतः, शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। भेदे च तस्यैव कारणत्व-स्वीकारे एक-मात्र-कारणकत्व-भङ्ग-प्रसङ्गः द्वैताऽऽपत्तिश्चेत्यर्थः।

ननु स्वभावादेव एक-कारणस्य विचित्र-कार्य-निर्वाहकत्वमित्यत्राह–– स्वभावो दुरतिक्रमः इति। एकस्मिन् कार्ये जनयितव्ये यः स्वभावः कार्यान्तर-जनन-काले तस्यानुवृत्तौ दहनस्याऽपि जलादित्वं स्यात्, स्वभावस्य दुरपह्नवत्वादित्यर्थः। प्रदीप-स्थले तत्तत्कार्य-सामग्री-भेद-कल्पनादिति भावः ॥ ७ ॥

जलादित्वम् = जलादि - स्वभावत्वम्। ननु एकेन कारणेन विजातीय-कार्याभावे कथमेकेन दीपेन विभिन्न-कार्योत्पत्तिः इत्यत्राह––प्रदीपस्थले इत्यादि। तत्राऽपि दीप-मात्रांशे एकत्वम्, अन्य-कारणांशे च परस्परम् भेद एवेति न एकस्मादेव सहकार्यन्तर-विधुरात् विभिन्न-कार्योत्पत्तिरिति भावः। तथा च अवश्य-स्वीकार्य-जगद्वैचित्र्याधायकादृष्टाधिष्ठातुरीश्वरस्य सिद्धिर्निराबाधा। यत्तूक्तं स्वर्गादिस्तु नास्त्येवेति तत्र समाधानमग्रिम-कारिकायामभिधास्यते इति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

अभेद होने के कारण शक्तिमान् से अतिरिक्त शक्ति नाम का कोई पदार्थ नहीं है अतः शक्ति-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि शक्ति तथा शक्ति-मान् में भेद मानें तब तो सांख्य-मत में सत्कार्य-वाद की हानि हो जायगी और उस शक्ति को भी कारण मानना पड़ेगा तथा वेदान्त-मत-सिद्ध एक-कारण-जन्यत्व-सिद्धान्त नष्ट हो जाएगा और ब्रह्म से अतिरिक्त शक्ति के मानने से अद्वैत भी समाप्त हो जाएगा।

पुनः प्रश्न है कि एक होने पर भी कारण का स्वभाव ही ऐसा है कि उससे विचित्र कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है, फिर अदृष्ट की क्या आवश्यकता है––इसके समाधान के लिए कह रहे हैं:––'स्वभावो दुरतिक्रमः'। एक कार्य के जनन के समय कारण का जो स्वभाव है वही स्वभाव तो उसका सर्वदा अनुवर्त्तमान रहेगा, फलतः वह्नि के स्वभाव तथा जल के स्वभाव में एकता माननी पड़ेगी, जो सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। अतः एक-कारण-वाद नहीं मानना चाहिए। प्रदीप भी अकेले विचित्र कार्यों का उत्पादन नहीं करता है किन्तु विभिन्न सहकारियों के आधार पर ही। अतः उक्त दृष्टान्त भी अयुक्त है ॥ ७ ॥

ननु दण्डादिर्घटादौ हेतुरस्तु न तु यागादिः स्वर्गादि-हेतुरित्यत्राह—

विफला विश्व-वृत्तिर्नो न दुःखैक-फलाऽपि वा ।
दृष्ट-लाभ-फला नाऽपि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥ ८ ॥

विश्वेषाम् परलोकार्थिनाम् स्वर्गाद्यर्थं यागादौ प्रवृत्तिः विफला न। न वा दुःख-मात्र-फलिका, प्रवृत्तेः इष्ट-साधनता-धी-साध्यत्वात्।

हेतुः = वैचित्र्य-हेतुः । एतच्चाभ्युपेत्यवादेन । तत्त्वतस्तु न दृष्टमेव वैचित्र्याधायकमिति पूर्व-कारिकायां निर्णीतम्। 'न तु यागादिः स्वर्गादि-हेतुरित्यत्र' 'न तु यागादि-हेतुः स्वर्गादिरिति' पठनीयम्। यागादि-हेतुरित्यत्र च बहुव्रीहिः । यागादि-हेतुकत्वेन अभिमतः स्वर्गादिरस्त्येव नेति भावः। तथा च दृष्टं जगद्वैचित्र्यम् दृष्ट-दण्डादि-सहकारि-वैचित्र्येण एव उपपन्नम् स्वर्गादिस्तु अस्त्येव नेति न जगद्वैचित्र्याधिप्रापकत्वेन नाऽपि स्वर्गादि-प्रयोजकत्वेन अदृष्ट-सिद्धिरिति कुतः ईश्वर-सिद्धिरिति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम्। यद्वा हेतु-पदस्य फलार्थकत्वेन यथा-श्रुतमेव व्याख्येयम्। तत्र स्वर्गादि-साधनाय तावदाह—विफलेत्यादि ।

विफला नेति—सर्वेषाम् भ्रमासम्भवात् इति भावः। तथा च

पुनः प्रश्न है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्ध घट-पटादि पदार्थों में वैचित्र्य का प्रयोजक दृश्यमान दण्डादि कारणों को ही मान लिया जाय और स्वर्गादि अदृष्ट पदार्थ तो वस्तुतः हैं ही नहीं, अतः न तो जगद्वैचित्र्य के लिए और न स्वर्गादि की उपपत्ति के लिए ही अदृष्ट की सिद्धि होती है—इसी प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—

[यागादि में स्वर्गादि के निमित्त हुई सबों की प्रवृत्ति निष्फल नहीं हो सकती है और उसका फल दुःख-मात्र भी नहीं हो सकता है; उसके फल के रूप में केवल पूजा, प्रतिष्ठा आदि लौकिक फलों को ही नहीं लिया जा सकता है; किसी धूर्त ने दूसरों को ठगने के लिए ऐसा काम किया है—यह भी सम्भावित नहीं है; अतः यागादि के अनुष्ठान का स्वर्गादि फल अवश्य ही मानना चाहिए ॥ ८ ॥]

स्वर्ग आदि की सम्प्राप्ति के निमित्त सभी परलोकार्थियों की होनेवाली यज्ञादि-विषयक प्रवृत्ति निष्फल नहीं हो सकती है और यतः प्रवृत्ति इष्टसाधनता-ज्ञान (इस कार्य से मेरा अभीष्ट सिद्ध होगा—इस तरह का ज्ञान)

न च दृष्ट-लाभ-फला = पूजा-ख्याति-धनादि-फला, तन्निरपेक्षैरपि तदाचरणात्। केनचित् प्रतारकेण स्वर्गादि-फलकतया यागादिकं प्रकल्प्य स्वयमनुष्ठायान्धितो लोकः प्रवर्त्तते इत्यत्राह—विप्रलम्भोऽपि नेदृशः इति। क एवं लोकोत्तरो यः पर-प्रतारणार्थं नानाविध-क्लेश-हेतु-कर्मभिरात्मानमवसादयेत्। तथा च यागादि-प्रवृत्तिरेव स्वर्गादि-फलकत्वे यागादेः मानम् इति ॥ ८ ॥

ननु यागादिरेव स्वर्गादिहेतुरस्तु, न तु तज्जन्याऽदृष्टं तथा इत्यत आह—

स्वर्गादेः सत्त्वमास्थेयम् इति प्रतिफलति। अवशिष्टो ग्रन्थः स्पष्टः। मानमिति—तथा च स्वर्गादिसिद्धौ तत्प्रयोजकत्वे अभिषिक्तस्य अदृष्टस्य अधिष्ठातुः ईश्वरस्य सिद्धिः प्रतिफलतीति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

स्वर्गादि-हेतुरित्यत्र षष्ठी-तत्पुरुषः। तथा = स्वर्गादि-कारणम्। एवञ्च न स्वर्ग-प्रयोजकत्वेन अदृष्टस्य सिद्धिः येन तदधिष्ठातृत्वेन ईश्वरः सिद्धयेत् इति भावः। इयं च शङ्का वेद-नित्यत्व-वादि-मीमांसकमताऽनुप्रवेशेन, अन्यथा यागादादेव स्वर्ग-साधनत्वाभ्युप-

से होती है अतः उस प्रवृत्ति का फल दुःख-मात्र को भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दुःख में इष्टसाधनता-ज्ञान नहीं हो सकता है। उस प्रवृत्ति को 'दृष्ट-लाभ-फला' अर्थात् पूजा, प्रतिष्ठा एवं धन आदि फल देनेवाली भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जो व्यक्ति पूजा आदि नहीं भी चाहते हैं उनकी भी प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी धूर्त ने यज्ञानुष्ठान से स्वर्ग-प्राप्ति का असत् उपदेश देकर लोगों को ठग कर उसमें प्रवृत्ति कराने के लिए स्वयम् भी अनुष्ठान किया है—ऐसी विप्रतिपत्ति के उत्तर में कह रहे हैं:—'विप्रलम्भोऽपि नेदृशः।' ऐसा कौन विलक्षण व्यक्ति होगा जो केवल लोगों को ठगने के लिए अनेक प्रकार के लौकिक कष्टों को देनेवाले यज्ञादि का स्वयम् अनुष्ठान करेगा? एवञ्च यागादि के अनुष्ठान में सकल पर-लोकार्थियों की प्रवृत्ति ही सिद्ध कर देती है कि स्वर्गादि इनके फल हैं ॥ ८ ॥

अस्तु, यज्ञादि को ही उक्त स्वर्ग की प्राप्ति का हेतु मान लिया जाय, इन दोनों के बीच अदृष्ट की कल्पना से क्या लाभ है?—इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं:—

[स्वर्गादि फल की प्राप्ति से बहुत पहले ही समाप्त यज्ञ आदि अदृष्ट की कल्पना किये बिना स्वर्गादि फल का उत्पादन नहीं कर सकता है, अतः यज्ञादि

चिर-ध्वस्तं फलायाऽलं न कर्मातिशयम्विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥

चिर-ध्वस्तं यागादि कर्म, अतिशयम् = तत्फलानुकूल-व्यापारम्, विना फलाय, न अलम् = न समर्थम् । चिरध्वस्त-कारणस्य व्यापार-द्वारेणैव हेतुत्वम् । यथा अनुभवस्य संस्कार-द्वारा स्मृतौ ।

ननु भोग्य-निष्ठमदृष्टं कारणमस्तु इति जिज्ञासायामाह—सम्भोग

गमेऽपि तत्-प्रतिपादकस्य वेदस्याप्तोपदेशकत्वेन ईश्वरस्य सिद्धेर्निष्प्रत्यूहतया शङ्काऽनवतारात् इति ध्येयम् ।

हेतुत्वम् इति—स्वतः स्व-व्यापार द्वारा वा कार्य-नियत-पूर्व-क्षण-वृत्तित्वं हि कारणत्वम्, तत्र चिर-ध्वस्ते यागादौ आद्यस्या-सम्भवाच्चरममेपितव्यम् इति व्यापार-भूतस्य अदृष्टस्य सिद्धिः तदधिष्ठातृतया चेश्वरोऽपि सिद्ध्यत्येवेति हृदयम् । यद्यपि यस्यात्मनः याग-समाप्ति-क्षण-समकालमेव ऐहलौकिकोपभोग-समर्थ-सकल-प्रारब्ध-क्षयः तत्र यागादेः स्वतः अपि कारणत्वं सम्भवति तथाऽपि सम्भव-स्थलाभिप्रायेयमुक्तिरिति न क्षतिः काऽपि ।

प्रत्यात्म-नियमाद्भुक्तेरिति अन्त्यं हेतुं विवृणोति पूर्व-पक्षोपन्यास-मुखेन—ननु इत्यादिना । अदृष्टस्य भोग्य-निष्ठत्वे भोक्तृ-निष्ठाधिष्ठातृत्वेनैवोपपत्तिः, कादाचित्कत्वं च फलस्य भोक्तृ-निष्ठ-प्रेरणाऽभिलाष-कादाचित्कत्वेनैवोपपद्येत इति नाधिष्ठातुरीश्वरस्यावश्यकता इति पूर्व-पक्षाशयः । अतः अदृष्टस्य भोक्तृनिष्ठत्वं साधयति

से स्वर्ग प्राप्त्यनुकूल अदृष्ट की उत्पत्ति माननी ही है । वह अदृष्ट भोग्य पदार्थ में नहीं माना जा सकता अपि तु भोक्ता आत्मा में ही, अन्यथा निरदृष्ट आत्मा में साऽदृष्ट भोग्य पदार्थों के भोग की व्यवस्था नहीं हो पाएगी ॥ ९ ॥]

फलोत्पादन-काल से चिर-काल पूर्व विनष्ट यज्ञादि क्रियाकलाप, 'अतिशयम्' अर्थात् मुख्य-फलोत्पादन-योग्य अपूर्व के, विना फल के उत्पादन में, 'न अलम्' अर्थात् समर्थ नहीं हो सकता है । फलोत्पत्ति-क्षण से चिर-काल पूर्व विनष्ट कारण का कार्य के साथ पौर्वापर्य्य मध्यवर्त्ती व्यापार के द्वारा ही होता है, जैसे—चिरकाल पूर्व विनष्ट अनुभव का स्मृति के साथ नियत-पौर्वापर्य (कारणत्व) संस्कार के द्वारा होता है ।

अस्तु, भोग्य-पदार्थ-निष्ठ अदृष्ट को भोग का कारण मान लिया जाय—

इति । निर्विशेषाणाम् = अदृष्ट-रूप-विशेष-गुण-शून्यानाम् आत्मनाम् । सम्भोगः = प्रत्यात्मनियतो भोगः, संस्कृतैरपि = अदृष्टवत्तया स्वीकृतैरपि भूतैः, न स्यात् । भूतानां शरीरादीनां सर्वात्म-साधारण्यात् । तददृष्टाकृष्टैरेव शरीरेन्द्रियादिभिः तद्भोग-जननादित्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु भोग्यादि-निष्ठ एव धर्म-विशेषः अतीन्द्रियः प्रतिनियत-भोगादि-नियामकोस्तु, यथा दाहादि-नियामकः वह्न्यादि-निष्ठः शक्ति-भेदः ।

निर्विशेषाणामित्यादि-ग्रन्थेन । तथा च स्वनिष्ठस्य अदृष्टस्य स्व-प्रेरकत्वे फल-कादाचित्कत्वं न स्यादिति तदन्यः कश्चन ईश्वराभिधः तत्प्रेरण-समर्थः सिद्ध्यति इति भावः । आत्मनः अदृष्ट-प्रेरकत्वाभावे अज्ञत्वं च कारणमवगन्तव्यम् । साधारण्यादिति—तथा च भोग-साधारण्य-प्रसङ्ग इति तात्पर्यम् । भोग-जननात् इति—भोग-जननमित्यर्थः । तथा च भोक्तृ-निष्ठादृष्ट-प्रेरकत्वेन ईश्वरः सिद्ध्यतीति भावः ॥ ९ ॥

सम्भोगो निर्विशेषाणामित्यादि पूर्व-कारिकोक्तं विशदयितुम् पातनिकामाह—नन्वित्यादिना । अयमाशयः—मण्यादिसमवहिते कर-तले स्थितोप्यग्निः दाहं न करोति, मण्याद्यसमवहिते तु तस्मिन्नेव कर-तले दाहं करोत्येवेति मण्यादि-समवधानेन विनष्टायाः वह्नि-निष्ठ-दाहकत्व-शक्तेः एव प्रति-नियत-दाहकत्वेन प्रतिनियत-भोजकत्व-मवश्यमेवास्थेयम् । एवं च यथा वह्नि-निष्ठा दाहकत्व-शक्तिः भोक्तरि आत्मनि प्रतिनियतं भोगं जनयति तथा कर्म-जन्याऽदृष्टमपि भोग्य-पदार्थ-निष्ठमेव सत् भोक्तरि आत्मनि प्रतिनियतं भोगं जनयेत् इति न प्रतिनियत-भोगान्यथानुपपत्त्या भोक्तृ-निष्ठत्वमदृष्टस्य सिद्ध्यति । एवञ्च शक्ति-दृष्टान्तेनैव भोग्यनिष्ठाऽदृष्ट-साधन-प्रयासः

इस प्रश्न के समाधान के लिए कह रहे हैं :—'सम्भोगो निर्विशेपाणाम्' । अदृष्ट नाम के विशेष गुण से शून्य सभी जीवों का व्यवस्थित भोग, 'संस्कृतैरपि' अर्थात् अदृष्ट के आश्रय के रूप में अभ्युपगत भूतों (भोग्य-पदार्थों) के द्वारा भी, नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीरादि भोग्य-पदार्थ सभी जीवों के लिए समान हैं; अतः भोग भी उनसे समान ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है । इसलिए तत्तत् जीव में समवेत अदृष्ट-विशेष के द्वारा ही सर्व-जीव-साधारण शरीर-इन्द्रियादि से होने वाले भोग-विशेषका उपपादन करना चाहिए ॥ ९ ॥

पुनः पूर्व-पक्ष है—जिस प्रकार अग्नि की अतीन्द्रिय दाहकता-शक्ति प्रतिबन्धक-युक्त तथा उससे रहित पदार्थों में प्रतिनियत दाह का नियमन करती

अन्यथा तादृशादेव कर-तलाऽनल-संयोगात् सति प्रतिबन्धके दाहाऽऽपत्तेः।

न च मण्यभाव एव कारणम् अस्तु इति वाच्यम्, कारणत्वस्य भावत्व-व्याप्यत्वात्। किन्तु शक्ति-नाशं करोति इति मण्यादिः

वह्नौ शक्तिमन्तराऽनुपपन्न-फल इति कृत्वा वह्नौ शक्तिमेव प्रसाधयितुमाह—अन्यथेति। वह्नौ दाहानुकूल-शक्त्यनंगीकारे इत्यर्थः। सति इत्यस्य अपीति शेषः। दाहाऽऽपत्तेरिति—वह्नौ दाहानुकूल-शक्त्यनङ्गीकारे वह्नित्वेनैव तस्य दाहं प्रति कारणता वाच्या, सा च सत्यपि प्रतिबन्धके सुलभेति दाहो न निरुद्ध्येतेति तात्पर्यम्।

न केवलं वह्नि-संयोग एव दाह-कारणम् अपितु दाह-प्रतिबन्धकाऽभावोऽपि तत्कारणम्, एवञ्च प्रतिबन्धके सति प्रतिबन्धकाभाव-रूप-दाह-कारण-विघटनेनैव दाहाऽभाव इति शक्त्यनङ्गीकारेऽपि न पूर्वोक्तो दोष इति प्रतिपादयन्ति नैयायिकाः, तन्निराचष्टे मीमांसकः—न चेति। मण्यभाव एव कारणम् इति नैयायिक-मतम्, तत् प्रतिषिद्धम् नच वाच्यमित्यनेन। तत्र हेतुमाह—कारणत्वेति। अतिरिक्त-शक्ति-सत्त्वे एव तन्नाशकस्य मण्यादेः प्रतिबन्धक इत्यभिधानमपि युक्तमित्याह मीमांसकः—किन्तु

है उसी प्रकार भोग्य पदार्थों में ही वर्तमान क्रियादि-जन्य प्रत्यक्षागोचर कार्य-दर्शनानुमेय अदृष्ट प्रतिनियत भोग का उत्पादक हो जाएगा, आत्मा में अदृष्ट नहीं मानना चाहिए। वह्नि में उपर्युक्त शक्ति तो अवश्य हीं स्वीकार्य है, नहीं तो चन्द्रकान्त मणि आदि दाह-प्रतिबन्धक तत्त्वों के समवधान में भी वह्नि-हस्त-संयोग होने पर दाह की आपत्ति आ पड़ेगी। अतः विनाशक या अभिभावक के द्वारा विनश्वर या अभिभाव्यमान शक्ति-विशेष का अभ्युपगम नैयायिकों को भी करना ही चाहिए।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि दाह-कार्य के लिए अग्नि के साथ-साथ दाह-प्रतिबन्धक तत्त्वों का अभाव भी कारण है, एवञ्च प्रतिबन्धक के उपस्थित रहने पर प्रतिबन्धकाभावात्मक कारण के अभाव के रहने से ही दाह नहीं होता है; शक्ति के उद्भव या अभिभव की तो कोई बात नहीं है, क्योंकि कारण तो केवल भाव-पदार्थ ही हो सकता है अभाव पदार्थ नहीं, अतएव प्रतिबन्धकाभाव को कारण नहीं माना जा सकता अपि तु प्रतिबन्धक के द्वारा दाहानुकूल शक्ति का नाश ही मानना चाहिए। इसी लिए तो मण्यादि को

प्रतिबन्धकः उच्यते। तथा च शक्तिः स्वीकार्या इत्यत्र आह—

भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥१०॥

यथा अन्वय-व्यतिरेकादिना अभावो ध्वंसः कार्यः तथाऽभावः कारणमपि, कारणत्वं भावत्व-व्याप्यम् इत्यस्याऽप्रयोजकत्वात्।

इत्यादिना। तथा चात्र मते कारणता-विघटकत्वमेव प्रतिबन्धकत्वम् न तु कारणीभूताऽभाव-प्रतियोगित्वम् इति प्रतिफलति। तदेतदतिरिक्त-शक्ति-दृष्टान्तेनैव भोग्य-निष्ठादृष्टसिद्धिरिति दृष्टान्तमेव विघटयितुमाह आचार्यः भावो यथेति प्रतिपादयति वृत्तिकृत्—इत्यत्राहेत्यनेन। अप्रयोजकत्वात् इति। अयमाशयः—येन निमित्तेन भावः कारणम् भवति तेनैव अभावोऽपि स्यादेव कारणम्। न भावः पदार्थः भावात्मक इत्येव तस्य कारणत्वम् येनाऽभावस्य कारणत्वं न स्यात्, अपि तु कार्येणाऽनुकृताऽन्वय-व्यतिरेकत्वादेव भाव-पदार्थस्य कारणत्वम्, तच्चाऽभावेपि सुग्राह्यमिति अभावस्याऽपि कारणत्वे न बाधकः कश्चित्। तुच्छत्वादकारणत्वे तु अभावस्य ध्वंसाख्यस्य घटादौ मुद्गरपातादिना जन्यस्य कार्यत्वमपि न स्यात्। तथा च यथा नियतोत्तरभावित्वेनाभावस्य कार्यत्वम् तथा नियतपूर्व-भावित्वेन कारणत्वमपि निष्प्रत्यूहम्। एवञ्च प्रतिबन्धकाऽभावस्यैव निमित्त-कारणत्वेन स्वीकारे प्रतिनियत-दाह-कार्योत्पत्तौ वह्नौ अतिरिक्ता शक्तिः न कल्प्या, गौरवादनावश्यकत्वाच्चेति दृष्टान्ताऽसिद्धौ दार्ष्टान्तिकस्य भोग्यनिष्ठादृष्टस्य असिद्धिरेवेति विवेचनीयम्।

प्रतिबन्धक (प्रतिबन्ध करनेवाला) भी कहना उचित होता है। एवञ्च शक्ति का स्वीकार अत्यावश्यक है—इसी पूर्व-पक्ष के समाधान में कह रहे हैं :—

[जिस युक्ति से भाव-पदार्थ कारण होते हैं उसी युक्ति से अभाव-पदार्थ को भी कारण मानना चाहिए, अन्यथा अभाव-पदार्थ को कार्य भी नहीं माना जा सकता है। प्रतिबन्ध-शब्द का अर्थ तो है सामग्री-विघटन और उसका प्रयोजक, अर्थात् सामग्री-विघटक पुरुष, प्रतिबन्ध करनेवाला (प्रतिबन्धक) कहलाता है, मण्यादि-समवधान तो प्रतिबन्ध है ॥ १० ॥]

जिस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अभाव-पदार्थ कार्य होता है उसी प्रकार उसे कारण मानना भी युक्ति-युक्त है। कारणता केवल भाव-पदार्थों में ही होती है—इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है।

अकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिरित्यत्राह—प्रतिबन्ध इति । विसामग्री = कारणाऽभावः, स च प्रकृते मण्याद्यभावस्याऽभावो मण्यादिः। तत्समवधान-हेतुः पुरुष एव प्रतिबन्धकः । स्वार्थे क-प्रत्ययेन च मण्यादौ प्रतिबन्धक-पद-प्रयोग इति भावः ।

मीमांसकास्तु उत्तेजकाऽभाव-कूट-विशिष्टमण्यभावत्वेन हेतुत्वे

अकिञ्चित्करस्येति । अयमाशयः—प्रतिबन्धं करोति इति प्रतिबन्धक इत्युच्यते । मण्यादिश्च प्रतिबन्धक इति कथ्यते, तच्च शक्ति-वादे एवोपपद्यते, वह्नि-निष्ठ-दाह-शक्ति-नाशकत्वात् । इतरथा हि मणिः न किञ्चित्करोति इति कथम् प्रतिबन्धकः स्यात् । तथा च मणिः प्रतिबन्धक इति नैयायिकोक्तिरेव अतिरिक्त-शक्तिम् प्रतिबध्यत्वेन अवगाहते इति सिद्धमिति । मण्यादिरिति—तथा च न्याय-मते मण्यादिः प्रतिबन्ध एव न तु प्रतिबन्ध-कारकत्वात् प्रतिबन्धक इति नोक्त-शङ्कावकाशः । ननु मण्यादि-समवधाने दाहो न जन्यते इति स्थितौ अगत्या मण्यादेरेव प्रतिबन्धकत्वम् वाच्यमित्यत आह—तत्समवधानेति । तथा च पुरुष एव प्रतिबन्ध-मण्यादि-समवधायकः सन् प्रतिबन्धक इति कथ्यते । नन्वेवं मण्यादौ प्रतिबन्धक इति व्यवहारः नैयायिकानां कथम् उपपद्यते इत्यत्र आह—स्वार्थे इति । तथा च नातिरिक्त-शक्ति-सिद्धिरिति न दार्ष्टान्तिकस्य भोग्यनिष्ठादृष्टस्य सिद्धिः इति फलितम् । प्रयोग इति—तथा च प्रतिबन्धकाभाव-इत्यत्रापि स्वार्थ-क-प्रत्ययान्त एव प्रतिबन्धक-शब्द इति बोध्यम् ।

उत्तेजकाभावेति । अयमभिप्रायः—पूर्वं नैयायिकैः प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम्, तदनुपपन्नम्; सत्यपि प्रतिबन्धक-समवधाने उत्तेजक-समवधाने जाते सति दाहस्य सम्भवात्, तत्र च प्रतिबन्धाभावस्य अभावेऽपि कार्योत्पत्तेः न प्रतिबन्धाभावस्य कार्येण सहान्वय-

जो कुछ करता ही नहीं है वह प्रतिबन्धक अर्थात् प्रतिबन्ध करनेवाला कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं :—'प्रतिबन्ध.' । 'विसामग्री' अर्थात् कारण का अभाव । प्रकृत प्रसंग में कारण, अर्थात् मण्याद्यभाव, का अभाव—मण्यादि, 'विसामग्री' अर्थात् प्रतिबन्ध हैं । उस विसामग्री का उपस्थापक पुरुष प्रतिबन्ध करनेवाला, अर्थात् प्रतिबन्धक है । मण्यादि तो वस्तुत: प्रतिबन्ध ही हैं प्रतिबन्धकारी नहीं, फिर भी प्रतिबन्ध शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय के विधान से मण्यादि को भी प्रतिबन्धक कहा जाता है—यही अभिप्राय है ।

इस पर नित्य-शक्ति-वादी मीमांसकों का कहना है कि उत्तेजकाभाव-समूह-

गौरवात् लाघवात् शक्तिः नित्या वह्न्यादौ कल्प्यते। प्रतिबन्धके सति शक्ति-कुण्ठनम्।

यत्तु शक्तिः प्रथमतः वह्नि-कारण-जन्या वह्नि-निष्ठा, प्रतिबन्धकेन च तस्याः विनाशे उत्तेजकेन पुनः जननम्। न च शक्तेः अनियत-व्यतिरेकाविति अगत्या उत्तेजकाभाव-विशिष्ट-मण्यभावस्य हेतुत्वं वाच्यम् नैयायिकैरपि। तत्र चरमस्याभावस्य प्रतियोगी उत्तेजकाऽभावविशिष्ट-मणिः। अत्र च अंश-द्वयम् उत्तेजकाभावो विशेषणम् मणिश्च विशेष्यः। एवञ्च यत्र उत्तेजकम् अस्ति मणिश्च नास्ति तत्रोभयाभावादेव उत्तेजकाभाव-विशिष्ट-मण्यभावः सुलभः; यत्र च उत्तेजकमपि न मणिश्च नास्ति तत्र विशेष्यस्य मणेः अभावादेव विशिष्टाऽभावः; यत्र च उत्तेजकं मणिश्च वर्त्तते तत्राऽपि विशेषणस्य उत्तेजकाभावस्य अभावादेव विशिष्टाभावः इति दाहः सुकरः। यत्र तु उत्तेजकं नास्ति मणिश्च अस्ति तत्र नोत्तेजकाऽभाव-विशिष्ट-मण्यभाव इति न तत्र दाहः। तथा च शक्तिमनङ्गीकुर्वतां नैयायिकानाम् मते गुरुतर-कारण-स्वीकारे गौरवमित्याह—गौरवात् इति। इदमुपलक्षणम्, विशेष्य-विशेषण-भावे विनिगमना-विरहात् उत्तेजकाऽभाव-विशिष्ट-मण्य-भावस्य मण्यभाव-विशिष्टोत्तेजकाभावस्य चाऽविशेषेण कारणतया गौरवमित्यपि द्रष्टव्यम्। तथा च शक्ति-कल्पनमेव लाघवानुगृहीत-मित्याह—लाघवाविति। नन्वेवं सति सत्यपि मणि-समवधाने कथं न दाहः, वह्नि-निष्ठ-दाह-शक्तेर्नित्यत्वादत आह—प्रतिबन्धके सतीति। कुण्ठनम् = अभिभवः। तथा च नोक्तातिप्रसङ्ग इति।

अनित्य-शक्ति-वादिनां मीमांसकैकदेशिनां मतम् नित्य-शक्ति-वादी मीमांसक उत्थाप्य निराचष्टे—यत्तु इत्यादिना। अनियत-हेतुकत्वमिति। अयमाशयः—शक्तेः एकं कारणम् वह्नि-कारणम्, अपरं च उत्तेजकम्। तथा च उभयत्र शक्तेः कारणतायाः ग्रहः न सम्भवति, कारणता-ग्राहकस्य अन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वस्या-

विशिष्ट-मण्यभाव को दाह का कारण मानने में गौरव हो जाता है, अतः लाघव के आधार पर वह्नि में नित्य-दाहकत्व शक्ति की कल्पना करनी चाहिये और यह नित्य-शक्ति प्रतिबन्धक के समवधान में अभिभूत हो जाती है।

अनित्य-शक्ति-वादी मीमांसकों का यह मत—पहले तो वह्नि के कारणों से ही वह्नि-निष्ठ दाहकता-शक्ति उत्पन्न होती है, परन्तु प्रतिबन्धक के सम्बन्ध के बाद जब वह शक्ति नष्ट हो जाती है तब उत्तेजक, सूर्यकान्ति मणि आदि, से

हेतुकत्वम् शक्त्यनुकूल-शक्तिमत्त्वेन कारणत्वादिति; तन्न, वह्नि-निष्ठ-नाना-शक्ति-कल्पनाऽपेक्षया उत्तेजकाऽभाव-विशिष्ट-मण्यभावस्यैकस्यैव वरं हेतुत्वौचित्यात्। तथा च अकुण्ठित-शक्तिरेव तत्र कारणताव-

भावात्। तथा हि—वह्नि-कारण-सत्त्वे शक्ति-सत्त्वम्, उत्तेजक-सत्त्वे शक्ति-सत्त्वमित्युभयत्र अन्वय-ग्रहण-सम्भवेऽपि वह्नि-कारणाऽभावेऽपि उत्तेजक-जन्य-शक्तेः, उत्तेजकाभावेऽपि वह्नि-कारण-जन्य-शक्तेः सत्त्वेन व्यतिरेक-ग्रहणाऽसम्भवात्। वह्नि-कारण-शक्त्योः व्यतिरेकाभावस्य विवादास्पदत्वेऽपि उत्तोजकेन सह व्यतिरेकाग्रहणस्य निर्विवादतया उत्तोजके शक्ति-कारणत्वाऽग्रहे प्रतिवन्धक-समवधानेन नष्टायाः वह्नि-निष्ठ-शक्तेः पुनरुत्पादाऽभावे उत्तोजक-समवधानेऽपि दाहो न स्यादिति रीत्या प्रतिपादितमनियत-हेतुकत्वम्, तच्च अस्माकमनित्य-शक्ति-वादिनां मते न सम्भवतीत्याह—शक्त्यनुकूलेति। तथा च न वह्निकारण-शक्त्योः न वा उत्तोजक-शक्त्योः पृथक् पृथक् कार्य-कारण-भावः येन पूर्वोक्तो व्यतिरेक-व्यभिचारः स्यात् अपि तु शक्त्यनुकूलैक-शक्तिमता सह शक्तेः एक एव कार्य-कारण-भाव इति न व्यतिरेक-व्यभिचार-सम्भावनाऽपीति अनित्य-शक्ति-वादि-मीमांसक-मतम्। तन्नोचितमिति प्रतिपादयति नित्य-

पुनः दाहकता-शक्ति उत्पन्न हो जाती हैं। अत एव प्रतिबन्धक-समवधान होनेपर भी उत्तेजक के समवधान से दाह होने लग जाता हैं। यह भी नहीं कहना चाहिये कि शक्ति में कभी वह्नि-कारण-जन्यत्व और कभी उत्तेजक-जन्यत्व मानने पर शक्ति का अपने किसी कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन पायेगा, क्योंकि हम उत्तेजकत्वेन उत्तेजक को या वह्नि-कारणत्वेन वह्नि-कारण को शक्ति का जनक नहीं मानते हैं अपि तु जिस प्रकार तृण, अरणि तथा मणि में वह्न्यनुकूलैक-शक्तिमत्वेन कारणता मानने पर व्यतिरेक-व्यभिचार नहीं होता हैं उसी प्रकार वह्नि-कारण तथा उत्तेजक में भी दाहाकूल-शक्त्यनुकूलैक-शक्तिमत्वेन कारणता मानी जाती है अतः व्यतिरेक-व्यभिचार का कोई भी प्रश्न नहीं उठता है—उचित नहीं है, क्यों कि एक ही वह्नि में वारम्वार उत्तेजकादि से शक्ति-सहस्र की कल्पना की अपेक्षा तो उत्तेजकाभाव-विशिष्ट-मण्यभाव को दाह का कारण माननेवाला न्याय-मत ही लघुतर होगा। अतः अनित्य-शक्ति-वाद तो अश्रद्धेय है। अतः प्रतिबन्धक से रहित होने के कारण वह्नि-निष्ठ अकुण्ठित शक्ति को ही दाह-कार्य के प्रति वह्नि में रहनेवाली कारणता

च्छेदिका कल्प्यते इत्याहुः ।

तन्न, शक्ति-कुण्ठने प्रतिबन्धकस्य हेतुत्वम्, उत्तेजकस्य च कुण्ठितत्व-नाशकत्वम् इत्याद्यनन्त-शक्ति-कल्पनाऽऽपत्तेरिति दिक् ॥ १० ॥

ननु 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यत्र प्रोक्षण-जन्य-कालान्तर-भाव्यवघात-जनकः व्यापार व्रीहि-निष्ठः कल्प्यते, "प्रोक्षिता

शक्ति-वादी—तन्नेत्यादि-वाक्येन । नाना-शक्ति-कल्पनेति—सहस्रोत्तेजकैः सहस्र-शक्ति-कल्पने शक्ति-नानात्वमवगन्तव्यम् । तत्तत्प्रागभावादि-कल्पनायामपि गौरवम् इत्यर्थः ।

अधुना नैयायिकः नित्य-शक्ति-वादि-मीमांसकमतमाखण्डयति--तन्नेत्यादिना । अनन्त-शक्तीति—अनन्त-प्रतिबन्धकेषु शक्ति-कुण्ठनानुकूलानन्त-शक्तीनाम् अनन्तोत्तेजकेषु च कुण्ठितत्व-विनाशानुकूलानन्त-शक्तीनाम् अभ्युपगमे अनित्य-शक्ति-वादि-मीमांसक-मताऽविशेषादिति भावः ॥ १० ॥

पुनरपि भोग्य-निष्ठाऽदृष्ट-साधनाय प्रयतते—नन्विति । प्रोक्षणस्यैव साक्षादवघात-जनकत्व-निरासाय उक्तम्—कालान्तरेति । व्यापारः = अदृष्टाख्यः संस्कारः । संस्कारस्य व्रीहि-निष्ठत्व-कल्पने प्रमाणमाह—प्रोक्षिता एवेति । यदि तु प्रोक्षणेन आत्मन्येव संस्कारस्य उत्पत्तिः स्यात्तर्हि संस्कारवदात्म-संयोग-द्वारेणैव अवघात-हेतुत्वं संस्कारस्य स्यादिति अविशेषात् प्रोक्षिताऽप्रोक्षित-व्रीहीणां ग्रहणे सम्प्राप्ते प्रोक्षिता एवेत्यवधारणमनुपपन्नं स्यादिति व्रीहिष्वेव संस्कार आस्थेयः । व्रीहि-

का अवच्छेदक मानना चाहिये । (यही नित्य-शक्ति-वादी मीमांसकों का मत है ।)

परन्तु नित्य-शक्ति-वाद भी प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि अनित्य-शक्ति-वाद के समान ही इस पक्ष में भी अनन्त प्रतिबन्धकों में शक्ति-कुण्ठक अनन्त शक्तियों की तथा अनन्त उत्तेजकों में अनन्त शक्ति-कुण्ठितत्व-विनाशक शक्तियों की कल्पना की अपेक्षा उत्तेजकाभाव-विशिष्ट-प्रतिबन्धकाभाव को दाहादि-कार्य का कारण मान लेना ही प्रामाणिक तथा लाघवानुगत है ॥ १० ॥

पुन: मीमांसक का पूर्व-पक्ष है कि "प्रोक्षित व्रीहियाँ ही अवघात के लिए उपयुक्त हो सकती हैं" इस विधि-वाक्य से अवघात तथा प्रोक्षण में प्रतिपादित कार्य-कारण-भाव की उपपत्ति के लिए अपेक्षित प्रोक्षण तथा अवघात में अव्यवहित पौर्वापर्य के साक्षात् सम्भावित न होने के कारण

एव व्रीहयः अवघाताय कल्पन्ते" इति वाक्य-शेषात् ।

किञ्च यो यद्गत-फलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठ-फल-जनक-व्यापार-जनकः, यागवत् ।

निष्ठत्वे च संस्कारस्य स्व-कार्येण अवघातेन कार्य-कारण-भावोऽपि साक्षात् एवोपपद्यते, सामानाधिकरण्यादिति तात्पर्यम् ।

अधुना संस्कारस्य व्रीहि-निष्ठत्वे युक्त्यन्तरमप्याह—किञ्चेत्यादिना । यः = प्रोक्षिणादि-विधिः । यद्गत-फलार्थितया = व्रीहि-गतावघातात्मक-फलोद्देश्येन । अत्र प्रोक्षणस्य फलम् संस्कारः, व्रीहि-गत-फलं च अवघातः, स च प्रोक्षण-तज्जन्य-संस्कारोभय-जन्य इति विवेकः । तन्निष्ठस्य = व्रीहि-निष्ठस्य, फलम् = कालान्तर-भावी अवघातः, तज्जनकस्य व्यापारस्य = प्रोक्षण-जन्यस्य अवघात-जनकस्य संस्कार विशेषस्य, जनकः भवतीति योजना ।

किञ्च 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यत्र द्वितीया-श्रुत्याऽपि प्रोक्षण-क्रियायाः कर्माणि व्रीहय इत्यवगम्यते । पर-समवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं हि कर्म-पद-प्रवृत्ति-निमित्तम् नैयायिकाः सङ्गिरन्ते इति आत्म-समवेत-प्रोक्षण-क्रिया-जन्य-संस्काराख्य-फल-शालित्वं व्रीहीणां द्वितीया-श्रुत्यापि सिद्ध्यति इत्यपि बोध्यम् ।

अपि च परिकर्षितायामुर्व्याम् उप्त' यव-धान्यादि-बीजाऽवयवि जल-पवन-संयोगात् क्रियोत्पत्तौ अवयवानाम् विभागेन असमवायिकारणीभूत-बीजावयव-संयोग-नाशात् विनश्यतीति क्रमेण समेषां द्व्यणुकानां विनाशेऽवस्थितेषु परमाणुषु यव-धान्यादि-विजातीयाङ्कुरारम्भकत्व-नियामक-जात्यभावेन यव-बीजाऽवापे यवाङ्कुरः एव, धान्य-बीजाऽवापे धान्याङ्कुरः एवेति नियमानुपपत्तिः । आधेय-निष्ठातिशय-स्वीकारे तु कृष्यादिना आहिताः अतिशयविशेषाः येषु

बीच में प्रोक्षण-जन्य एवं प्रोक्षण-जन्य-अवघात-जनक, अतएव व्यापार-पदाभिधेय, अतिशय की व्रीहि में कल्पना अत्यावश्यक है ।

दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार यजमान-निष्ठ स्वर्गादि-फलका जनक याग यजमान में स्वर्गादि-फल-जनक अपूर्वात्मक व्यापार का उत्पादन करता है उसी प्रकार व्रीहि-गत-अवघातात्मक-फल-जनक प्रोक्षण को भी व्रीहि में किसी अवघातोत्पादन-क्षम अतिशय का उत्पादन अवश्य ही करना चाहिए ।

साथ ही, प्रलय-काल में व्रीहि आदि के परमाणुओं के रूप में प्रतिपन्न हो

किञ्च व्रीह्यादीनाम् आपरमाण्वन्त-भङ्गे व्रीह्यादि-नियमानुपपत्तिः। एवम् माघ-कर्षणादिना भूमि-निष्ठा कृषि-जन्या शक्तिर्वाच्या। अत्रोत्तरम्—

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः।
स्व-गुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः॥ ११॥

परमाणुषु ते तं तं कार्य-विशेषमारभन्ते इति भवति नियमोपपत्तिः इति आशङ्कते—व्रीह्यादीनाम् इत्यादिना।

मीमांसकः साधकान्तरमप्याह—एवमिति। तथा च भोग्य-निष्ठादृष्ट-सिद्धौ तदधिष्ठाता ईश्वरादन्य एव सम्भवतीति नेश्वर-सिद्धिरिति प्राप्ते नैयायिकाचार्यः व्रीह्यादि-निष्ठां शक्तिमपाकरोति—अत्रोत्तरमित्यादिना। प्रोक्षणम् = ऊर्ध्वमुख-दक्षिण-हस्त-करणकः जल-क्षेपः। अभ्युक्षणम् = अधोमुख-दक्षिण-हस्त-करणकः जल-क्षेपः। प्रति-व्रीहि नाना-संस्कारेत्यस्य स्थाने प्रति-व्रीहि एकैक-संस्कार-कल्पने नाना-व्रीहिषु नाना-संस्काराणां कल्पने इत्यर्थकः पाठः कार्यः। अयमाशयः—मीमांसकाः हि व्रीहि-निष्ठं संस्कारं स्वीकुर्वन्ति। तत्र सकल-व्रीहिनिष्ठः एक एव संस्कारः न सम्भवति, तथा सति एक-व्रीहि-नाशेऽपि आश्रय-नाशेन संस्कार-नाशापत्तेः, आश्रय-नाशे आश्रित-नाशस्यावश्यम्भावात्। न हि यावदाश्रय-नाशस्य आश्रित-नाशकत्वम, गौरवात्। अतः यत्किञ्चिदाश्रय-नाशेऽपि आश्रित-नाशः आवश्यकः। अत एव एकस्यां शाखायां छिन्नायां वृक्षोऽपि नश्यत्येव, छिन्न-शाखे तस्मिन् 'वृक्ष' इति व्यवहारस्तु खण्ड-पट-न्यायेन पुनरपि छिन्नैक-शाखस्य अवयविनो वृक्षान्तरस्योत्पत्तिमभिप्रेत्य। छिन्नैक-शाखे अपि वृक्षे 'सोऽयं वृक्षः' इति पूर्वापर-वृक्ष-तादात्म्य-प्रतिभानं च सादृश्यादेवौ-

जाने पर पुनः सृष्टि के आरम्भ में उन परमाणुओं से, उनमें व्रीहिजनक अतिशय के माने विना, पुनः व्रीहि की ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

इसी प्रकार, माघ में जोतने से भी जमीन में एक प्रकार का अतिशय अवश्य ही मानना पड़ेगा। तभी तो फलातिशय की उपपत्ति हो सकेगी। इसके उत्तर में कह रहे हैं:—

[प्रोक्षण तथा अभ्युक्षण आदि से पुरुष का ही संस्कार होता है, प्रोक्षित या अभ्युक्षित पदार्थों का नहीं, और परमाणुओं में समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान उनके पाकजादि गुण ही उन परमाणुओं से बननेवाले कार्यों के नियामक हैं॥११॥]

प्रोक्षणादिभिः संस्कारः = अदृष्टम्, पुंसः = पुंसि, इष्टः = स्वीकृतः। प्रति-व्रीहिनाना-शक्ति-कल्पनाऽपेक्षया एकस्यैव आत्म-निष्ठस्यादृष्टस्य प्रोक्षणादि-जन्यावघात-जनकस्य लाघवेन कल्पनात्। दृष्ट-द्वाराऽभावे सति

षध्यादाविवेति। एवं च सति एकस्यापि व्रीहेः नाशे संस्कार-नाशात् अवघाताभाव-प्रसक्ति-भिया सकल-व्रीहि-निष्ठः एक एव संस्कारः न युक्ति-सह इति नाना-व्रीहिषु नाना-संस्काराभ्युपगमे गौरवमिति कृत्वा एक एव संस्कारः आत्म-निष्ठः लाघवात् स्वीकर्त्तव्य इति न भोग्य-निष्ठत्वमदृष्टस्य सम्भवति इति। एते—स संस्कारः अवघातात्मक-फल-सामानाधिकरण्य-प्रयुक्त-लाघवात् व्रीहि-निष्ठ एव, तेन तत्समवहितत्वं व्रीहेः साक्षात्सम्बन्धेन, पुरुष-निष्ठत्व-कल्पने तु व्रीहीणां साक्षात्सम्बन्धाभावात् अदृष्टवदात्म-संयोगात्मकेन परम्परा-सम्बन्धेनैव व्रीहीणां तत्समवहितत्व-कल्पने गौरवात्—इत्यपि प्रत्युक्तम्, उक्तरीत्या अनन्त-व्रीहि-निष्ठानन्त-संस्कार-कल्पना-गौरवापेक्षया परम्परा-सम्बन्धेन आत्म-निष्ठैकादृष्ट-कल्पने एव लाघवावतारस्य स्फुटत्वात्। तदेवं प्रोक्षणादिः व्रीहिषु संस्कारं न जनयति इति स्थितम्।

यद्वा प्रति-व्रीहि नाना-संस्कारेत्यादिः यथा-श्रुत एव ग्रन्थः साधुः। तथा हि—सकल-व्रीहि-निष्ठस्य एकस्य संस्कारस्य कल्पने यथाकथञ्चित् एक-व्रीहि-नाशे उक्त-रीत्या प्रथमस्य संस्कारस्य नाशः अवशिष्टेषु च व्रीहिषु पूर्व-संस्कार-सजातीय-संस्कारान्तरस्य खण्ड-पट-न्यायेन उत्पत्तिः इति प्रथमातिरिक्तेषु व्रीहिषु संस्कार-द्वयम्, एवं द्वितीय-व्रीहि-नाशे द्वितीयस्यापि संस्कारस्य नाशात् तृतीयादिषु व्रीहिषु तृतीयः संस्कारः पूर्व-पूर्व-संस्कार-सजातीयः कल्प्य इति रीत्या प्रथमातिरिक्त-व्रीहिषु नाना-संस्कारोत्पत्ति- सम्भावनेति अभिप्रायेण प्रति-व्रीहीत्यादि-कथनमिति वदन्ति।

ननु यदि प्रोक्षणम् व्रीहिषु संस्कारं न जनयति तर्हि तत् पुरुष-निष्ठ-संस्कारमपि न जनयति इत्येव कल्प्यताम् इत्यत आह—दृष्ट-द्वाराऽभावेत्यादि। दृष्टं क्लृप्तम् न तु अदृष्टान्यत्वम्, अन्यतराऽसि-

प्रोक्षण आदि से 'संस्कारः' अर्थात् अदृष्ट, 'पुंसः' अर्थात् पुरुष में ही, माना जाता है, क्योंकि प्रत्येक-व्रीहि मे अनन्त संस्कारों की अपेक्षा प्रोक्षक आत्मा में ही लाघव होने के कारण एक अदृष्ट की प्रोक्षणादि-जन्य अवघातात्मक-फल के उत्पादक के रूप में कल्पना कर ली जाती है। और भी, कालान्तर-भावी फलके

विहितस्य कालान्तर-भावि-फलानुकूलस्य धर्म-जनकत्व-कल्पनाच्च। संस्कृतो व्रीहिरित्यादि-प्रत्यय-बलाच्च तस्य स्वरूप-सम्बन्धेनैव व्रीहि-निष्ठत्वं कल्प्यते। एतेन अभिमन्त्रित-पयः-पल्लवादावपि तत्तत्फलानुकूलमदृष्टं पुरुष-निष्ठम्। व्रीहीन् इति च सक्तून् प्रोक्षति इत्यादाविव प्रोक्षणादि-जन्य-

द्धेरिति बोध्यम्। विहितस्य = विधि-विषयीभूतस्य प्रोक्षणादि-कर्मणः। एतच्च विशेषणं हेतुगर्भम्। तथा च यतः प्रोक्षणादि-कर्मणः विहितत्वम् अत एव फलानुकूलत्वम्, फलञ्च यदि कालान्तरे सम्भवेत् तदा तत्कारणीभूतस्य कर्मणः स्वतः कार्याऽव्यवहित-पूर्व-वृत्तित्वासम्भवेन स्व-व्यापार-द्वारैव पूर्व-वृत्तित्वं निर्वाह्यमिति सिद्धं तादृशस्य प्रोक्षणादि-कर्मणः स्व-फलोत्पादन-व्यापारीभूतादृष्ट-कल्पकत्वमिति तात्पर्यम्। नन्वेवम् अदृष्टवदात्म-संयोगाख्य-परम्परा-सम्बन्धस्य प्रोक्षिताऽप्रोक्षित-व्रीहि-साधारण्यात् अप्रोक्षित-व्रीहावपि अवघातः प्रसज्ज्येत, किञ्च अदृष्टस्य व्रीहि-निष्ठत्वाभावे संस्कृतो व्रीहिः इति नोपपद्यते अत आह—संस्कृतो व्रीहिरित्यादि। तस्य = अदृष्टस्य। स्वरूप-सम्बन्धेन = अदृष्ट-जनक-प्रोक्षण-जनकाभिप्राय-विषय-सम्बन्धेनेत्यर्थः।

एतेन = उक्तरीत्या अदृष्टस्य भोक्तृ-निष्ठत्व-व्यवस्थापनेन। पुरुष-निष्ठमित्यतः परम् एवेति शेषः। एष च ग्रन्थः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः इति मूले प्रयुक्तस्य आदि-शब्दस्य तात्पर्य-संग्राहकः। ननु संस्कारस्य-प्रोक्षण फलस्य व्रीहि-निष्ठत्वे व्रीहीणां परसमवेत-प्रोक्षण-क्रिया-जन्य-संस्कारात्मक-फल-शालितया कर्मत्वं सूपपादम्, पुरुष-निष्ठत्वे तु तन्न स्यादिति कथं नैयायिकमते व्रीहीन् इत्यत्र कर्मत्वोपपत्तिरिति शङ्कायामुत्तरमाह—व्रीहीनित्यादि। अयमाशयः—सक्तून् प्रोक्षति इति न विधिरिति स्पष्टमेवेति न तत्र प्रोक्षणेन कुत्राऽपि संस्कारोत्पत्तिः कस्यापि

जनक के रूप में विहित कर्म अपनी कारणता के उपपादन के लिए व्यापार-सापेक्ष होता है। वह व्यापार यदि क्लृप्त नहीं होता है तो अन्ततः अदृष्ट का ही व्यापार के रूप में कल्पन उचित होता है। वह अदृष्ट व्रीहि में अनुपपन्न होने के कारण पुरुष में ही उत्पन्न होता है। यद्यपि वह अदृष्ट समवाय सम्बन्ध से तो आत्म-निष्ठ है तथापि अदृष्ट-जनक-प्रोक्षण-जनकाभिप्राय-विषयत्व सम्बन्ध से वह व्रीहि में भी है। इस परम्परा-सम्बन्ध से व्रीहि तथा अदृष्ट को सम्बद्ध करने का कारण हैं 'संस्कृतो व्रीहिः' इस प्रकार की प्रतीति, जिससे संस्कार का व्रीहि-निष्ठत्व प्रतीत होता है। इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है

जल-संयोगादि-रूप-पर-समवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालितया कर्मता । यो यद्गत-फलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठ-फल-जनक-व्यापार-जनक इति च शत्रु-निष्ठ-वधाद्यर्थ-क्रियमाण-श्येनादौ स्व-निष्ठ-फल-जनके व्यभिचारि ।

सम्मता । एवं च यथा तत्र धात्वर्थतावच्छेदकीभूतस्य जल-संयोगस्य फलस्य आश्रयत्वेन कर्मत्वम् तथैव प्रकृतेऽपि इति न संस्काराश्रयस्यैव कर्मत्वमिति नियमः सिद्ध्यति येन व्रीहीणां प्रोक्षण-क्रिया-निरूपितं कर्मत्वं भज्येतेति । यदि त्वेवमपि व्रीहीन् प्रोक्षति इत्यत्र संस्काराश्रयत्वेनैव कर्मत्वमिति दुराग्रहः तर्हि स्वरूप-सम्बन्धेनैव व्रीहीणां संस्काराश्रयत्वमप्यस्तु इति मिश्राः ।

शत्रु-निष्ठेत्यादि । अयमाशयः—"श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादिना विहिते श्येन-यागे शत्रोरेव वधाश्रयत्वेन उद्देश्यतया शत्रु-वधस्यैव फलत्वम्, तज्जनकीभूतश्च श्येन-याग-जन्योऽदृष्टात्मको व्यापारः मीमांसकैरपि कर्तृ-निष्ठः फल-व्यधिकरण एव स्वीकार्यः। तथा च यथा तत्र यो यद्गतेत्यादि-नियमो न आद्रियते तथैव प्रकृतेऽपि इति न तस्य नियमस्याव्यभिचरितत्वम् इति भावः। ननु श्येन-याग-जन्यापूर्वमस्तु शत्रावेवेति चेत्? न, "शास्त्र-देशितं फलमनुष्ठातरि" इत्यस्य बाधकं विना त्यागाऽयोगात्। तथा च श्येन-याग-जन्यम् कर्त्तृ-निष्ठम् अदृष्टमेव पूर्वोपार्जित-शत्रु-निष्ठाधर्मस्य शत्रु-वधे जनयितव्ये सहकारि इति बोध्यम्। मैथिलोपाध्यायास्तु—ननु तादृशाऽपूर्वस्य कथं न शत्रु-निष्ठतेति चेत्? तस्य धर्मत्वे स्व-समानाधिकरण-वधादिरूप-फल-जनकत्वानुपपत्तिः, अधर्म-रूपत्वे विहित-श्येन-साध्यत्वानुपपत्तिरिति शत्रु-वध-साध्य-सुख-निष्पादकमपूर्वं धर्म्म-रूपं कर्त्तर्येवोत्पद्यते—इति प्रवदन्ति ।

कि जल, पल्लव आदि के अभिमन्त्रण से भी अदृष्ट अभिमन्त्रण करनेवाले व्यक्ति में होता है न कि उन जल, पल्लव आदि में। जिस प्रकार आत्म-प्रोक्षण-क्रिया-जन्य जल-संयोगात्मक फल के आश्रय होने से 'सक्तून् प्रोक्षति' इस वाक्य में प्रयुक्त सक्तु शब्द से द्वितीया हो जाती है उसी प्रकार प्रोक्षणजन्य जल-संयोग के आश्रय होने के कारण ही 'व्रीहीन्' में द्वितीया भी उपपन्न है। जो कर्म जिस वस्तु में फल के उत्पादन के लिए किया जाता है वह कर्म उस वस्तु में (फल के कालान्तर-भावी होने पर) एक फलानुकूल अतिशय का भी उत्पादन करता है—यह कथन तो श्येन-याग में व्यभिचरित है, क्योंकि श्येन-यागका फल होता है शत्रु में, परन्तु अदृष्ट का उत्पादन होता है श्येन-याग-सम्पादक यजमान में।

यवाद्युत्पत्ति-नियमार्थमाह—स्व-गुणाः परमाणूनां पाकजादयो विशेषाः = विशेषकाः। तेन पाकज-रूप-रसाऽऽदि-विशिष्टाः परमाणवः तत्तत्कार्यमारभन्ते। चिकित्सा-स्थले तु धातु-साम्यमेव भेषज-पानस्य

व्रीह्यादीनामापरमाण्वन्त - भङ्गे व्रीह्यादि - नियमानुपपत्त्या व्रीह्यादि-बीजावयवीभूतेषु परमाणुषु कृष्यादि-जन्यः अतिशय-विशेषः स्वीकार्य इत्याशङ्कामपनयति—यवाद्युत्पत्तीत्यादि-वाक्येन। अयमाशयः—यत्र दृष्ट-द्वाराऽभावः तत्रैवादृष्ट-कल्पनमिति नियमस्य आवश्यकत्वेन कृष्यादिना परमाणौ अतिशयाधानमेव न भवति, तत्र परमाणु-वर्त्तिनाम् पाकजादीनामेव कार्य-नियामकत्वम् इति। यव-बीजारम्भकाः परमाणवः पूर्वं धान्यादि-बीजारम्भक-परमाणु-व्यावृत्तैः यैः पाकज-विशेषैः धान्यादि-बीज-विलक्षणं यव-बीजमारब्धवन्तः तैरैव तज्जातीयैरेव वा प्राचीनैः पाकज-विशेषैः विशिष्टाः सन्तः परमाणवो यव-बीजमेवारभन्ते न धान्यादि-बीजम् इति तु परमार्थः। अवश्यं च परमाणुष्वपि पाकज-विशेषाः स्वीकार्याः, कथमन्यथा तत्कार्येषु यवादि-बीजेषु तेषामुपलब्धिः स्यात्, पाकजानां रूपादीनाम् कारण-गुण-पूर्वकत्वस्य प्रमाण-सिद्धत्वात्। एते च पाकज-विशेषाः प्रलयेऽपि आत्मनि अदृष्टादिवत् परमाणुषु वर्त्तन्त एवेत्यलम्विस्तरेण। चिकित्सया कालान्तर-भाविनः आरोग्यात्मकस्य फलस्य उत्पादनाय शरीरे कस्यचिदतिशयस्याधानमवश्यमङ्गीकार्यमित्यत्राह—चिकित्सा-स्थले त्वित्यादि। अयमर्थः—यत्र दृष्ट-द्वाराभावः तत्रैव अदृष्टस्य कल्पनमभिमतम्, न सर्वत्र तथा सति अतिप्रसङ्गात। एवं च चिकित्सया कालान्तर-भाविनः फलस्यारोग्यात्मकस्य सम्पादनाय शरीरेऽतिशयाधानं नावश्यकम्, तत्र दृष्टस्यैव धातु-साम्यस्य वात-पित्त-कफ-परिष्कारस्य व्यापारस्य स्फुटमुपलम्भात् इति। चिकित्सा-

प्रलय-कालीन यवादि-परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति के समय पुनः यवादि की ही उत्पत्ति में व्यवस्था का कारण बतला रहे हैं :—'स्व-गुणाः परमाणूनाम् पाकजादयः'। उन यवादि-परमाणुओं में रहनेवाले उनके पाकजादि गुण ही 'विशेषाः' अर्थात् नियामक हैं, जिससे सृष्टि के प्रारम्भ में पाकज रूप, रस आदि गुणों से विशिष्ट परमाणु तत्तत् कार्य के ही आरम्भक होते हैं। चिकित्सा के प्रसङ्ग में किये गये औषधि-पानात्मक कर्म से रोग-नाशात्मक फल की उत्पत्ति के लिए तो कफ-पित्तादि धातु की अनुकूलता ही व्यापार के रूप में

रोगादि-नाशे फले जनयितव्ये द्वारम् इति भावः ॥ ११ ॥

ननु यत्र न पाकजो विशेषः तत्र वाय्वादौ कथमुद्भूत-स्पर्शादि, करकादौ च प्रतिरुद्धं द्रवत्वम् इति ? कथं च प्रतिमादौ प्रतिष्ठादेरुपयोगः ?

धातु-साम्यापादन-द्वारा कालान्तर-भाव्यारोग्य-फलं जनयितुमलमिति न तत्राप्यतिशय-स्वीकारापेक्षेति हृदयम् । एतेन माघ-कर्षणात् भूमौ अतिशयाधानमित्यपि निराकृतम् भवतीति अन्यत्र विस्तरः ॥ ११ ॥

अस्तु नाम पार्थिवेषु पाकज-स्पर्शादि-विशेष-निमित्त एव कार्य-विशेष-नियमः परन्तु यत्र अवादिषु पाकज-विशेषाभावः तत्र कार्य-विशेष-नियामिका शक्तिः स्वीकार्यैवेत्याशङ्कते—नन्वित्यादिना । वाय्वादावित्यादिना जल-तेजसोः परिग्रहः । इदानीं पार्थिवेष्वपि सर्वत्र पाकज-विशेषाद्व्यवस्था न सम्भवतीत्याशङ्कते—कथं च प्रतिमादाविति । अयमर्थः—प्रतिष्ठादिना संस्कृतस्य प्रतिमादेः पूजने धर्मः व्यतिक्रमे च अधर्मः, असंस्कृतस्य पूजनाऽपूजनाभ्याञ्च न किञ्चिदिति कार्य-विशेषः स्फुटः । तत्र प्रतिमायाः स्वरूपतः निर्विशेषतया कार्यविशेष-व्यवस्थापनाय अवश्यम् तत्र प्रतिमायाम् प्रतिष्ठिादि-जन्या काचन शक्तिरास्थेया । न च तद्विशेषः यजमान-निष्ठादृष्ट-प्रयुक्त एव, अन्य-समेवत-धर्मस्य अन्यत्र कार्य-विशेषाप्रयोजकत्वात्, अन्यथा विध्यविधि-पूजकयोः तुल्यादृष्टयोः पूजने अदृष्ट-साम्यम्, चाण्डाल-स्पृष्टास्पृष्टयोः च समानादृष्ट-प्रयोजकत्वं प्रसज्ज्येत । किञ्च यजमान-धर्मस्य भोगेन प्रक्षये प्रतिमायाः अपूज्यत्वमप्यापद्येत । तस्मात्

क्लृप्त है, अतएव वहाँ तो अदृष्ट की व्यापार के रूप में कल्पना का कोई प्रश्न ही नहीं है ॥ ११ ॥

मीमांसकों का पुनः पूर्व पक्ष है "ठीक है, पार्थिव परमाणुओं में पाकज-गुण-विशेष-प्रयुक्त व्यवस्था सम्भावित है; परन्तु जहाँ पाकज-गुणों का समवाय नहीं है उन वायवीय-परमाणुओं से तथा जलीय-परमाणुओं से सृष्टि के समय उत्पद्यमान पदार्थों में क्रमशः वायु का उद्भूत अनुष्णाशीत स्पर्श तथा करका में द्रवत्व का प्रतिरोध, उन परमाणुओं में किसी अतिशय के माने बिना, कैसे उपपन्न हो सकता है ? और प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि का क्या उपयोग है यदि प्रतिष्ठा से उनमें किसी प्रकार का नवीन अतिशय न होता हो ? अतः प्रतिष्ठादिकों के उपयोग के समर्थन के लिए यह आवश्यक है कि उन प्रतिमाओं

तथा च प्रतिष्ठा-जन्या शक्तिश्चाण्डालादि-स्पर्श-नाश्या पूज्यता-प्रयोजिका स्वीकार्या इत्यत्राह—

निमित्त-भेद-[1]संसर्गादुद्भवाऽनुद्भवादयः ।
देवताः[2] सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥ १२ ॥

निमित्त-भेदः = अदृष्ट-भेदः। देवताः प्रतिष्ठा-विधिना, सन्निधानेन = प्रतिष्ठादिना प्रतिमादौ अवश्यमेव कार्य-विशेष-प्रयोजकः कश्चन शक्ति-विशेषोऽभ्युपगन्तव्य इति। तदेतदाह—तथा चेत्याविना। अत्रोत्तरम् अवतारयति—अत्राहेत्यनेन।

अदृष्टेति—एतच्चोपलक्षणम् अन्येषामपि वैद्युताग्नि-संयोगादीनाम्। तथा च कणभुक्सूत्राणि—

"अपां सङ्घातो विलयनञ्च तेजः-संयोगात्",
"तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्,"
"वैदिकं च" इति। तथा च तेजोविशेष-संयोगेन भोक्तृ-निष्ठादृष्ट-विशेष-प्रभावतश्च जलादावुद्भवादिः उपपद्यते इति नाधेय-शक्तिः स्वीकार्या गौरवात् इति सिद्धम्। अनुद्भवादयः इत्यत्र आदि-पदात् प्रतिरुद्ध-द्रवत्वादिः गृह्यते।

ननु सन्निधानं सन्निधिरिति स्वीकृते ऐरावताद्यारूढेन्द्रादेरागमने प्रतिमायाम् लघ्वी प्रतिमा भज्येतैवेति कथं तत्र पूजादिः सम्पद्येत

में प्रतिष्ठा आदि विधियों से उत्पन्न होनेवाली तथा चाण्डालादि-स्पर्श से नष्ट हो जानेवाली किसी प्रकार की शक्ति अवश्य ही उत्पन्न होती है"। इस पूर्व-पक्ष के खण्डन के लिए कह रहे हैं :—

[उन पदार्थों के भोक्ता जीव के अदृष्ट–विशेष के सम्बन्ध से ही वायु-परमाण्वादि-जन्य पदार्थों में उद्भूत-स्पर्शादि की उपपत्ति हो जाती है। अतः उन परमाणुओं में किसी प्रकार का अतिशय मानना अनावश्यक है। इसी तरह, प्रतिमाओं में पूज्यता भी प्रतिष्ठा-विधि से देवताओं के तत्तत्प्रतिमा में स्व-तादात्म्य के आहार्य-ज्ञान अथवा स्वीयत्व के आहार्य-ज्ञान के आधार पर ही उपपन्न हो जाती है। अतः प्रतिमाओंमें भी प्रतिष्ठा आदि से शक्ति-विशेष की उत्पत्ति का अभ्युपगम अनावश्यक है ॥ १२ ॥]

'निमित्त-भेदः' अर्थात् अदृष्ट–विशेष। देवता अपनी प्रतिमा में अपने

---

१. 'संयोगात्' इति 'ग' पुस्तके पाठः, बोधिन्यामपि प्रायः एवमेव पाठः।

२. 'देवता-सन्निधानेन' इति 'घ' पुस्तके, आमोदे विवेके च देवता सन्निधानेनेति पाठः स्वीकृतोऽपि भिन्नार्थकः।

अहङ्कार - ममकारादिना, आराधनीयतामासादयन्ति । प्रतिष्ठा-विधिना देवतानां प्रतिमादौ अहङ्कार-मम-कारौ, चाण्डालादिस्पर्शे च तादृशाभिमानाऽभावः । देवता-चैतन्य-विवादेऽपि यथार्थपूजितत्व-धीः प्रतिष्ठितत्व-धीश्च चाण्डालादि-स्पर्शाद्यभाव-विशिष्टा पूज्यता-नियामिका,

इत्यत आह—अहङ्कारेत्यादि । अहमियं प्रतिमा इत्यहङ्काराभिमानः, ममेयम्प्रतिमा इत्याकारकश्च मम-काराऽभिमानः इत्यर्थः । यद्यपि विशेष-दर्शिनां देवानां न भ्रम-सम्भवः तथाऽपि आहार्यारोपात्मकः स विवक्षितः । स च आरोपः क्षणिकतया तृतीय-क्षणे विनष्टोऽपि स्व-जन्यं संस्कारं तत्र निक्षिपत्येवेति अहङ्काराभिमानाद्युपपत्तिः । अस्पृश्य-स्पर्शादिना च स संस्कारः विनाश्यते । तदाहुर्मणि-कृतः—"ज्ञानस्य नाशेऽपि संस्कार-सत्त्वात्, अस्पृश्य-स्पर्शादिना तु तन्नाशः" इति । तदेतदाचष्टे वृत्ति-कृत् स्वयमेव—प्रतिष्ठा-विधिनेत्यादिना । देवता-चैतन्य-विवादेऽपि इति—इतः पूर्वम् आधेय-शक्ति-वादिनां मीमांसकानामिति पूरणीयम् । पूजितत्व-धीः इति—पूर्वैः पूजिता इयं प्रतिमेति ज्ञानं प्रमात्मकम् । अत एव पूज्यता-नियामिकेति अग्रिम-ग्रन्थस्य पूज्यता धर्म-जनिकैव ग्राह्या, यत्र तु पूजितत्व-भ्रमेण अपूज्यायाः एव पूजा तत्र सा न धर्म-जनिकेति भावः । परन्तु सर्वेषां पूजितत्व-प्रमाऽसम्भवात् प्रथम-पूजायाम् तस्याः असम्भवाच्च कल्पान्तरमाह—प्रतिष्ठितत्वधीरिति । पूर्वैः प्रतिष्ठापिता इयं प्रतिमेति यथार्थ ज्ञानमित्यर्थः । सत्यपि तथा-विध-ज्ञाने चाण्डालादि-स्पर्शादि-सम्भवे पूजायाः न धर्म-जनकत्वम् इत्यतः धियो विशेषणमाह—चाण्डालादि-स्पर्शाद्यभावेति । एतच्च उभयत्र विशेषणम् इति ध्येयम् ।

'सन्निधानेन' अर्थात् स्वत्व अथवा स्वीयत्व (यह मैं ही हूँ अथवा यह मेरी प्रतिमा है इस तरह के आहार्य-ज्ञान) की भावना से ही पूजित होते हैं, न कि उस प्रतिमा में प्रतिष्ठा से कोई अतिशय उत्पन्न होता है । प्रतिष्ठा-विधि से प्रतिमाओं में देवताओं का तादात्म्यारोप अथवा आत्मीयत्वारोप होता है और चाण्डालादि के द्वारा उन प्रतिमाओं के स्पृष्ट हो जाने पर देवताओं का उपर्युक्त आरोप नष्ट हो जाता है; अतएव पूजन नहीं होता है । यद्यपि देवता चेतन होते हैं या अचेतन, यह विषय विवाद-ग्रस्त है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन प्रतिमाओं के विषय में पूर्व-पूजितत्व का यथार्थ-ज्ञान तथा (अथवा) उन प्रतिमाओं के पूर्व-प्रतिष्ठितत्व का यथार्थ ज्ञान, चाण्डालादि के स्पर्शादि

तत्र च उपयोगिनी प्रतिष्ठा ।

वस्तुतस्तु प्रतिष्ठा-कालीन-यावदस्पृश्य-स्पर्शाऽनादि-संसर्गाऽभाव-प्रतिष्ठेति--तथा च न तद्वैयर्थ्य-शङ्का कार्या इति भावः ।

प्रतिष्ठितं पूजयेदिति-नियम-बलात् प्रतिष्ठा-ध्वंसस्यैव पूज्यता-प्रयोजकत्वावगमे उक्त-ज्ञानस्य तथात्व-कल्पनमनावश्यकमिति हेतोः चिन्तामणि-कार-मतमाह—वस्तुतस्त्विति । अत्र प्रतिष्ठा-कालीनेति अनादि-संसर्गाऽभाव-विशेषणम् । यावत्पदं च सम-संख्यकत्वमभावस्य ग्राह्यमिति बोधयितुम् । तथा च प्रतिष्ठा-कालीनाऽस्पृश्य-स्पर्शानाद्य भाव-सम-संख्यकः अस्पृश्य-स्पर्शाऽनादि-संसर्गाभावः इति प्रतिफलति । प्रतिष्ठा-काले यावान् अस्पृश्य-स्पर्शादि-प्रतियोगिकः अनादिः संसर्गाभावः तावानेव यदि प्रतिष्ठा-ध्वंस-कालेऽपि तर्हि प्रतिमायाः पूज्यत्वम्, इतरथा तु नेति सरलार्थः । अनादिः संसर्गाभावश्च द्विविधः-- प्रागभावः, अत्यन्ताभावश्च । ध्वंसश्च अनन्तोऽपि साऽऽदिरिति व्यक्तमेव । तत्रैवं गतिः--क्रिया-विशेषात्मिका प्रतिष्ठा तृतीय-क्षणे नश्यत्येव । तथा च यदि प्रथम-क्षणे प्रतिष्ठोत्पत्तिः, तदानीम् अस्पृश्य-स्पर्शस्य द्वौ अभावौ प्रागभावः अत्यन्ताभावश्च; द्वितीय-क्षणे-प्रतिष्ठायाः स्थितिः अस्पृश्य-स्पर्शश्च; तृतीये क्षणे प्रतिष्ठायाः नाशः अस्पृश्य-स्पर्श-क्रियायाः स्थितिश्च; चतुर्थ-क्षणे ध्वंसस्य अनन्ततया सत्त्वमेव, अस्पृश्य-स्पर्श-क्रियायाश्च ध्वंसः भवति, तदानीम् (चतुर्थ-क्षणे) अस्पृश्य-स्पर्शस्य ध्वंसात्मक अभाव: अत्यन्ताभावश्च वर्त्तते, तत्र प्रतिष्ठा-कालीन-यावदस्पृश्य-स्पर्शाभाव-मात्रस्य प्रयोजकत्वे पूज्यत्वापत्तिः तद्वारणाय अभावस्य अनादीति विशेषणम् । तथा च प्रतिष्ठा-काले प्रथमे क्षणे द्वौ अनाद्यभावौ प्रागभाव. अत्यन्ताभावश्च, चतुर्थ-क्षणे तु अस्पृश्य-स्पर्शस्य एक एव अनादिरभाव. अत्यन्ताभाव., प्रागभावस्य द्वितीय-क्षणोत्पन्नास्पृश्य-स्पर्शेन विनष्टत्वात् इति प्रतिष्ठा-कालीनानाद्यभावयोः प्रतिष्ठा-ध्वंस-कालीनानाद्यभावेनैकेन न सम-संख्यकत्वमिति नाऽति-प्रसङ्गः । यत्र तृतीयादि-क्षणे पुनः प्रतिष्ठा

के अभाव से विशिष्ट होने पर प्रतिमाओं की पूज्यता का नियामक है और पूज्यता-नियामक उक्त ज्ञान-विशेष के उद्भावन में प्रतिष्ठा का उपयोग होता है। अत. प्रतिष्ठा भी निरर्थक नहीं है।

वस्तुत: प्रति ;ा के समय अस्पृश्य-स्पर्श के जितने हीं अनादि संसर्गाभाव

(सहकृतः) प्रतिष्ठा-ध्वंसः [कालीनः] पूज्यता-प्रयोजकः, "प्रतिष्ठितम्

तत्र द्वितीय-प्रतिष्ठा-ध्वंस-कालेऽपि अस्पृश्य-स्पर्शस्य एक एवानादिः संसर्गाभावः अत्यन्ताभावात्मकः, प्रथम-प्रतिष्ठा-काले च द्वौ अनाद्यभावौ इति प्रथम-प्रतिष्ठा-कालमादाय समन्वयः न सम्भवति इति हेतोः तत्र द्वितीय-प्रतिष्ठाया एव लक्षण-घटकत्वमवधेयम्।

आलोककृतस्तु—"तावदभाव-सहित-प्रतिष्ठा-ध्वंसस्य हेतुत्वे तावन्तोऽभावा अपि हेतव इति ध्रुवम्; तथा च अनाद्यनन्तभावे साद्यभावानामपि जनकत्वमिति बहूनां जनकत्वे गौरवमित्यल्प-जनकत्व-लाघवेन सादि-व्यावर्त्तनार्थमनादिपदोपादानम्" इत्याचक्षते।

अन्ये तु—प्रतिष्ठा-कालीनत्वेन प्रतिष्ठोत्तर-कालीनत्वं विवक्षितम्, तदपि स्पर्शादि-विशेषणम् न तु अभाव-विशेषणम्। एवं च प्रतिष्ठित-प्रतिमायामपि अस्पृश्य-स्पर्शादौ जाते तदनन्तरम् तद्ध्वंसम् अन्योन्याभावञ्च आदाय प्रतिष्ठा-ध्वंसस्य प्रतिष्ठा-कालीनास्पृश्य-स्पर्शाभाव-सम-संख्यकत्वेन पूज्यतापत्ति-वारणाय अनादि-पद-संसर्ग-पदोपादानम्। तथा च सति पूर्वम् अस्पृश्य-स्पर्शाश्रये प्रतिमादौ एव अस्पृश्य-स्पर्शादेः अनादि-संसर्गाभावस्य न सत्त्वम्, प्रागभावस्य प्रतियोगि-तद्ध्वंसाऽसमान-कालीनत्वात्, अत्यन्ताभावस्य च प्रतियोग्यसमानाधिकरणत्वादिति नोक्तातिप्रसङ्गः इति वदन्ति।

संसर्गाभावः इति—संसर्गाभाव-सहकृत इत्यर्थः। प्रतिष्ठा-ध्वंसेति—अत्र प्रतिष्ठा-ध्वंसकालीनेत्यपपाठः, 'प्रतिष्ठितं पूजयेत्' इत्यनेन तादृश-संसर्गाभाव-प्रतिष्ठा-ध्वंसयोः प्रतिष्ठा-ध्वंसस्यैव विशेष्यत्वे विनिगमक-प्रदर्शनादित्यवधेयम्। क्तेनेति—भूतार्थक-क्त-प्रत्ययेनेत्यर्थः।

ननु यत्र प्रतिष्ठित-प्रतिमायाः मार्जनादिना किञ्चिदवयव-नाशान्नाशः तत्साजात्यमालम्बमाना सैवेयमित्येकत्व-प्रत्यभिज्ञान-विषया अन्या प्रतिमा जाता तत्र आचार-सिद्धं पूज्यत्वमेतस्मिन् पक्षे नोपपद्यते, प्रतिष्ठा-ध्वंसस्यैव पूज्यता-प्रयोजकत्वमिति हि मतम्, ध्वंसश्च स्व-प्रतियोग्यधिकरणे एव वर्त्तते, प्रकृते च ध्वंसस्य प्रतियोगिनी प्रतिष्ठा, तदधिकरणीभूता पूर्व-प्रतिमैव नाऽस्ति कुतस्तत्र तन्निष्ठ-प्रतिष्ठा-प्रतियोगिक-ध्वंसस्य सत्त्व-सम्भावनाऽपीति वक्तव्यम्? तथा च तत्पूजा निष्फला स्यात्। ध्वंसश्च स्वरूपेणैव प्रयोजकः न तु

रहते हैं उतने ही अनादि संसर्गाभाव से सहकृत प्रतिष्ठा-ध्वंस ही देवता-प्रतिमा

-पूजयेत्" इति क्तेन प्रतिष्ठा-ध्वंसस्यैव प्राप्तेरिति दिक् ॥ १२ ॥

न नु तुला-परीक्षा-विधिना शक्तिः तुलादौ जन्यते, तया नमनोन्नमना-तत्प्रतिमा-वृत्तित्वेनेति तु वक्तुमशक्यम्, तथा सति तद्ध्वंसस्य प्रतिमान्तर-पूज्यता-प्रयोजकत्वे अतिप्रसङ्ग इति नेदं मतमुपपन्नमिति चेत् ?

उच्यते—इयं प्रतिमा प्रतिष्ठितेति बुद्धेः खण्ड-प्रतिमायामपि प्रमात्व-व्यवहारात्तत्रापि ध्वंसस्य सत्त्वमेव। प्रतिमान्तरे च तदभावात्पूज्यत्वाभावः। अत एव प्रोक्षित-व्रीहीणां यत्किञ्चिदवयव-नाशान्नाशेऽपि खण्ड-व्रीहीणामुपयोगः, संस्कृता एते व्रीहयः इति प्रतीत्या तत्रापि पुरुष-समवेत-संस्कार-सम्बन्ध-सिद्धेः। अन्यथा सर्वमिदं तत्रापि तुल्यम् इति रुचिदत्तोपाध्यायाः प्रवदन्ति।

चण्डीदासास्तु—तत्प्रतिमा-प्रतिष्ठा-कालीन-यावदस्पृश्य-स्पर्शनाऽभावस्य तत्प्रतिमाऽऽरम्भक-संयोग-मात्रारभ्य-पूज्यता-प्रयोजकत्वमिति समादधते; तच्चिन्त्यम्।

अस्मत्पितृचरणास्तु—तथाविध-प्रतिष्ठा-ध्वंसः स्व-प्रतियोग्याश्रयाऽतिरिक्तानारब्ध-प्रतिमायाः पूज्यत्व-प्रयोजक इति प्राहुः।

तर्क-वागीशास्तु—अत्र 'प्रतिष्ठा-कालीन-यावदस्पृश्य-स्पर्शनाऽदि-संसर्गाभाव' इति पाठमङ्गीकृत्य अन्यथैव वृत्तिं व्याख्यातवन्तः। तदीयं च व्याख्यानं जिज्ञासुभिः तत एवावगन्तव्यम् इत्यलम् ॥ १२॥

पुनरपि आधेय-निष्ठां शक्तिं साधयितुं मीमांसकः शङ्केत—न नु इति। तुला-परीक्षेति—अत्र याज्ञवल्क्यः—

"तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये।
महाऽभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥" इति। शीर्षकस्थे इति—यदि अभियोक्ता (अभियुक्तो वा) "यद्यनेन अभियुज्यमानेन इदं न कृतं स्यात् तर्हि अहम् एतावद्दण्डं दास्यामि" इत्येवं पणबन्ध-पूर्वकं दिव्यं कारयति तदा स शीर्षकस्थ इत्युच्यते। एतस्याः विधिश्च तत्रैव प्रकरणे मिताक्षरादौ स्मृत्यन्तर-सम्वादेन विवृत इति

की पूज्यता का प्रयोजक है, क्योंकि "प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा करनी चाहिए" इस विधि-वाक्य में 'प्रतिष्ठितम्' में प्रयुक्त भूत-कालिक क्त-प्रत्यय के अनुसार अतीत-कालिक प्रतिष्ठा, अर्थात् प्रतिष्ठा-ध्वंस, की ही पूज्यता-प्रयोजक तत्त्व के रूप में उपस्थिति होती हैं ॥ १२ ॥

पुनः मीमांसक का पूर्व-पक्ष है :—"तुला-परीक्षा की विधि से तुला में

दिकं फलं जन्यते इत्यत्राह--

तत एवावसेयः। तत्र तुला-परीक्षायाः प्रवृत्तिः तदैव यदा अभियुक्तः (वस्तुतः पाप-कारी निष्पापो वा भवतु परन्तु) "अहं निष्पापः" इति सावष्टम्भमुद्घोषयति। एतच्च महाऽभियोगेष्वेतानीत्यादि-वाक्यादुक्त-प्रायम्। कृतायां च परीक्षायाम् निर्णय-प्रकारमाह नारदः—

"तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः।
समो वा हीयमानो वा न स शुद्धो भवेन्नरः॥" इति।

तथा च तुलिते सति तुल्यस्य उन्नमनं तस्य शुद्धिम्, अवनमनम् च तस्याऽशुद्धिं सूचयति, तथा च उन्नमनाऽवनमनाभ्यां राजा क्रमेण जय-पराजयौ निर्दिशेत् इति स्थितिः।

तत्र तुलारोहणाङ्गत्वेन विहिता अभिमन्त्रणादि-सामग्री परीक्ष्य-निष्ठ-पाप-तदभाव-ज्ञापिकेति अकारकतया परीक्ष्य-समवेत-पापाभिव्य-ञ्जकाऽवनमन-प्रयोजकं परीक्ष्य-निष्ठ-गुरुत्व-विघटनम् तत्पापाभाव-व्यञ्जकोन्नमन-प्रयोजकं तदीय-लघुत्व-विघटनं वा न कर्तुमलम्, तथा अदर्शनाच्च। अत एव साम्य-हेतु-भूतमदृष्टं च न विघटयितुमलम्, तथा सति पाप-तदभाववतोः उन्नमनमेव अवनमनमेव वा स्यात्। अत एव परीक्ष्य-समवेतमदृष्टम् उत्पादयत्यपि न, तथा सति एकस्याः सामग्र्याः धर्माऽधर्मोभय-जनकत्वाऽसम्भवेन यदि परीक्षा-सामग्र्या धर्म-जननं तदा उभयोरपि पाप-तदभाववतोरुन्नमनम्, अधर्म-जननं चेत् तदा उभयोरप्यवनमनमिति निर्णयो नैव सम्भवेत्।

तस्मात् परीक्षा-विधिना तुलादौ संस्काराधानमवश्याभ्युपेय-मित्याह—शक्तिः तुलादौ जन्यते इति। तदयं पूर्व-पक्ष-संक्षेपः—'अयम् पापकारी' इति अभियोग-विषयीकृतः पुरुषः राज्ञः समक्षम् 'अहं न पापकारी' इति उद्घोषयति; ततश्च अभियोक्ता 'यद्ययं पापी न सिद्ध्येत् तदा अहं शतं दास्यामि दण्ड-रूपेण' इति बन्धं कुर्यात्। ततश्च निर्णयार्थम् राज्ञादिष्टः अभियुक्तः तुला-परीक्षां समाश्रयेत्। तत्र च परीक्षा-विधिना तुलायां शक्तिः जायते तया च पापिनः अवनमनम्, तदभाववतश्च उन्नमनम्। तदन्ते च राजा क्रमेण पराजयं जयम्वा उद्घोषयतीति। अत्रोत्तरमुपस्तौति—अत्राहेत्यादिना।

किसी प्रकार के अतिशय की उत्पत्ति अवश्य माननी होगी, तभी तो उस तुला का नमन या उन्नमन सम्भावित है"। इस पूर्व-पक्ष के उत्तर में आचार्य कह रहे हैं :—

जयेतर-निमित्तस्य वृत्ति-लाभाय केवलम् ।
परीक्ष्य-समवेतस्य परीक्षा-विधयो मताः ॥ १३ ॥

जयस्तदितरः पराजयः, तन्निमित्तस्य अदृष्टस्य परीक्षणीय-पुरुष-समवेतस्य, वृत्ति-लाभाय = फलानुकूल-सहकारिलाभाय, परीक्षा-

परीक्षणीयेति—परीक्षणीय-पुरुषस्य वस्तुतो निष्पापत्वे तत्समवेतम् अदृष्टं धर्मात्मकम्, तत्फलम् जयः; परीक्षणीयस्य पापवत्वे तत्समवेतम् अदृष्टमधर्मात्मकम्, तस्य फलम् पराजयः इति विवेकः। **फलानुकूल-सहकारीति**—फलं जयः पराजयश्च। तदधिगमे तत्प्रयोजकस्य अदृष्टस्य धर्माऽधर्मात्मकस्य सहकारी पदार्थः फलानुकूलः सहकारीति भावः। यद्यपि मूलस्थ-वृत्ति-पदम् अभिव्यक्ति-परम्, तथापि जय-फलकस्य धर्मस्य पराजय-फलकस्य च अधर्मस्य स्वरूपतोऽतीन्द्रियतया अनुमानेनैव ज्ञानं सम्भवति, अनुमानं च लिङ्गमन्तरा न सम्भवति इति क्रमेण जय-निमित्त-धर्म-व्यञ्जकस्य उन्नमनस्य पराजय-फलकाऽधर्मानुमापकस्य अवनमनस्य च दर्शनमावश्यकम्, उन्नमनावनमनयोः उत्पत्तौ च परीक्षा-विधिः प्रयोजकः, तस्य च एकत्वेन स्वतः कुत्रचित् उन्नमनस्य कुत्रचित् अवनमनस्य प्रयोज-कत्वमनुपपन्नमिति कार्य-वैषम्योपपादकस्य सहकारि-वैषम्यस्य अपेक्षा भवति। तथा च तत्तत्सहकारि-समवहितः परीक्षा-विधिः उन्नमनम् अवनमनं वा प्रकटयति, प्रकटितं च तत् क्रमेण जय-फलकस्य धर्मस्य पराजय-फलकस्य चाऽधर्मस्य अभिव्यञ्जनं करोतीति स्थितिः। अतः सहकारिणमन्तरा जयादि-निमित्तस्यादृष्टस्याभिव्यञ्जकस्योन्नमनादेः उत्पत्तिः नैव सम्भवति, तदभावे च न जयादि-निमित्तस्यादृष्टस्य अभिव्यक्तिरिति हेतोः वृत्ति-पदमुपचरितार्थतया व्याख्यातम्—सहका-रीति इति ध्येयम्। सहकारि-विशेष-समवहितस्य परीक्षा-विधेः उन्नम-

[परीक्षणीय पुरुष में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान, अतएव उसकी जय तथा पराजय के निमित्त-भूत अदृष्ट-विशेष के अनुमापक उन्नमन तथा अवनमन के सहकारि-लाभ-मात्र के लिए ही तुला-परीक्षा-विधि की आवश्यकता होती है न कि उससे तुला आदि में किसी प्रकार का अतिशय उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥]

जय तथा उससे इतर, अर्थात् पराजय, इन दोनों के निमित्त-भूत परीक्षणीय-पुरुष-समवेत अदृष्ट (के अभिव्यञ्जक उन्नमनावनमन) के 'वृत्ति-लाभाय' अर्थात् फलोत्पादनानुकूल सहकारी की उपलब्धि के लिए परीक्षा-विधि की आवश्यकता

विधयो मताः=स्वीकृताः । योऽहमनेन विधिना तुलामारूढः सोहम् पापवान् निष्पापो वेति ज्ञानं सहकारि ।

नादिना कार्य-कारण-भावस्तु शब्द-प्रमाण-वेद्य एवेत्यपि विभावनीयम् । सहकारि-स्वरूपमाह—योहमिति । तत्र निष्पापत्व-प्रत्यभिज्ञानोपकृता परीक्षा-सामग्री उन्नमन-प्रयोजिका, पापवत्त्व-प्रत्यभिज्ञान-समनुगता च सा अवनमन-प्रयोजिकेति विवेकः । परीक्षणीयस्य हि परीक्षा-काले यथार्थ-ज्ञानं जायते 'अहं स पापवान् निष्पापो वा' इति । तथा च मनुः—

"तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वश्चैवान्तर-पूरुषः" इति ।

अत्र वर्धमानोपाध्याः—"ननु यत्र पाप-विस्मरणात् निष्पात्व-प्रत्यभिज्ञानं तत्र कुतो न जयः, न च सत्यं तादृशं प्रत्यभिज्ञानं जय-हेतुः, तथाऽपि भङ्ग-हेतु-पापवत्त्वप्रत्यभिज्ञानाऽभावेन भङ्गानुपपत्तेः । न च स्वरूपसदेव पापवत्त्वं भङ्ग-हेतुः, तस्यैव प्रयोजकत्वे परीक्षा-विधेरतत्त्वापत्तोः ? मैवम्; पाप-तदभावयोः स्वरूपसत्त्वे सति, योहं पापवत्त्वादिना सन्दिह्यमानः सोहमनेन विधिना तुलामारूढ इति तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तन्त्रत्वादिति"—आहुः ।

वस्तुतस्तु परीक्षणीयस्य पाप-कारित्वे परीक्षा-काले तस्य "पापवान् अहम्" इति, निष्पापत्वे तु "अहं निष्पापः" इति प्रत्यभिज्ञानं यथार्थमेव जायते इति अभ्युपेत्यैव प्रथमः पक्षः ग्रन्थकृद्भिराचार्यैः उपात्तः । अत एव मनु-संहितायाम् "तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति" इत्यतः पूर्वम् "माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्" इत्यनेन आत्मनः साक्षित्त्वमुत्तममित्युक्तम् । तत्र उत्तमत्वं हि साक्षिणि यथार्थ-ज्ञानवत्त्वातिरिक्तं नोचितमिति मूल-ग्रन्थ एव सम्यगिति पितृ-चरणाः प्राहुः । तत्र पापादिवतः आत्मनः सर्वथाऽभ्रान्तत्वमेव न सम्भवति, रागादि-संसक्तस्य तस्य भ्रान्तेरपि सम्भवादिति तु अन्यत्, परन्तु पूर्वोक्तो हि मूल-ग्रन्थः सर्वथाऽभ्रान्तत्वमभ्युपेत्यैव प्रवृत्तः । अत एवारुचे पक्षान्तरमपि उपात्तम् इत्यवधेयम् ।

मानी गई है । उस अवनमन में परीक्ष्य व्यक्ति का यह प्रत्यभिज्ञान—जो मैं इस प्रकार से तुला पर चढ़ा हुआ हूँ वह मैं वस्तुतः पापी हूँ—तथा उन्नमन में—तुला पर इस प्रकार से चढ़ा हुआ मैं वस्तुतः निष्पाप हूँ—यह ज्ञान सहकारी होता है ।

यद्वा वृत्ति-लाभाय = जननाय। तथा च प्रतिज्ञाऽनुरूपां शुद्धिमपेक्ष्य धर्मः, अशुद्धिमपेक्ष्य अधर्मो जन्यते।

एतेन ब्रह्म-वधाऽकरणादिना पुण्यस्याऽजननान् कथं तस्य सहकारि

ननु भ्रान्तेः पुरुष- धर्मत्वेन यत्र निष्पापस्यापि पापवत्त्व-भ्रमात् 'अहं पापवान्' इति प्रत्यभिज्ञानम् तस्य अवनमनं स्यात्, ततश्च पराजयो निर्णीयेत; एवम् पापवतोऽपि निष्पापत्व-भ्रमे उन्नमनम्, ततश्च जयः प्रसज्ज्येत; किञ्च यत्र क्षोभादिना विमुग्धात्मनः किमपि ज्ञानं न जायेत तत्र कथं नामोन्नमनादिः ततश्च जयादि-व्यवस्था स्यात्; अपरं च सतः अभिव्यक्तिरिति स्थितिः; तथा च परीक्षणीये पुरुषे यदि जय-हेतुः धर्मः पराजय-हेतुरधर्मो वा स्यात् तदैव तस्याभिव्यक्तिः सम्भवति, न च तस्य परीक्षणीय-पुरुषे सत्त्वम्, कर्म-जन्यं हि अदृष्टम् इति न्याय-सिद्धान्तः; तत्रैवं सति जय-पराजयान्यतर-निमित्त-हेतुभूतस्य कर्मणः सम्पादनं तु न कृतम् केनाऽपि अपि तु स्तेयं कृतम्, तेन च कर्मणा तस्मिन् नरक-निमित्तमदृष्टम् जातमिति वक्तुं शक्यते, न तु पराजय-निमित्तम् अदृष्टम्, विधौ तस्य तत्फलकत्वाऽनुपदेशात्; एवमेव निष्पापेन पुरुषेण स्तेयादि न कृतमित्येव स्थितिः, न च तस्य जय-हेतु-भूत-धर्म-जनकत्वम्, अनुष्ठानस्यैवादृष्ट-जनकत्वादिति हेतोः समाध्यन्तरमाह—यद्वेति। जननमेव व्याख्याति—तथा चेति। प्रतिज्ञेति—राज्ञः समक्षम् अभियोगमस्वीकुर्वाणस्य 'अहं न पाप-कारी' इत्युद्घोषः पूर्व-पक्ष-व्याख्यानावसरे उपात्त एव, स एवात्र प्रतिज्ञा-पदार्थः। शुद्धिमिति—यदि वस्तुतः निष्पापः केनचित्कारणेन अभियोग-विषयीभूतः तर्हि तस्य प्रतिज्ञा यथार्थेति तस्याः शुद्धिः, अथ पापवान् पुरुषः औद्धत्यादिना 'अहं न पाप-कारी' इति प्रतिजानीते तदा तस्य प्रतिज्ञा अयथार्थेति तस्याः अशुद्धिः इति। ततश्च शुद्ध- प्रतिज्ञा-सहकृतः परीक्षा-विधिः जय-हेतोरदृष्टस्य जनकः, जयस्य च कर्मान्ते निर्दिश्यमानत्वेन परीक्षा-विधेश्च तत्कारणस्य स्वतः जय-पूर्व-वृत्तित्वाभावात् व्यापार-रूपेण धर्मोत्पत्ति-कल्पनम्, विपरीते च वैपरीत्यमिति सारम्। अत्र यद्यपि तुलारोहणस्य विशुद्धं पुरुषं प्रति जयमुद्दिश्य विधाना-

अथवा, 'वृत्ति-लाभाय' का अर्थ है उत्पन्न करने के लिए। एवञ्च परीक्ष्य को प्रतिज्ञा की शुद्धता तथा अशुद्धता से सहकृत परीक्षाविधि क्रमशः उस परीक्ष्य में धर्म तथा अधर्म का उत्पादन करती है जिससे यथाक्रम फल की भी उत्पत्ति होती है। इसी से यह मत कि ब्रह्म-वध आदि

तादृग्ज्ञानं स्यादित्यपि परास्तम् ॥ १३ ॥

सांख्यास्तु पुरुषः चैतन्याश्रयः अकारणम्, अत एव

भावात् तस्य जय-निमित्त-धर्म-जनकत्वमसिद्धम्, एवम् अविशुद्धम् पुरुषं प्रति तुलारोहणस्य निषेधाभावाच्च तेन पराजय-निमित्तोऽधर्मः जायते इत्यपि न प्रतीयत इव, तथाऽपि अविहितस्य फल-श्रुतेरभावात् अप्रतिषिद्धस्य च अनिष्ट-हेतुत्वाभावात् विशुद्धस्य जयम् अविशुद्धस्य च पराजयम् निरूप्य क्रमेण "अभिशस्तः शुद्ध-प्रतिज्ञः जय-कामः तुलामारोहेत्" इति विधेः "असत्य-प्रतिज्ञो न तुलामारोहेत्" इति निषेधस्य च कल्पनेन धर्माऽधर्म-जनकत्वमविरुद्धमिति ज्ञेयम्। एतेन इति—एतच्च यद्वा-कल्पावतरणे सतोऽभिव्यक्तिरित्यादिना व्याख्यातमेवेति नेह पुनर्व्याख्यानम् उचितम् ॥ १३ ॥

सांख्य-मतं खण्डयितुमुपक्रमते—सांख्यास्तु इति। एतस्य 'आहुः' इत्यनेन सम्बन्धः। सांख्य-पदार्थश्च यद्यपि बहुभिर्बहुधा वर्णितः, तथापि गीता-भाष्ये शङ्कराचार्योक्तः अर्थः इत्थम्—

"सांख्यं नाम इमे सत्त्व-रजस्तमांसि गुणा मया दृश्याः, अहं तेभ्योऽन्यः तद्व्यापार-साक्षि-भूतः नित्यः गुण-विलक्षण आत्मा इति चिन्तनम्" इति। चैतन्याश्रय इति—एतच्च न सांख्य-मतम् इति चिन्त्यम्। सांख्य-मते हि पुरुषः चित्स्वरूपः एव न तु चिद्धर्मा इति "निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा" इत्यादिसांख्य-सूत्रेषु व्यक्तम्। अकारणम् इति—अनुपादानमित्यर्थः। गुणवत्त्वं सङ्गित्वं च उपादान-धर्मः, तदभावात् पुरुषस्य नोपादानत्वमिति भावः। तथा च सांख्याचार्याः— "नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात्"—इति प्रवदन्ति। "तस्मा-देतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्याद्याः आत्म-कारणता-श्रुतयश्च शक्ति-शक्तिमदभेदेन उपासनार्था एव, "अजामेकाम् लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इत्यादि-श्रुत्या प्रकृते-रेवोपादानत्व-सिद्धेः। यदि च आकाशस्य अभ्राद्यधिष्ठान-कारणतावत् आत्मनः कारणत्वम् अभिमतम्, तर्हि सांख्याचार्याणामपि

के अकरण-मात्र से जिस प्रकार कोई पुण्य नहीं होता है उसी प्रकार चौर्यादि के नहीं करने मात्र से परीक्ष्य में धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, खण्डित हो जाता है ॥ १३ ॥

सांख्य-दर्शन का मत है कि चैतन्य का (तादात्म्य सम्बन्ध से) आश्रय

कूटस्थो नित्यः । प्रकृतिश्च अचेतना परिणामिनी नित्या सम्प्रतिपत्तिरेव, परिणामस्यैव तैः प्रतिषेधात् इति अन्यत्र विस्तरः ।

ननु अकारणत्वेन पुरुषस्य अपरिणामित्वम् उक्तम् , तन्नोचितम् , जनन-मरण-योगिनः तस्य अपरिणामित्वाऽयोगात् । तथा च श्रुतिरपि —"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभि-सम्पद्यमानः" इत्यादि । तत्कथमकारणत्वम् इति चेत् ? न; नहि पुरुषस्य वास्तवं जन्म मरणम्वा, किन्तु शरीर-सम्बन्धाऽसम्बन्ध-कृतः तत्र जात-मृतत्व-व्यपदेशो लाक्षणिक एव। अत एव श्रुतिः—"जीवाऽपेतं वाव किलेदम् म्रियते न जीवो म्रियते" इत्यादिः ।

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥"

इत्याद्या स्मृतिश्च । एतमेवार्थमनुवदति ब्रह्म-सूत्रम् "चराऽचर-व्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशः भाक्तः, तद्भाव-भावित्वात्" इति । अत एव जात-कर्मादि-संस्काराणामपि शरीर एवोपयोगः, असङ्गस्याऽसंस्कार्यत्वात् । अत एव स्मृतिः—

"गार्भैर्होमैर्जात-कर्म-चौड-मौञ्जी-निबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥" इत्यादि ।

युक्तं चैतत्, शुद्धेः अशुद्धि-निर्वापकत्वेन समानाश्रयत्व-नियमात् । अशुद्धिश्च शरीर-निष्ठेति शुद्धेरपि तन्निष्ठत्वमेवोचितम् । अशुद्धेः शरीर-निष्ठत्वे च व्यास-देवेन सङ्गृहीतम् वचनम्—

"स्थानाद्बीजात् उपष्टम्भात् निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेय-शौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥"

इत्यलमतिविस्तरेण ।

कूटस्थः = कूटः निश्चलः तिष्ठति इति कूटस्थः, अथवा कूटम् = अयोघनः, तद्वत् तिष्ठतीति कूटस्थः, संसर्गिनाशेऽपि स्वयमनष्टः इति भावः । "कूटस्थ-शब्दोयम् (यत्) न व्ययीक्रियते तत्र प्रवर्त्तते, तद्यथा—कूटस्थं राशिं कुरु, नास्माद्व्यय कर्त्तव्यः" इति महा-भाष्य-व्याख्यायाम् भर्तृहरिः । तथा च कूटम् = अयोघनः इत्यादिव्याख्यानम् व्युत्पत्ति-निमित्तमपेक्ष्य न तु प्रवृत्ति-निमित्तमपीति ध्येयम् ।

प्रकृतिरिति—"सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" इति

पुरुष कर्त्ता नहीं है अपि तु अकर्त्ता है और इसी लिए सर्वथा अपरिणामी एवम् नित्य है । प्रकृति तो अचेतन है, परिणामिनी है, नित्य है, एक है । इस प्रकृति का

एका । प्रकृतेश्च प्रथम-परिणामो बुद्धिर्महत्तत्त्वम् । तत्राष्टौ सांख्याचार्याः । अकार्यावस्थोपलक्षिताः गुणा एव प्रकृति-पद-वाच्याः न तु गुण-त्रयवती प्रकृतिः । एतच्च "सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वम्, तद्रूपत्वात्" इत्यनेन सांख्य-सूत्रे "एते गुणाः परस्परोपरक्त-प्रविभागाः ....प्रधान-शब्द-वाच्या भवन्ति" इत्यादिना व्यास-भाष्ये च प्रतिपादितम् । अचेतनेति—पुरुष-चैतन्येनैवोपपत्तौ चैतन्यान्तर-कल्पने गौरवात्, सर्वेषामपि चेतनत्व-प्रसङ्गाच्चेति भावः । परिणामिनी नित्येति—एतावता द्विविधा नित्यता दर्शिता—कूटस्थ-नित्यता परिणामि-नित्यता च । तत्राद्या पुरुषे, अन्त्या प्रधाने इति विवेकः । द्विविधा चेयं नित्यता महा-भाष्येऽपि व्याख्याता—"अथवा नेदमेव नित्य-लक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यव्यय-योगि यत् तन्नित्यमिति, तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते" इत्यादि-सन्दर्भेण । स्पष्टीकृतश्चायमर्थः शारीरक-भाष्येऽपि आचार्य-चरणैः—"तत्र किञ्चित्परिणामि-नित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते; यथा—पृथिव्यादि जगन्नित्यत्व-वादिनाम्, यथा च सांख्यानां गुणाः । इदं तु............ कूटस्थ-नित्यं व्योमवत्सर्व-व्यापि सर्व-विक्रिया-रहितं नित्य-तृप्तं निरवयवम् स्वयं-ज्योतिःस्वभावम् यत्र धर्माऽधर्मौ च सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्त्तते" इत्यादिना । एकेति—अजामेकामित्यादि-श्रुतेरिति भावः । 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादौ वहुवचनं च गुण-भेदाऽभिप्रायम् इति न विरोध इत्यवधेयम् । प्रथम-परिणाम इति—तथा चात्रार्थे प्रमाणम्—

"यदेतत् विस्तृतं बीजम् प्रधान-पुरुषात्मकम् ।
महत्तत्वमिति प्रोक्तम् बुद्धि-तत्त्वं तदुच्यते ।।" इति ।

ननु "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना तैत्तिरीय-श्रुतिः आकाश-पूर्विकां सृष्टिमाचष्टे, तत्कथं महतः प्रथम-परिणामत्व-मुच्यते इति चेत्? न; यथा हि 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि-छान्दोग्य-श्रुत्या प्रतिपादितायाः सृष्टि-प्रक्रियायाः पूर्वम् उक्ततैत्तिरीय-श्रुति-विरोध-परिहाराय आकाश-वायु-सृष्टेः पूरणम् क्रियते तथैव तैत्तिरीय-श्रुतावपि महदादि-सृष्टेः पूरणं कर्त्तव्यम् । अत एव च मुण्डकश्रुतिः—

प्रथम परिणाम है 'बुद्धि' जिसका पर्याय है महत्तत्त्व । इस महत्तत्व में

धर्माः—ज्ञानाऽज्ञानैश्वर्याऽनैश्वर्य-वैराग्याऽवैराग्य-धर्माऽधर्म-रूपाः। बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माऽधर्माश्चेत्यष्टौ वा। भावनायास्तैरनङ्गी-

"एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥" इति

प्रतिपादयति। अत्र हि 'प्राणः' इत्यनेन महतः एवाद्य-परिणामत्वं कथितम्, प्राणस्य अन्तः-करण-वृत्तिरूपत्वात्, वृत्ति-वृत्तिमतोश्चाभेदाध्यवसायेन श्रुतौ तथोक्तेः। मनस्येवाहङ्कारस्य प्रवेशाभिप्रायेण तस्य न पृथगुक्तिरित्यादि श्रुति-स्मृतिभ्यां निर्णेयम्।

अष्टाविति—तत्र ज्ञानैश्वर्य-वैराग्य-धर्माः सात्त्विकाः, इतरे तामसाः, इच्छा-द्वेषेत्यादिना वक्ष्यमाणाश्च राजसा इति भेदः। ज्ञानम् = प्रकृति - पुरुषान्यताख्यातिः, अज्ञानम् = तयोरेकताख्यातिः, ऐश्वर्यम् = अणिमाद्यष्टविधम्, अनैश्वर्यम् = ऐश्वर्य - प्रतिबन्धि - धर्म-विशेषः, वैराग्यम् = दोष-दर्शनात् विषय-त्यागेच्छा, भोगाऽनभिषङ्गः, सर्वत्रैव विषये दोष-दर्शनान्निरभिलाषस्य "मम एते विषयाः वश्याः, नाहमेतेषां वश्यः" इति विमर्शो वा, अवैराग्यम् = पुनः पुनः विषयानुरञ्जनेच्छा, धर्मः = यागाद्यनुष्ठान-जनितः अभ्युदय-हेतुः अष्टाङ्ग-योगानुष्ठान-जनितः निःश्रेयस-हेतुश्च, अधर्मः = निषिद्ध-क्रिया-जनितः अभ्युदय-निःश्रेयस-प्रतिद्वन्द्वी। तदेतेषां मध्ये ज्ञानं मोक्ष-प्रयोजकम्, इतरे तु बन्धस्येति विशेषः। इदानीं न्यायादि-दर्शने आत्म-धर्मत्वेन प्रसिद्धाः इच्छादयः अपि परमार्थतः बुद्धेरेव धर्माः न तु निस्त्रैगुण्यस्यात्मनः इत्यतिदिशति—बुद्धीत्यादि। धर्माऽधर्माः = शुभाऽशुभादृष्ट-सामान्यवत्त्वम्। सामान्य-विशेष-भेदान्न पौनरुक्त्यमिति तु तर्क-वागीशाः। आत्म-विशेष-गुणत्वेन न्यायादि-शास्त्रे प्रसिद्धानां गुणानाम् मध्ये इतरेषामन्तर्भावः प्रदर्शितः, भावनाख्य-संस्कारस्तु अवशिष्टः पुरुष-धर्मत्वेन सांख्य-शास्त्रे स्वीकृतः किम्? इति शङ्कामपाकर्तुमाह—भावनाया इत्यादि। अनुभवः विनश्यन् आत्मनि भावनामुत्पादयति इति हि न्यायाचार्याणाम् प्रक्रिया, सा च असत्कार्य-वादे शोभना। परन्तु असदकरणादि-हेतोः असत्कार्य-वादस्याश्रद्धेयतया अनुभवस्य

आठ धर्म हैं—ज्ञान, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य, अवैराग्य, धर्म तथा अधर्म। बुद्धि (ज्ञान-रूप में न्याय-शास्त्र-प्रसिद्ध पदार्थ), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म तथा अधर्म भी इसी महत्तत्त्व के गुण हैं। भावना नाम के गुण का

कारात्, अनुभवस्यैव स्मृति-काले सूक्ष्मतयाऽवस्थानात्।

अचेतनायाः प्रकृति-कार्यायाः बुद्धेः चैतन्याऽभिमानान्यथाऽनुपपत्त्या स्वाभाविक - चैतन्य - स्वरूपः पुरुषः सिद्धः,

नाशाऽसम्भवेन न भावनाया उत्पत्तिः न वा तदावश्यकता। कथं तर्हि स्मृतिः, तज्जनिकायाः भावनायाः अभावादिति चेत्? तत्राह—अनुभवस्यैवेति। भावना-जन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति तु नैयायिकानामपि न सर्वेषां मतम्, अस्माकं तु नैव, सूक्ष्मावस्था-विशिष्टानुभव-जन्यत्वस्यैव तत्त्वात्, तथा-विधानुभवस्यैव वा भावना-पद-वाच्यत्वमिति न पृथग्गणनमिति सन्तोष्टव्यम्। एतेषां बुद्धिधर्मत्वे साधकमानम्—"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा............ सर्वं मन एवेति" श्रुतिः। पुरुष-धर्मत्वे बाधकं च पुरुष-नैर्गुण्य-श्रुतिः। वस्तुतः एते धर्माः अहङ्कारस्यैवान्तर-करणस्य, बुद्धि-धर्मत्वोक्तिस्तु अन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदान्महदादि-पद-त्रय-वाच्यत्वमित्यभिप्रायेणेति सांख्य-शास्त्र-ज्ञाः। अत अस्यैव सृष्टि-कर्तृत्वं सिद्ध्यति, अहङ्कारस्य तु काल-मात्र-निमित्तादेवोत्पत्तिः सर्गादौ प्रकृति-क्षोभ-कर्मवदिति सांख्य-शास्त्रानुशीलन-पराणां व्यक्तम्। इदानीं श्रुति-सिद्धमपि सांख्य-पुरुषं साधयितुं न्याय-प्रयोगमाह—अचेतनायाः इत्यादि। प्रकृति-कार्याया इति—अत्र कार्य-पदं क्रियापदम् इति न स्त्रीत्वानुपपत्ति-सन्देहः। अचेतन-प्रकृति-कार्यायाः इति तु स्पष्टतरः पाठः स्यात्। चैतन्याऽभिमाने-त्यादि। अयमर्थः—पूर्वं प्रयत्नादीनाम् बुद्धि-धर्मत्वं साधितम्, तच्च अचेतन-प्रकृतिकार्यत्वेन अचेतनायाः बुद्धेः चैतन्याऽभिमानाऽभावे अनुपपन्नं सत् बुद्धौ चैतन्याभिमानं समर्थयति, अभिमानश्च अन्यस्यान्यत्राऽवभास एवेति अन्यः चैतन्यरूपः कश्चन अवश्य-स्वीकार्यः, तस्यापि आभिमानिकत्वेऽनवस्थेति स स्वाभाविक-चैतन्य-स्वरूप एव वाच्य इति पुरुष-सिद्धिरिति। ननु पूर्वं चैतन्याश्रयः पुरुषः इत्युक्तम् अधुना चैतन्य-स्वरूप इति कथम् इत्यत्राह—

परिगणन इसलिए नहीं किया गया है कि सांख्य-दर्शन के अनुसार स्मृति का प्रयोजक सूक्ष्मावस्थ अनुभव ही है, न कि अनुभव-जन्य भावनारूप संस्कार।

अचेतन प्रकृति के कार्य (परिणाम) होने के कारण स्वतः अचेतन महत्तत्त्व में कर्तृत्वादि-प्रत्यय-प्रयोजक चैतन्य का आरोप तब तक उपपन्न नहीं हो सकता जब तक एक स्वाभाविक-चैतन्याभिन्न पुरुष की सत्ता न मान ली जाय।

धर्म-धर्मिणोरभेदात्।

तत्र प्रकृतेर्महान्, महत्तोऽहङ्कारः, तस्मात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राणि इति सप्त, चक्षुस्त्वग्-घ्राण-रसन-श्रोत्र-मनांसि, वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानि इन्द्रियाणि, तन्मात्रैः पञ्च महा-भूतानि पृथिव्यप्तेजो-

धर्म-धर्मिणोरभेदादिति। वस्तुतः नैतद्युक्तमिति पूर्वमुक्तम्।

इदानीं सृष्टि-प्रक्रियामाह—तत्रेत्यादिना। तस्मात् = तामसादहङ्कारादित्यर्थः। रूपेति—अत्र व्युत्क्रमः न युक्तः, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्राणि इति तूचितम्। वस्तुतस्तु अहङ्कारात् शब्द-तन्मात्रम्, अहङ्कार-सहकृतात् शब्द-तन्मात्रात् शब्द-स्पर्श-गुणकं स्पर्श-तन्मात्रम् इति क्रमेण प्रक्रिया। सांख्य-शास्त्रे हि चतुर्विधः पदार्थः—कश्चित् प्रकृतिरेव, यथा—मूल-प्रकृतिः। कश्चित् प्रकृति-विकृतिः, यथा महत्तत्वमारभ्य तन्मात्र-पर्यन्तः पदार्थ-निवहः। एषां प्रत्येकं महदादि अहङ्कारादि अपेक्ष्य प्रकृतिः, मूल-प्रकृत्याद्यपेक्ष्य विकृतिः। कश्चित् विकृतिरेव, तत्समूहं प्रदर्शयति—चक्षुरित्यारभ्य—जायन्ते इत्यन्तेन ग्रन्थेन। मनांसीति—यद्यपि "उभयात्मकमत्र मनः" इति सिद्धान्तात् मनसः नैव ज्ञानेन्द्रियैः समास उचितः तथाऽपि तस्यान्तः-करणत्वाऽभिप्रायेण ज्ञानस्य तद्वृत्ति-विशेषरूपत्वमिति तैः सह परिगणितम्। इन्द्रियाणि सात्त्विकादहङ्कारात् प्रादुर्भवन्ति। तत्रापि उत्कट-सत्त्व-प्रधानादहङ्कारान्मनः, मध्यम-सत्त्व-प्रधानाच्चाहङ्कारात् ज्ञानेन्द्रियाणि, निकृष्टसत्त्व-प्रधानाच्च अहङ्कारात् कर्मेन्द्रियाणीति विवेकः। तन्मात्रैरिति—अत्र तृतीया हेतुत्वेनोपपाद्या। अत्रेदमवधातव्यम्—शब्द-गुणकात् सूक्ष्मादाकाशात् शब्द-गुणकं स्थूलमाकाशं जायते, अहङ्कार-सहकृत-शब्द-तन्मात्राज्जायमानात् स्पर्श-तन्मात्रात् शब्द-स्पर्शोभय-गुणात् शब्द-स्पर्शोभय-गुणकः स्थूलः वायुः, अहङ्कार-सहितात् शब्द-स्पर्श-गुणकात् स्पर्शतन्मात्रात् जाय-

यद्यपि पुरुष चैतन्य का आश्रय है फिर भी धर्म—चैतन्य—तथा धर्मी—पुरुष—में अभेदोपचार के आधार पर पुरुष को चैतन्य-स्वरूप कहा गया है।

सृष्टि के प्रसङ्ग में, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र तथा गन्ध-तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अब तक सात तत्त्व हुए, और उसी अहंकार से चक्षु, त्वक्, घ्राण, रसना तथा श्रोत्र ये पांच ज्ञानेन्द्रियां, उभयात्मक मन एवम्

वाय्वाकाशानि जायन्ते । तदुक्तम्ः—

"मूल-प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" ॥ इति ।

पञ्च महाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति षोड़श ।

मानात् रूप-तन्मात्रात् शब्द-स्पर्श-रूप-गुणकं स्थूलं तेजः इत्यादि-रीतिरिति भिक्ष्वनुसारी पन्थाः । महा-भूतानि = स्थूल-भूतानीत्यर्थः । स्थूलत्वं चात्र बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य-गुणकत्वं शान्तादि-विशेषवत्त्वं वा ग्राह्यम् इति नाऽव्याप्तिः कुत्राऽपि । पृथिव्यप्तेज इति—अत्र क्रमत्यागः अप-सिद्धान्तः, दर्शनान्तर-वासनया वा यथा-कथञ्चित् समर्थनीयः । उक्तार्थम् सांख्य-कारिकया प्रमाणयति—तदुक्तमित्यादिना । सांख्य-कारिकायामिति शेषः । षोडशक इति—षोडश-संख्या-परिमितो गणः इत्यर्थः । "तदस्य परिमाणम्" इत्यधिकारे "संख्यायाः संज्ञा-सङ्घसूत्राऽध्ययनेषु" इत्यनेन सङ्घार्थे 'कन्' प्रत्यये रूपम् । तत्र परिमाणं च न शास्त्रान्तर-परिभाषितम् "मान-व्यवहाराऽसाधारणं कारणमिति", नापि "परिमाणन्तु सर्वतः" इति स्व-शास्त्र-परिभाषितम्वा अपि तु परिमीयते = परिच्छिद्यते, अनेनेति योगार्थ एव विवक्षितः इति नानुपपत्तिरित्यधिकं शब्द-शास्त्रे द्रष्टव्यम् । यद्यपि सङ्घ-पदस्य प्राणि-मात्र-विषयकत्वं केषाञ्चिन्मतम् इति नात्र सङ्घे कन्-प्रत्ययोपपत्तिः प्रतीयते तथाऽपि तत्सम्प्रदायाऽनारूढम् इत्यभिप्रेत्य प्रत्ययः प्रयुक्तः । यद्वा प्राणवत्त्वं हि प्राणित्वम्, प्राणश्च सांख्य-शास्त्रे करणानां वृत्तिरिति तदभिप्रायेणात्रापि कथञ्चित् प्रयोगोपपत्तिः द्रष्टव्या । मूलप्रकृतिरविकृतिरिति । तथा च सांख्य-सूत्रम्—"मूले मूलाभावात् अमूलं मूलम्" इति । अत्र 'विनाप्येवकारमवधारणार्थो गम्यते' इत्यभिधानात् अविकृतिरेवेत्यादि ज्ञेयम् ।

वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत—आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी—उत्पन्न होते हैं । इसीलिए कहा गया है :—

"मूल प्रकृति केवल अविकृति ही है, महत्, अहंकार एवम् पांच तन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति (कारण) भी हैं और विकृति (कार्य) भी, सोलह तत्त्व ऐसे हैं जो केवल विकृति (कार्य) ही हैं, परन्तु पुरुष ऐसा तत्त्व है जो न तो प्रकृति (कारण) ही है और न विकृति (कार्य) ही ।" उपर्युलिखित सोलह तत्व हैं:—पाँच महा-भूत एवम् इग्यारह इन्द्रियाँ ।

चैतन्यस्य नित्यस्य स्वाभाविकेष्टाऽनिष्ट-विषयाऽवच्छिन्नत्व-स्वाभाव्येऽनिर्मोक्षः स्यात्, प्रकृत्यधीनत्वेऽपि विषयाऽवच्छेद्यत्वस्य प्रकृतेर्नित्यतया तथैवाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः। घटादेरनित्यस्यापि स्वाभाविक-चैतन्यावच्छिन्नत्वे

ननु "पुरुषार्थ एव हेतुर्न केन-चित् कार्यते करणम्" इति सिद्धान्तात् पुरुषार्थ-हेतुकः सर्गः इति स्थितम्। पुरुषार्थश्च भोगोऽपवर्गश्च। भोगश्च विषयानुषङ्गः, तद्वियोगश्च मोक्षः। तथा च यैः स्थूल-विषयैः पुरुषस्य संयोगो वियोगश्च पुरुषार्थः ते एव सन्तु परिणाम-भेदाः प्रकृतेः कृतमितरेण महादि-पदार्थेन इत्यतः महदादीनां सिद्धि-प्रकारमाह—चैतन्यस्येति। अयमाशयः—यदि पुरुषस्य स्वाभाविकः विषय-सम्बन्धः तर्हि तस्य सर्वदानुवर्त्तमानत्वम, पुंसो नित्यतया तस्य स्वभावस्य निरुच्छेद्यत्वात्, विषयस्यापि परिणामिनित्यत्वात् इति पुरुषस्य विषय-सम्वन्धाभावः अपवर्गः नोपपद्येत इति तस्य विषय-सम्वन्धोऽन्य-द्वारेणैव वाच्यो भवति। तत्र न तावत् प्रकृतिः नित्या व्यापिनी च स्वत एव द्वार-भूता मन्तुं शक्यते, तथा सति पुनरपि सम्बन्धस्यात्यन्तोच्छेदाभावात् अनिर्मोक्षः प्रसज्ज्येत इत्याह—प्रकृत्यधीनत्वेऽपीत्यादिना। नित्यतया = परिणामिनित्यतया। अत एव—एकस्य सम्वन्धिनः पुरुषस्य द्वार-भूतायाः प्रकृतेः च नित्यत्वे सत्यपि अपर-सम्बन्धिनो विषयस्य नाशात् (=लयात्) पुरुषस्यापवर्गे न किमपि बाधकमिति शङ्का समाहिता, प्रकृतेः परिणामितया भूयो भूयो विषयाकार-परिणामेन पुरुषस्य तत्सम्वन्धक-प्रकृतेश्च वर्त्तमानतया विषय-सम्वन्ध-प्रसङ्गस्य दुरपह्नवत्वात्। ननु तर्हि मास्तु प्रकृतिरपि द्वारभूता, मा च भूत् पुरुषः स्वभावत एव विषय-सम्बद्धः, विषया एव साक्षात् पुरुष-सम्बद्धाः स्युरिति शङ्कायामाह—घटादेरित्यादि। अत्रानित्यत्वम् लय-शीलत्वम्

अव यदि उस चैतन्यात्यक कूटस्थ-नित्य पुरुष को विषयों के साथ स्वभाव से सम्वद्ध माना जाय तव तो ऐकान्तिक-आत्यन्तिक-विषयासङ्ग-निवृत्ति-स्वरूप मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वभाव का प्रतिषेध नहीं होता है। यदि तु प्रकृति को विषय-सम्वन्ध की प्रयोजिका मानें तव भी वही स्थिति वनी रहती है, क्योंकि परिणाम-नित्या प्रकृति सर्वदा वर्त्तमान रहती है। यदि प्रकृति के परिणामभूत अनित्य (लय-शील) घट-पटादि विषयों को पुरुष-विषय-सम्वन्ध का

दृष्टाऽदृष्ट-विभागाऽनुपपत्तिश्च। इन्द्रिय-मात्रापेक्षो यदि विषय-चैतन्या-वच्छेदः तथापि व्यासङ्गाऽनुपपत्तिरतो मनः स्वीकार्यम् यत्सम्बन्धेन

इति न सत्कार्य-वादभङ्गः। दृष्टाऽदृष्टेत्यादि—विषयाणां पुरुषेण साक्षात्सम्बद्धत्वे इदं दृष्टम् इदम् न दृष्टम् इति व्यवहारो न स्यात्, सर्वेषामेव पदार्थानाम् पुरुष-सम्बद्धत्वेन प्रकाशमानत्वात् इति भावः। अत्र चकारेण अनिर्मोक्षापत्ति-संङ्ग्रहः, प्रथमादि-कल्पोक्त-युक्तेः तुल्यत्वात् इति ध्येयम्। इन्द्रिय-मात्रेति—बाह्येन्द्रिय-मात्रेत्यर्थः। अनेकेन्द्रियाणाम् एकदैव स्व-विषय-सन्बन्धे सत्यपि युगपज्ज्ञान-द्वयम् न जायते इति हि स्थितिः, सा नोपपद्येत, इन्द्रियाणां साक्षादेव द्वारभूतत्वे युगपत् अनेक-ज्ञानोदये बाधकाऽभावात् इत्याह—व्यासङ्गानुपपत्तिरिति। ज्ञानोदये क्रमानुपपत्तिरित्यर्थः। यद्यपि अत्रापि अनिर्मोक्ष-प्रसङ्गः तिष्ठत्येव तथाऽपि समाधि-सौकर्यादिदमुक्तम्, प्रपञ्चार्थम्वा तदिति यथा-कथञ्चिदुन्नेयम्। मनः इति—तथा च मनः-संयुक्तेन्द्रियस्यैव द्वारत्वोपगमान्न व्यासङ्गानुपपत्तिः, एकदा एकेनैवेद्रियेण मनसः संयोगाभ्युपगमात्। यद्यपि "घट-प्रासाद-प्रदीप-कल्पं सङ्कोच-विकासि चित्तं शरीर-परिमाणाकार-मात्रम् अपरे (=सांख्याचार्याः इति विज्ञान-भिक्षवः) प्रतिपन्नाः" इत्यादि योग-भाष्यात्, "मनसो न निरवयवत्वम्, अनेकेष्विन्द्रियेषु एकदा योगात् (अत एव दीर्घ-शष्कुली-भक्षणादौ अपर्यायेण ज्ञानपञ्चकोत्पादस्योपपत्तिः) किन्तु घटवन्मध्यम-परिमाणं सावयवम्" इत्यादि सांख्य-प्रवचन-भाष्य-प्रामाण्याच्च मनः-संयोग-प्रयुक्तम् व्यासङ्गोपपादनम् न घटते तथापि मनसोऽणुत्वमभ्युपेत्य तथोक्तम्। सांख्य-शास्त्रे एषोऽपि सिद्धान्तः केषाञ्चिदाचार्याणामासीदिति तु "मनः अणु-परिमाणम्" इत्यादि तृतीयाध्यायस्थानिरुद्ध-वृत्तेः ज्ञायते इति ध्येयम्। वस्तुतः "व्यासङ्गः-सङ्कल्पः, तस्यानुपपत्तिरित्यर्थोऽभिप्रेतः। तथा च

प्रयोजक माना जाय तब सभी पदार्थ पुरुष से स्वभावतः (बुद्धि-प्रतिबिम्ब द्वारा) सम्बद्ध हो जायेंगे या सर्वदा सम्बद्ध ही रहेंगे, फिर यह पदार्थ दृष्ट है और अन्य अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) हैं, यह बात नहीं बन पाएगी। यदि इन्द्रियों को ही पुरुष-विषय-सम्बन्ध का प्रयोजक मान लिया जाय तब ज्ञान की उत्पत्ति में पौर्वापर्य (जो अनुभव-सिद्ध है) की उपपत्ति न हो सकेगी, अतः मन की भी सत्ता, बाह्येन्द्रिय से पृथक्, माननी ही है, और इसी के इन्द्रिय-सम्बन्ध के साथ

इन्द्रियस्य विषयीय-चैतन्यावच्छेद-नियामकत्वम् । स्वप्न-दशायाम् व्याघ्रत्वाऽभिमानः, न नरोहम् इत्यभिमानः । अतस्तन्नियमाय नियत-विषयाऽभिमान-व्यापारकोऽहङ्कारोऽपि स्वीकार्यः । जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु आलोचनमात्र-व्यापाराणाम् इन्द्रियाणामेव तथात्वे विकल्पानुपपत्तिरिति तदुपपत्तये मनः-स्वीकार आवश्यकः इत्येवं व्याख्या" इति पितृ-चरणाः प्राहुः । अत्रार्थे च

"सम्मुग्धं वस्तु-मात्रं हि प्राग्गृह्णात्यविकल्पितम् ।
तत्सामान्य-विशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ॥"

इति प्राचीनोक्तिरपि अनुगुणा भवति । तत्र इन्द्रियम् अविविक्तौ सामान्य-विशेषौ गोचरयति मनस्तु विविक्ताविति विवेकः । अहङ्कार-साधनायाह—स्वप्नेत्यादि । न नरोहमित्यभिमानः इत्यस्य 'नरोहम्' इत्यभिमानः न इत्यन्वयः । सत्यपि नरत्वे नरोहम् इत्यभिमानो न भवतीत्यर्थः । स्वीकार्यः इति । अयमर्थः—कश्चिद्धि नरः स्वप्न-दशायाम् व्याघ्रोहम् शूकरोहम् इत्यादिरूपेण आत्मानमभिमन्यते, नरत्वस्य विद्यमानत्वेऽपि नरोहमिति रूपेण नैव मनुते इति स्थितिः । तत्र स्वप्ने बाह्येन्द्रिय-व्यापाराभावेन नरोहम् इत्यभिमानाभावः व्याघ्रोहम् इत्यभिमानोदयश्चेति वक्तुं नोचितम्, जाग्रदवस्थायाम् निमीलिताक्षस्याऽपि नरोहम् इत्यभिमानोदयात् व्याघ्रोहम् इत्यभिमानानुदयाच्च । नाऽपि मनो-व्यापारेण नरत्वे सत्यपि नरोहम् इत्यभिमानानुदयः व्याघ्रोहम् इत्यभिमानोदयश्च स्वाप्नः समाधातुं शक्यः, मनो-व्यापारस्य सङ्कल्पात्मकस्य जाग्रत्स्वप्न-साधारणतया प्रतीति-साधारण्यस्यैव प्रसक्तेः । तस्मात् नरत्वाभिमानाभावोपपादनाय तद्विषयकाभिमान-प्रयोजकस्य तत्त्वस्य अभावः, व्याघ्रत्वाभिमानोपपत्तये च तद्विषयकाभिमान-प्रयोजक-तत्त्वस्य भावः स्वप्ने अवश्यं स्वीकर्त्तव्यः, स एव प्रयोजकः अस्माकम् अहङ्कारः, "अभिमानोहङ्कारः" इत्यभ्युपगमात् इति । यद्यपि एकस्य पुरुषस्य एक एव अहङ्कारः इति तस्य न नियत-

अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक उपपन्न हो जाता है । स्वप्नावस्था में मनुष्य को यह अभिमान होता है—'मैं व्याघ्र हूँ' परन्तु यह अभिमान नहीं होता है—'मैं नर हूँ' यद्यपि जाग्रदवस्था में इस द्वितीय अभिमान के प्रयोजक के रूप में प्रतीत वाह्य उपकरण—इन्द्रिय—स्वप्न-दशा में भी वर्त्तमान रहते ही हैं । अत एव नियत-विषयक अभिमान के उपपादन के

श्वास-प्रश्वास-दर्शनात् स-व्यापारं यदनुवर्त्तते तद्बुद्धितत्त्वम् प्रागुक्त-भावाष्टक-योगि स्वीकार्यम् ।

तस्य ज्ञान-रूप-परिणामेन सम्बद्धो विषयः पुरुषस्य स्वरूप-तिरोधायकः।

विषयकत्वेन नानात्वावभासो युक्तः तथाऽपि गुण-गुण-प्रधान-भावाश्रयः तथा व्यवहार इति मन्तव्यम् । महत्तत्त्वं साधयितुमाह—जाग्रदित्यादि । अयमाशयः—सुषुप्तौ हि अहङ्कार-पर्यन्तानाम् ये व्यापाराः तदनुगुणानां कार्याणाम् अभावात् तावत्पर्यन्तानाम् व्यापाराभावः प्रमीयते । श्वास-प्रश्वास-व्यापारस्तु सुषुप्तावपि वर्तते एवेति सम्प्रतिपन्नमेव । तथा च सुषुप्ति-कालीन-व्यापारवत् तत्त्वम् अहङ्कार-पर्यन्त-तत्त्व-भिन्नमेव स्वीकार्यम् इति लाघवात् तदेव जाग्रदादि-श्वासादि-प्रयोजकमपीति महत्तत्त्व-सिद्धिः । भावाष्टकेति—धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्याऽधर्माऽज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्य-पदाभिधेयाः अष्टौ बुद्धिभावाः प्रागुक्ताः ।

तस्य = बुद्धि-तत्त्वस्य । ज्ञान-रूप-परिणामेनेति—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-व्याप्ति-ज्ञानादिना बुद्धेः तमसः अभिभवे सति यः सत्त्व-समुद्रेकः सः अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानम् इति च आख्यायते । सम्बद्धः = विषयतया सम्बद्धः, इन्द्रिय-मनोहङ्कार-व्यापार-परम्परया बुद्धौ प्रतिफलित इति यावत् । विषयः = घटादिः । पुरुषस्य = स्वरूपतो निष्कलस्यापि अविवेकेन बुद्धि-गत-स्व-प्रति-बिम्बेन स्वतादात्म्यानुभवात् (सामानाधिकरण्य-भ्रमेण) स्वस्य विषय-सम्बन्धम् अभिमन्यमानस्य । स्वरूप-तिरोधायकः = स्वरूपम् असङ्गत्वादि, तस्य आच्छादकः इत्यर्थः । विषय-सम्बद्धत्व-भ्रमेण असङ्गत्वाद्युपधानादिति भावः । एतावता भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्धस्य बुद्ध्यधीनत्व-प्रदर्शनेन बुद्धि-प्रभृतीनाम् पदार्थानाम् सृष्टिरावश्यकीति प्रदर्शितं

लिए 'अहङ्कार' की भी स्वीकृति करनी ही है । जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति में अन्यान्य उपकरणों के तारतम्य होने पर भी तीनों ही अवस्थाओं में समान रूप में सम्पद्यमान श्वास-प्रश्वास-क्रिया के कारण के रूप में तीनों ही अवस्थाओं में समान रूप में अनुवर्त्तमान बुद्धि-तत्त्व—जिसके आठ गुण पहले बतलाए जा चुके हैं—भी अवश्य-स्वीकार्य है ।

इसी बुद्धि-तत्त्व के ज्ञानात्मक परिणाम से सम्बद्ध विषय बुद्धि-प्रतिबिम्बित पुरुष के कूटस्थ तथा असङ्ग स्वरूप को पिहित करनेवाला होता है । अतः यह स्पष्ट है कि इसी बुद्धि-तत्त्व के (विवेकख्यात्युपरिष्टात्) प्रकृति में

एवं च बुद्धि-तत्त्व-नाशादेव विषयाऽवच्छेदाऽभावात् पुंसो मोक्षः। भेदाग्रहाच्च

भवति। नाशादेवेति—आत्यन्तिक-लयादित्यर्थः। एषा हि प्रक्रिया—कर्म-निमित्तकः लिङ्ग-शरीर-निमित्तकः अविवेक-निमित्तको वा दृग्दृश्ययोः पुरुष-प्रकृत्योः संयोगः सन्निधानाऽपरपर्यायः। द्वावपीमौ अविवेक-संयोगौ बीजाङ्कुरवदनादी इति नानुपपत्तिः। ततश्च अविवेक-सहकृत-संयोगात् पुरुषार्थ-साधन-प्रयोजनः प्रकृतेः परिणामः बुद्ध्यादि-रूपेण। तत्रापि भोगाख्य-पुरुषार्थ-साधनाय अपेक्षितस्य पुरुष-विषय-सम्बन्धस्य सङ्घटनम् इत्थम्—इन्द्रियाणि अहङ्कारश्च स्व-स्व-व्यापार-विषयीभूतान् विषयान् तत्तद्व्यापारैरपगत-रजस्तमः-प्राधान्ये बुद्धि-तत्त्वे समर्पयति, अर्थात् इन्द्रिय-मनोहङ्कार-द्वारा विषयाः सत्त्व-प्रधानायाम् बुद्धौ प्रतिबिम्बिताः तिष्ठन्ति। तत्रैव च बुद्धौ पुरुषोऽपि प्रतिबिम्बितः सन् अनाद्यविवेक-प्रभावेण स्वं स्व-प्रतिबिम्ब-ग्राहक-बुद्धि-तत्त्वाभिन्नं मन्वानः स्व-प्रतिबिम्बेनापि स्वस्य तादात्म्यम् मन्यते इति तत्प्रतिबिम्ब-सम्बद्धो विषयः प्रतिबिम्ब-ग्राहक-बुद्धि-तादात्म्यापन्ने पुरुषे सम्बद्ध इव तत्र भोगं जनयति। एष एव बन्धः। तत्त्वाभ्यासाच्च विवेकोदये संयोग-मूलभूतस्याविवेकस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः, तन्निवृत्तौ च संयोगनिवृत्तिः, तन्निवृत्तौ च सप्तभी रूपैः पुरुषे उपचरितस्य बन्धस्य प्रयोजकीभूतेन बुद्धि-तत्त्वेन स्वरूपेण प्रकृतेः परिणामो निरुद्ध्यते इति विषय-पुरुष-सम्बन्धाभावाद्भोग-निवृत्तिः इत्यभिप्रेत्य वृत्तौ बुद्धि-तत्त्व-नाशो दर्शितः। अस्तु वा अविवेक-निवृत्तावपि नित्ययोः प्रकृति-पुरुषयोः संयोगस्य अनिवृत्तिरेव, तावतापि बन्ध-प्रयोजक-सप्त-विध-धर्म-सम्पन्न-बुद्ध्यात्मकः प्रकृति-परिणामः अविवेक-सहकृत-संयोग-हेतुकः निरुद्ध्यत एव, सहकारणः अविवेकस्य निवृत्तौ कार्यस्य निवृत्तेरावश्यकत्वादिति ध्येयम्। विविक्तस्य तु न पुनरविवेकोदयः सत्यपि परिणामवादे, अपुनरावृत्ति-श्रुति-प्रामाण्या-दित्यधिकं सांख्य-शास्त्रे द्रष्टव्यम्। भेदाऽग्रहादित्यस्य परस्परं भेदाऽग्रहा-दित्यर्थः। अत एव कर्तृत्ववत्याः बुद्धेः चित्प्रतिबिम्बात् "योऽहं करोमि स एव जानामि" इत्यभिमानः चैतन्य-विषयकः, चेतनस्य-

आत्यन्तिक विलयन के बाद पुरुष का विषय-सम्बन्ध अत्यन्त विच्छिन्न हो जाता है और उसे कैवल्य का अधिगम होता है। संसार-काल में बुद्धि के साथ भेदाग्रह से पुरुष को 'मैं चेतन कर्त्ता हूं' इस तरह का प्रकृति-धर्मानुगत अभिमान

चेतनोहं करोमीत्यभिमानः। तदुक्तम्—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार-विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

सा च बुद्धिः अंश-त्रयवती—पुरुषोपरागः, विषयोपरागः, व्यापारावेशश्चेति। मयेदं कर्त्तव्यमित्यत्र मयेति चेतनोपरागः, बुद्धि-चेतनयोर्भेदा-

अकर्त्तुश्च पुरुषस्य बुद्ध्यभेदावभासात् "योहं जानामि स एव करोमि" इत्यभिमानः उपपद्यते, तदाह—चेतनोहम् इत्यादि। एतावता कृति-चैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमवास्तवम्, यत्तु चेतनोहं करोमि इत्याकारकं ज्ञानम् तद् भ्रम एवेति प्रतिपादितम्। अत्रैवार्थे भगवद्गीता-वचनम्प्रमाणयति—प्रकृतेरिति। एतल्लक्षणमुक्तम्। अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी, तेन प्रकृतिमपेक्ष्य जायमानैः गुणैः = गुण-मयैः बुद्धि-तत्त्वैः (अहङ्कारैः) सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानीत्यन्यत् स्पष्टम्। यद्यपि पूर्वम् अहङ्कारस्यैव कर्त्तृत्वम् उक्तम्, अत एव गीता-वाक्येपि अहङ्कार-विमूढात्मा इत्युक्तम्, तथाऽपि कार्य-कारणयोरभेदोपचारात् बुद्ध्यहङ्कारमनसाञ्च अन्तः-करण-वृत्ति-विशेषत्वात् बुद्धेरपि यत्र कुत्र-चित् कर्तृत्वमुक्तं न विरुध्यते इति विभावनीयम् विद्वद्भिः।

"भेदाग्रहाच्च चेतनोहं करोमीत्यभिमानः" इति पूर्वोक्तं विशद-यति—सा चेत्यादिना। उपरागः = वैशिष्ट्यम्, सम्बन्ध इति यावत्। व्यापारः = कर्त्तव्याध्यवसायात्मकः बुद्धि-व्यापारः। अंश-त्रयम् स्पष्ट-यति—मयेदम् कर्त्तव्यमित्यादिना। चेतनोपरागः = पुरुष-वैशिष्ट्यम्। अतात्त्विकत्वे हेतुः—भेदाऽग्रहाविति। विषयोपरागः इति—एष च वास्तवः, इन्द्रिय-प्रणालिकया बुद्धौ ज्ञान-रूप-विषय-सम्बन्धत्वा-दिति। यथा (क) निःश्वासेन (ख) अभिहतस्य (ग) दर्पणस्य

होता है और पुरुष के साथ भेद के अग्रहण से बुद्धि में भी पुरुष-चैतन्यानुगत 'मैं चेतन हूँ' इस तरह का अभिमान होता है। अत एव गीता में कहा गया है :—

"सभी कर्म तो परमार्थतः प्रकृति के परिणाम—बुद्धि—के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अहङ्कार से विमूढ़ पुरुष अपने को कर्त्ता समझता है।"

इस बुद्धि के तीन अंश हैं :—पुरुष-सम्बन्ध, विषय-सम्बन्ध तथा अध्यवसा-यात्मक-व्यापारावेश। 'मुझे यह करना चाहिए' इस बुद्धि में 'मुझे' यह पुरुष-सम्बन्धांश है, जो बुद्धि-तत्त्व तथा पुरुष में वास्तव भेद के अग्रह के कारण होने

ग्रहात् अतात्त्विकः। इदमिति विषयोपरागः। तदुभयायत्तो व्यापारावेशः। बुद्धावारोपित-चैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धः चेतनोऽहङ्करोमि इत्युपलब्धिरित्याहुः।

(घ) मालिन्यम् पारमार्थिकम् तथैव (क) चेतनेन (ख) अगृहीत-भेदायाः (ग) बुद्धेः (घ) वृत्त्यात्मकं विषयोपराग-पद-वाच्यम् ज्ञानम् पारमार्थिकमिति भावः। तदुभयायत्तः = पुरुषोपराग-विषयोपरागाधीनः इत्यर्थः। कृत्यध्यवसायो हि बुद्धेर्व्यापारः, तत्र कृति-विषयस्य घटादेः जडायां बुद्धौ चैतन्योपरागमन्तरा प्रतिभासाऽसम्भवेन व्यापारस्य पुरुषोपरागायत्तता, एवमेव कृति-विषयीभूतेन घटादिना बुद्धेः सम्बन्धाऽसम्भवे करोमीति कृत्यध्यवसायानुपपत्तिरिति तदुपपत्तये विषयोपरागात्मकः बुद्धि-विषययोः सम्बन्धोप्यावश्यक इति कृत्यध्यवसायस्य विषयोपरागायत्ततेत्यभिप्रेत्योभयायत्तता उक्तेति भावः। ननु चैतन्यं बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमिति पर्यायाः, तत्कथम् बुद्धि-वृत्तिः ज्ञानम्, ज्ञानाश्रया बुद्धिः, चैतन्याश्रयः (चैतन्यात्मक एव परमार्थतः) पुरुषः, भेदाग्रहाच्च घटमहं जानामीत्याद्यनुव्यवसायात्मकोपलब्धिमान् पुरुषः इत्यादि प्रतिपाद्यते इत्यतः स्वसिद्धान्ते चैतन्य-बुद्धि-ज्ञानोपलब्धीनामपर्यायत्वम् प्रतिपादयितुमाह—बुद्धावित्यादि। तत्र चैतन्यं पुरुष एवेत्युक्तम्, बुद्धिरपि प्रथम-परिणामात्मिकेति प्रतिपादितम्, ज्ञानं च पूर्वं विवृतमपि पुनर्विवृणोति तस्य बुद्धि-धर्मत्वावधारणाय—बुद्धावित्यादिना। अत्र "बुद्धावारोपितचैतन्यायाम् विषयस्य सम्बन्धः" इति पाठ उचितः, मूल-धृत-पाठस्तु उपेक्षणीयः। विषयस्य सम्बन्धः = अयं घट इत्याकारकः। एतदेव ज्ञानम् बौद्ध-प्रमा चेति सांख्य-मतम्। अनयैव बौद्ध-प्रमया पुरुषस्य अतात्त्विकः सम्बन्धः उपलब्धिः, यां किल अनुव्यवसाय इति न्यायशास्त्रज्ञाः वदन्तीत्याह—ज्ञानेनेति। अयं घटः इत्याकारकेणेत्यर्थः।

से अवास्तव हैं; 'यह' यह विषय-सम्बन्धांश है और इन दोनों के अधीन 'करना चाहिए' यह व्यापारावेश है। आरोपित-चैतन्य बुद्धि-तत्त्व में विषय का सम्बन्ध है ज्ञान और इस ज्ञान से पुरुष का अतात्त्विक सम्बन्ध उपलब्धि—चेतन मैं कर रहा हूँ—कहलाती है—ऐसा सांख्याचार्यों का कथन है।

अत्राह—

कर्त्तृ-धर्मा नियन्तारः चेतिता च स एव नः ।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥१४॥

कृति-समानाधिकरणाः तावत् धर्माऽधर्म-द्वेषेच्छाः, भोगस्य कृति-सामानाधिकरण्यात् । एवम् चेतिता=चेननः, स एव=कृतिमान् एव, नः=अस्माकम्, मतः, चेतनोहं करोमीति प्रत्यय-बलात् ।

दूषणान्तरमाह—अन्यथेति । यदि बुद्धिर्नित्या तदा बुद्ध्युपहित-

तदेवम् सांख्य-मते कृति-चैतन्ययोः सामानाधिकरण्यम् नेति व्यवस्थितम्, तदेतदसहमानाः आचार्याः तयोः सामानाधिकरण्यस्य सयुक्तिकत्वं व्यवस्थापयन्ति—कर्त्तृ-धर्मा इति । कृति-समानाधिकरण्यात् इति—तथा च कृति-तज्जन्यादृष्ट-तज्जन्य-भोगानां सामानाधिकरण्यम् अविवादम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति वादि-प्रतिवादिनोः समान एव । तत्र अस्माकं नैयायिकानां यो विशेषः तमुपदर्शयति—एवम् चेतितेत्यादिना । अत्रार्थे प्रमाणमाह—चेतनोहमित्यादि । एतेन यदुक्तं सांख्याचार्यैः—"यतश्चैतन्य-कर्त्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे स्तः तस्मात् भ्रान्तिरियम्", तदुपेक्षितम्, बाधकाऽभावादिति ध्वनितम् ।

बुद्ध्युपहितस्येति—आत्मनः सर्वदा बुद्ध्युपहितस्यैवावस्थानादिति योजना । अनिर्मोक्षः इति—बुद्ध्युपधानस्यैव तन्मते बन्धत्वेन बुद्धेश्च

उपर्युक्त सांख्य-मत के निरास के लिए कर रहे हैं :—

[कृति, तज्जन्य अदृष्ट तथा अदृष्ट-जन्य भोग में समानाधिकरण-वृत्तित्व के साथ-साथ हम नैयायिकों के मत में चेतन भी वही कृतिमान् तत्त्व है । अतः यदि कृति बुद्धि में है तब तो उसे ही चेतन भी होना चाहिए, यदि बुद्धि अचेतन है तो वह कर्त्री भी नहीं हो सकती है । यदि ऐसा न मानें तब तो बुद्धि को नित्य मानने पर पुरुष सर्वदा बुद्ध्युपहित ही रहेगा, कभी मुक्त नहीं । यदि तु बुद्धि को अनित्य माना जाय तब तो पूर्व-मुक्त पुरुष पुनः इस संसार से सम्बद्ध भी नहीं हो सकता है ॥ १४ ॥]

भोग तथा कृति के समानाधिकरण्य से कृति तथा धर्म, अधर्म, द्वेष एवम् इच्छा का भी समानाधिकरण्य सिद्ध है । और 'चेतिता', अर्थात् चेतन, भी कृतिमान् पदार्थ ही, 'नः' अर्थात् हम लोगों का, अभीष्ट है, क्योंकि "चेतन मैं कार्य करता हूँ" इस प्रकार का सर्वसाधारण अनुभव है ।

दूसरा दोष भी सांख्य-मत में दिखला रहे हैं:—'अन्यथा' इत्यादि शब्दों से ।

स्यात्मनः सर्वदाऽवस्थानात् अनिर्मोक्षः स्यात्। यद्यनित्या तदोत्पन्ना वाच्या, अनित्य-भावस्याऽनुत्पत्त्यभावात्। तथा च तदुत्पत्तेः प्राक् तदाश्रित-धर्मादेरप्यभावेन बुद्धि-तत्त्वस्यानुत्पत्तौ नियत-शरीरेन्द्रियादि-कार्यस्यानुत्पत्तौ असंसारः स्यात् इत्यर्थः ॥ १४ ॥

चार्वाकस्तु—भवतु चेतन-धर्मोऽदृष्टम्, चेतनश्च न नित्य-विभुः, किन्तु

नित्यत्वेन तदुपधानस्य बाधासम्भवादिति भावः। एतच्च यथा-कथञ्चिद्व्याख्यातम्, वस्तुतस्तु नैतद्युक्तम् इति विवेचनीयम्। बुद्धेरनित्यत्वे दोषमुद्घाटयति—यद्यनित्येत्यादिना। अनित्य-भाव-स्येति—प्रागभावस्य सान्तत्वेन अनित्यस्याऽपि अजन्यत्वेन स्वमते व्यभिचार-वारणाय भाव इति उक्तम्। परमते तु अभावो नातिरिक्तः पदार्थः इति भाव-पदम् पदार्थ-मात्र-परम् इति विवेकः। अनुत्पत्त्य-भावादिति नञ्-द्वयेन उत्पत्त्यवश्यम्भाव उक्तः। बुद्धितत्त्वस्यानुत्पत्तौ इति—जन्य-मात्रं प्रति अदृष्टस्य साधारण-कारणत्वात् इति भावः। वस्तुतः एतच्चिन्त्यम्, बीजाङ्कुरवदनादित्वात् तदुपपत्तेः। जन्यमात्रं प्रति अदृष्टं कारणमिति च परैः न कण्ठतः कुत्राप्युक्तमित्यपि विभाव-नीयम्। परमार्थतस्तु बुद्धेः जन्यत्वे तत्पूर्वम् आत्मनः बुद्ध्यनुपहि-तत्वेन पश्चात् बुद्ध्युत्पत्तावपि तस्यानुपहितत्वमेव स्यादिति असंसारः उपपद्यते, अन्यथा तत्त्व-ज्ञानात्पश्चादपि बुद्ध्युपधाने बाधकाभावा-दिति मूलाशयो बोध्यः। यद्यपि अत्रापि न सांख्यानाम् सम्प्रतिपत्तिः, तथापि आर्द्रक-व्यापारिणाम् पोत-समाचारेण प्रयोजनाभावः इति यथा-मूलम् व्याख्यातम् इत्यलम् ॥ १४ ॥

चेतनोऽहं करोमीत्यबाधित-प्रतीत्या कृति-चैतन्ययोः सामानाधि-

यदि बुद्धि-तत्त्व नित्य हो तो आत्मा सर्वदा बुद्ध्युपहित ही रहेगी अतः मोक्ष की असम्भावना हो जायगी। यदि बुद्धि-तत्त्व अनित्य है तब तो उसे उत्पन्न मानना पड़ेगा, क्योंकि अनित्य भाव-पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है—ऐसी बात नहीं है। एवञ्च इस अनित्य बुद्धि-तत्त्व को उत्पत्ति से पूर्व बुद्धि-निष्ठ धर्माऽधर्मादि के भी अभाव होने से बुद्धि-तत्त्व की उत्पत्ति ही नहीं होगी और इस लिए नियत शरीर-इन्द्रियादि कार्यों की अनुत्पत्ति के फल-स्वरूप पुरुष को कभी भी संसार में नहीं आना चाहिए था, परन्तु आता है। अतः सांख्य-सिद्धान्त उपपन्न नहीं है—यही तात्पर्य है ॥ १४ ॥

चार्वाक का कथन है कि अदृष्ट चेतन पदार्थ का धर्म भले ही हो, पर वह

कायाऽऽकार-परिणत-भूत-विशेषः, गौरोऽहं जानामीति प्रतीत्या रूपवत्त्व-सिद्धेः, अत्राह—

नाऽन्य-दृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासना-सङ्क्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ १५ ॥

करण्य-प्रसाधनमिव गौरोहं जानामीत्यादि-प्रतीत्या गौरादि-रूप-चैतन्ययोरपि सामानाधिकरण्य-सिद्धौ देह एव आत्मा चेतनः, न तु तदतिरिक्तः नित्यत्वादि-धर्म-युक्तः कश्चन पदार्थः इति चैतन्या-दृष्टादीनां सामानाधिकरण्येऽपि न नैयायिकाभिमतात्म-सिद्धि : इति मन्यमानः चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठते, तदाह वृत्तिकृत्—चार्वाकस्तु इत्यारभ्य रूपवत्त्व-सिद्धेरित्यन्तेन ग्रन्थेन ।

अत्रोत्तरमवतारयति—अत्राहेति । अयमाशयः—अबाधित-प्रतीतिर्हि वस्तुसाधनायालम्, न प्रतीति-मात्रम्, अति-प्रसङ्गात् । तथा च चेतनोहं करोमीत्यादि-प्रतीतेः अबाधितत्वेन भवति प्रामाण्यम्, गौरोहम् जानामीत्यादेस्तु बाधितत्वादेव न प्रामाण्यमिति न देहात्मवाद - सिद्धिः । बाधितत्व-मेव विवृणोति—नान्य-दृष्टम् इत्यादिना । गौरोहमित्यादेरबाधितत्वे देहात्मवादः स्यात्, सा च वक्ष्यमाण-दोषग्रस्तत्वेन अनुपादेया इति

चेतन पदार्थ नित्य-विभु न्याय-मत-सिद्ध आत्मा नहीं है, अपि तु शरीर के रूप में परिणत पृथिवी आदि भूत ही चेतन आत्म-पद वाच्य हैं, क्योंकि 'गौर-वर्ण-सम्पन्न मैं जानता हूँ' इस प्रतीति से आत्मा में रूप की सिद्धि होती है। अतः नैयायिकों की आत्मा रूपवान् होने के कारण अप्रामाणिक है—इसके समाधान के लिए कह रहे हैं :—

[यह स्थिति है कि एक के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण इतर व्यक्ति नहीं कर पाता है, परन्तु शरीर को आत्मा मानने पर अन्य शरीर (बाल्य-शरीर) के द्वारा अनुभूत पदार्थ का इतर शरीर (यौवन-शरीर) के द्वारा स्मरण मानने में उपर्युक्त स्थिति बिगड़ जाती है। प्रत्येक अवस्था के शरीर में परिवर्तन के सुलक्ष्य होने के कारण सभी अवस्थाओं में शरीरों की एकता भी असम्भव है। स्थिर-पक्ष में कर-पाद आदि को ही शरीर का उपादान मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में यदि पूर्व-पूर्व उपादान के द्वारा अनुभूत पदार्थ की वासना का उपादेय—शरीर—में सङ्क्रमण माना जायगा तब तो हाथ या पैर के शरीर से बिनष्ट हो जाने पर स्मरण—जो सर्वानुभव-सिद्ध है—की उपपत्ति नहीं हो पाएगी। अतः शरीरादि-व्यतिरिक्त ही आत्मा मन्तव्य है ॥ १५ ॥]

शरीरस्य चैतन्ये बाल्य-दशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्, चैत्र-दृष्टस्य मैत्रेणास्मरणमिव । न च बाल्य-यौवनयोरेकं शरीरम्, अपक्रमात् = पूर्व-शरीर-विनाशात् । परिमाण-भेदेन द्रव्य-भेदात्, पूर्व-परिमाण-नाशस्य आश्रय-नाश-हेतुकत्वात् ।

न च कारणेन अनुभूतस्य कार्येण स्मरणं स्यात् इति वाच्यम्, वासनासङ्क्रमाऽभावात् । अन्यथा मात्रा अनुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणा-

हेतोः देहात्म-वाद-साधिका गौरोहमित्यादि-प्रतीतिः बाधितेति न तयाऽभिमत-सिद्धिरिति सारम् । तदेतमेवाशयम् वृत्तिकृद्व्याचष्टे—शरीरस्येति । शरीरम् इति—एतच्च मूलस्थस्य भूतम् इत्यस्य विवरणम् । विनाशाविति—तदेवेदं शरीरम् इत्यादि-प्रत्यभिज्ञा च साजात्याश्रयेणैव उपपद्यते, तदेवेदम् औषधमित्यादिवदिति भावः ।

न चेत्यारभ्य कारिका-व्याख्यान्तो ग्रन्थः अभ्युपेत्य-वादेन योजनीयः, चार्वाकैः कार्य-कारणभावानभ्युपगमात् । कारणेन = बाल्य-शरीरेण, कार्येण = तदुत्तर-जायमान-यौवन-शरीरेण । वासना = भावनाख्यः स्मरण-प्रयोजकः संस्कार-विशेषः । सङ्क्रमः = कार्येण सम्बन्धः । कारण-निष्ठ-वासनायाः कार्ये न आधानं युक्तम्, तथा सति कारणीभूत-मातुः वासनायाः कार्ये पुत्रे आधान-प्रसक्तौ महानर्थः मातृत्व-भावना-विलोपश्च स्यादित्याह—अन्यथेति । ननु न मया कारण-मात्र-निष्ठ-वासनायाः कार्य-सामान्ये सङ्क्रमः मन्यते अपि

शरीर को चेतन मानने पर बाल्यावस्था में अनुभूत पदार्थ का युवावस्था में स्मरण नहीं हो पाएगा, क्योंकि जिस प्रकार चैत्र के द्वारा अनुभूत पदार्थ का मैत्र को स्मरण नहीं होता है उसी प्रकार पूर्व-शरीर (बाल्य-शरीर) के द्वारा अनुभूत पदार्थ का शरीरान्तर (यौवन-शरीर) के द्वारा स्मरण नहीं हो पाएगा । बाल्यावस्था तथा युवावस्था के शरीरों को एक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अपक्रमात्' अर्थात् उपचय या अपचय के समय पूर्व-शरीर का नाश आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि पूर्व-परिमाण के नाश के विना उत्तर परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और परिमाण का नाश उसके आश्रय के नाश के बिना हो नहीं सकता है । अतः दूसरे परिमाण की उत्पत्ति ही पूर्व-शरीर के नाश मे प्रमाण है ।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि कारण के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण कार्य के द्वारा हो जायगा, क्योंकि कारण-मात्र की वासना का कार्य मे सङ्क्रमण नहीं हो सकता । अन्यथा माता के द्वारा अनुभूत विषयों का भी स्मरण गर्भ-स्थ

पत्तेः । ननु उपादान-वासनायाः उपादेये सङ्क्रमः स्यात् इत्यत्राह— न च गत्यन्तरं स्थिरे इति। स्थिरे = स्थिर-पक्षे, पुञ्जात् पुञ्जान्तरोत्पत्ते-रभावात् करादि शरीरस्य उपादानम् वाच्यम् । तथा च विच्छिन्ने करादौ तदनुभूतस्य स्मरणं न स्यात्, खण्ड-शरीरे

तु द्विविधं हि कारणम्—उपादानम् निमित्तं च। तत्र च उपादान-निष्ठा वासना स्वोपादेये सङ्क्रामतीत्येव नो दर्शनमिति न मातृ-वासनायाः पुत्रे सङ्क्रमः प्रसक्तः, मातुः वीर्यादिसहकृताया एव पुत्र-कारणत्वेन तम्प्रति निमित्त-कारणत्वात् इत्याशङ्कते—ननु उपादाने-त्यादिना । समाधत्ते—न चेत्यादिना । पुञ्जात् इति—बौद्ध-मते हि अवयव-समूहातिरिक्तः कश्चन अवयवी पदार्थः न मन्यते, सर्वेषां क्षणिकत्वं च मन्यते। तथा च परमाणुपुञ्जात्मक-शरीरस्यापि प्रति-क्षणं परिवर्त्तमानतया पूर्व-पूर्वावयव-समूहः उत्तरोत्तरावयव-समूहस्य उपादानमिति सिद्धान्तात् उपादान-वासनायाः उपादेये सङ्क्रमेऽपि 'न नियमेन क्षणिकः पदार्थः' इति वादिनां चार्वाकाणाम् यदि कथञ्चित् कार्य-कारण-भाव-कल्पनमपि तथापि न पूर्व-पूर्व-परमाणु-पुञ्जोत्तरोत्तर-पुञ्जानाम् उपादानोपादेय-भावाभ्युपगमः सम्भवति, अपि तु कराद्यवयवानामेव तद्घटितेन शरीरेण सहोपादानोपादेय-भावः सम्भवति इत्याह—करादि शरीरस्योपादानं वाच्यमित्यनेन ग्रन्थेन। यद्यपि प्रत्यक्षाऽविषयतया परमाणोरनभ्युपगमात् पञ्चम-तत्त्वा-ऽभ्युपगम-प्रसङ्गेन च अवयव-संयोगास्वीकारात् संहन्तुरभावाच्च चार्वाकैः प्रत्यक्षावयव-पुञ्जातिरिक्तः करादि-पदाभिधेयः कश्चन घटकः अवयवी शरीरादि-पदाभिधेयश्च कश्चन घटितः अवयवी नाभ्युपेयते सिद्धान्ततः, तथाऽपि अभ्युपेत्यवादेनायं ग्रन्थ इत्युक्तम्। तथा च = करादेः शरीरोपादानत्वे च, तदनुभूतस्य = कराद्य-नुभूतस्य, स्मरणम्--करादि-रहित-खण्ड-शरीरेणेति शेषः । न स्यादिति—

-शिशु के द्वारा होने लग जाएगा । यदि केवल उपादान कारण को वासना का उपादेय में सङ्क्रमण होता है—यह कहा जाय तो उसके उत्तर में कह रहे हैं :—"नास्ति गत्यन्तरं स्थिरे" । 'स्थिरे' अर्थात् स्थिर-पक्ष में, एक परमाणु-पुञ्ज से दूसरे परमाणु-पुञ्ज की उत्पत्ति तो मानी ही नहीं जा सकती, किन्तु हाथ-पैर आदि को ही इस शरीर का उपादान कारण मानना होगा । एवञ्च हाथ-पैर .दि के शरीर से किसी प्रकार विच्छिन्न हो

विच्छिन्न-करादेः अनुपादानत्वात् ।

न च परमाणूनां चैतन्यम्, तेषाञ्च स्थिरत्वात् स्मरणं स्यादिति वाच्यम्, तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्व-प्रसङ्गात्, तन्निष्ठ-रूपादिवत् ।

खण्ड-शरीरे तत्स्मरण-प्रयोजक-वासनाऽभावादिति भावः। ननु एक-देश-विकारेऽपि तदेवेदं शरीरम् इति प्रत्यभिज्ञानात् खण्ड-शरीरस्यापि तदानीं ध्वंस-प्रतियोगि-कराद्युपादानकत्वेन करादि-निष्ठ-वासनायाः तदुपादेये खण्ड-शरीरे सङ्क्रम इति न दोष इत्यत्राह—खण्ड-शरीरेत्यादि। अयमर्थः—भवेन्नामैतदेवम् यदि करादि-विशिष्ट-तद-विशिष्ट-शरीरयोः ऐक्यं स्यात्, तदेव तु न; अवयविनाशे लाघवात् आश्रय-नाशस्यैव प्रयोजकत्वम् इत्यस्य तृतीये व्यवस्थापयिष्यमाणत्वेन करे विच्छिन्ने तदुपादानकं शरीरमपि ध्वस्तमेव, तदुत्तरं जायमानं च निष्करं शरीरं न पूर्व-शरीराभिन्नम् इति न तस्य पूर्व-करोपादानकत्वम् इति पूर्व-कर-निष्ठवासनायाः तद्ध्वंसोत्तर-जायमान-शरीरे तदनुपादेये सङ्क्रमः नैव सम्भवति। प्रत्यभिज्ञा तु सादृश्यात्। अत एव मस्तकादिप्रधानाङ्ग-विच्छेदे न सहसा कवन्ध-प्रत्यभिज्ञानमिति स्थितिः। तस्मात् स्वीक्रियताम् वा सर्व-व्यवहार-निराकरणम् अनुभव-स्मरणयोः वैयधिकरण्यम्, निराक्रियताम्वा शरीरे चैतन्या-द्याश्रयणमिति अन्यत्र विस्तरः।

स्थिरत्वादिति—यावत् शरीर-स्थितिम् इति शेषः। करपरमाण्वनु-भूतेत्यादि—अवयव - पुञ्ज - शरीर - घटकतयाऽवश्याभ्युपेय - करादि - तत्तदवयव-स्थानीयावान्तर-पुञ्जानामन्यतमेनाऽनुभूतस्य तद्विच्छेदे तत्पु-ञ्जानुपादेय-शरीरेण स्मरणं दुर्घटमेवेति परमाणु-चैतन्याभ्युपगमेऽपि पूर्वोक्त-दोषस्य न निस्तारः इति भावः। प्रसङ्गाच्चेत्यत्र चकारेण

जाने पर पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि विच्छिन्न हाथ-पैर आदि को हस्तादि-रहित शरीर का उपादान नहीं कहा जा सकता।

यह कहना भी उचित नहीं है कि परमाणुओं में ही चैतन्य है और वे परमाणु तो सभी अवस्थाओं के शरीर में हैं, अतः स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि ऐसा मानने पर परमाणु-गत रूपादि की तरह परमाणु-निष्ठ स्मरण भी इन्द्रिय-वेद्य (मनोग्राह्य) नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि करावयव-परमाणुओं के द्वारा अनुभूत पदार्थों का, करादि के शरीर से

कर-परमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्न-कर-परमाण्वसन्निधौ अस्मरण-प्रसङ्गाच्च ॥ १५ ॥

नन्वस्तु क्षण-भङ्गः, तथा च पूर्व-पूर्व-परमाणु-पुञ्जेनोपादेयोत्तरोत्तर-

परमाणूनां चैतन्ये एकत्र शरीरे नाना-चेतनाभ्युपगमस्यावश्यकतया नाना-चेतनानां सर्वदा ऐक-मत्याभावात् प्रवृत्त्यादि-सम्भवाभावादिश्च समुच्चीयते ॥ १५ ॥

पूर्व-कारिकायाम् चार्वाकैः स्थिर-वादाभ्युपगमात् पूर्व-पूर्व-परमाणु-पुञ्जोपादानात् उत्तरोत्तर-परमाणु-पुञ्जोत्पत्तेरनभ्युपगमात् उपादानोपादेय-स्थले वासना-सङ्क्रमाभ्युपगमेपि न स्मरणोपपत्तिरित्यादि-दूषणं चार्वाक-मते ग्रन्थकृता दत्तम् । तदेतत्परिहर्त्तुकामः चार्वाकः क्षण-भङ्ग-वादाभ्युपगमेन शरीरात्म-वादं व्यवस्थापयितुं शङ्कते—नन्वस्तु इत्यादिना । इत्थं हि क्षण-भङ्गोपपत्तिः—बीजमङ्कुर-कारणम् न बीजत्वेन रूपेण, तथा सति कुसूलस्थ-बीजादपि अङ्कुरोत्पत्त्यापत्तेः, सहकारि-स्वीकारे तु तस्यैव सहकारिणः कारणत्वं स्यात् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्, न तु बीजस्य, तदभावात् । तस्मात् व्यवस्थोपपत्तये अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्वेन रूपेण बीजस्य कारणत्वं वक्तव्यम् । तत्रापि यदि अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्वम् बीजाद्भिन्नम् सहकारि-जन्यम् इति मन्यते तर्हि पुनरपि तत्रैव कुर्वद्रूपत्वे कारणाता-ग्रहः स्यात् न तु बीजे इत्यतः कुर्वद्रूपत्वं न बीजादि-व्यतिरिक्तम् इति मन्तव्यम् । तत्रैवं सति यदि तथाविध-बीजस्य स्थिरत्वम् तर्हि कुसूलस्थ-बीजात् अङ्कुरोत्पत्त्यापत्तिः केन वार्यताम् इति तस्य क्षणिकत्वमेवोचितम् । तथा च पूर्व-पूर्व-बीजात् सहकारि-सहकृतात् कुर्वद्रूपत्व-स्वभावः बीजादिर्भावः क्षणिकः उत्पद्यते इति नाव्यवस्थेति । यद्यपि पूर्वस्मात् बीजात् कुर्वद्रूपत्व-स्वभावम् बीजमुत्पद्यते इति न प्रत्यक्ष-वेद्यम् तथापि यथा सुखादि-कार्य-दर्शनात् नैयायिकानां तदनुकूलादृष्टादिविषयकमनुमानम् तथा प्रकृतेऽपि अङ्कुर-दर्शनात्तदध्यवसेयम् । अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्व-स्वभाव-बीजयोः कार्यकारण-

विच्छिन्न हो जाने पर, स्मरण नहीं होना चाहिए था, परन्तु वस्तुस्थिति तो अत्यन्त विपरीत है। अतः न्याय-मत-सिद्ध शरीरादि-भिन्न आत्मा का स्वीकार अवश्य करना चाहिए ॥ १५ ॥

अच्छा तो क्षण-भङ्ग-वाद ही मान लेगें, एवञ्च पूर्व-पूर्व परमाणु-पुञ्ज

परमाणु-पुञ्ज इति न स्मरणानुपपत्तिः, इत्यत्र आह—

न वैजात्यं विना तत् स्यात् न तस्मिन्ननुमा भवेत् ।
विना तेन न तत्सिद्धिः नाध्यक्षं निश्चयम्बिना ॥१६॥

भावश्च उपपादित एव। तथा च भूतानामुपादानोपादेय-भाव-सिद्धौ वासना-संक्रम-सम्भवे नानुभव-स्मरणयोः सामानाधिकरण्य-व्याघात इति सुतराम् स्मरण-व्यवस्था इत्याह—न स्मरणानुपपत्तिरिति। यद्यपि अनुभव-स्मरणयोः सामानाधिकरण्यस्य अनादरे स्मरणम् स्थिर-पक्षेपि उपपद्यते एवेति स्मरणानुपपत्तिः न दोषतया उपादेया तथाऽपि सामानाधिकरण्य-नियमास्वीकारे सर्व-व्यवहार-विलोपः इति तस्य अवश्य-स्वीकर्त्तव्यत्वे व्यवस्थिते स्थिरवादे वासना-सङ्क्रमाभावात् अनुभव-स्मरणयोः सामानाधिकरण्यम् नोपपद्यते इति न तदाश्रितस्य स्मरणस्योपपत्तिरित्यभिप्रायेण स्थिर-वादम् उपेक्ष्य क्षणिक-वादाभ्युपगमेन स्मरणोपपादनं कृतमिति ध्येयम् ।

तदेतत्क्षण-भङ्गाश्रयणम् चार्वाक-कर्त्तृकम् कुर्वद्रूपत्वाख्य-वैजात्याधीनम्, तच्च वैजात्यम् न प्रमाण-सिद्धम् इति कुतः तदधीनः क्षण-भङ्गः इति नैव शरीरात्म-वादे स्मरणोपपत्तिरित्याशयेन समाधत्ते—आहेति ।

उत्तरोत्तर-परमाणु-पुञ्ज का उपादान होगा और इस तरह वासना-सङ्क्रम के सिद्धान्त के आधार पर स्मरण की भी अनुपपत्ति नहीं रहेगी? इस चार्वाकीय पूर्व-पक्ष का निराकरण कर रहे हैं :—

[अङ्कुरोत्पादक बीज में अङ्कुरानुत्पादक बीज से वैजात्य—कुर्वद्रूपत्व—की कल्पना के बिना क्षण-भङ्ग-वाद का उपपादन हो ही नहीं सकता है; वैजात्य मान लेने पर धूमादि-मात्र की वह्न्यादि-मात्र से व्याप्ति के अनुपपन्न हो जाने से अनुमान-मात्र विलुप्त हो जाएगा; अनुमान के उच्छेद से अनुमान-साध्य क्षणभङ्ग-वाद की सिद्धि नहीं होगी और यतः क्षण-भङ्ग-विषयक सविकल्पक नहीं होता है अत एव क्षण-भङ्ग-विषयक निर्विकल्पक ज्ञान (प्रत्यक्ष) से भी क्षण-भङ्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है। एवञ्च अप्रामाणिक क्षण-भङ्ग के अभ्युपगम से भी न्याय-मत का खण्डन अश्रद्धेय है ॥ १६ ॥]

वैजात्यम् = कुर्वद्रूपत्वम्, विना न, तत् = क्षणिकत्वम्, स्यात् = सिद्धयति इत्यर्थः। स्थिर एव बीजादौ सहकारि-लाभाऽलाभाभ्यामेव कार्य-जन्माजन्मयोरुपपत्तेः बीजत्वादिनैव अङ्कुरादि-जनकतोपपत्तेः बीजव्यक्ति-भेदाऽभावे कुतः क्षणिकत्वं स्यात् ?

स्थिर एवेति। अयमर्थः—क्षेत्रस्थात् बीजात् अङ्कुरोत्पत्तिः कुसूल-स्थात्तु नेति कथमिति प्रश्नस्य निरासाय एव क्षेत्रस्थ-बीजस्य कुर्वद्रूपत्व-स्वभावत्वम् कुसूलस्थ-बीजस्य तु तद्रहितत्वम् इति अभ्युपगमः कृतः (बीजत्वेन बीजं नाङ्कुर-कारणम् अपि तु अङ्कुर-कुर्वद्रपत्वेनैवेति मन्यते इति सारम्)। तत्रापि स्थिर-पक्षे नोपपत्तिरिति क्षण-भङ्गः आश्रितः। परन्तु नैकस्मात् कारणात् कार्योत्पादः अपि तु कारण-कूटादिति सिद्धान्तस्य परैरपि अवश्याभ्युपेयत्वेन सहकारि-समवहित-मेव बीजमङ्कुरमुत्पादयितुम् अलम्, न तद्विधुरमित्यस्य सुवचत्वेन क्षेत्रस्थ-कुसूलस्थ-बीजस्य एकत्वेऽपि सहकारि-समवधानासमवधा-नाभ्यामेव क्षेत्रस्थ-बीजादङ्कुरोत्पत्तिः कुसूलस्थ-बीजान्नेति पूर्व-प्रश्नोऽपि समाहितः इति न वैजात्यापर-पदाभिधेयम् कुर्वद्रूपत्वं कल्पनीयम् न वा तदाश्रितस्य बीजे क्षणिकत्वस्य च सिद्धिरिति "तदेवेदं बीजम" इति प्रत्यभिज्ञा च सूपपादेति न क्षण-भङ्गमाश्रित्य देहात्मवादोपपादनं चार्वाकाणां चतुरस्रमिति। यत्पुनः उक्तम् न बीजेन सह अङ्कुरस्या-न्वय-व्यतिरेकौ इति तत्रेदं वक्तव्यम्—सहकारि-सहितस्यैव बीजस्य अङ्कुरेण सह ताविति, कथमन्यथा परैरपि सहकारि-सहितस्य पूर्व-बीजस्य कुर्वद्रूपत्व-स्वभावोत्तर-बीजम्प्रति कारणता निर्णीयेत ? स्ताम् वा स्वातन्त्र्येणैव ताविति का नो हानिः। तौ न कारणता-नियामकौ इति तु परमार्थः। बीज-व्यक्ति-भेदाऽभावे इति—बीज-व्यक्तिः, कुसूलस्थ-बीजम् क्षेत्रस्थ-बीजम् इत्यादि। तयोः परस्परं भेदः कुर्वद्रपत्व-स्व-भावत्वाऽस्वभावत्वाभ्यामेव नाऽन्यथा, तत्र च कुर्वद्रूपत्वस्य उक्त-युक्त्याऽप्रामाणिकत्वे व्यवस्थापिते भेदकस्य वैजात्यस्य अभावात् सुतराम् भेदाऽभावः सिद्धः इत्यर्थः।

'वैजात्यम्' अर्थात् कुर्वद्रूपत्व के अभ्युपगम के विना, 'तत्' अर्थात् क्षणिकत्व, 'न स्यात्' अर्थात् सिद्ध नहीं हो सकता है। किन्तु स्थिर बीज से ही सहकारी के भाव तथा अभाव के आधार पर जब कार्य की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति की व्याख्या हो जाती है तब बीजत्व रूप से ही बीज को अङ्कुर के प्रति कारण मानना चाहिए। एवञ्च क्षेत्र-गत बीज-व्यक्ति तथा कुसूल-स्थित बीज-व्यक्ति में भेद असिद्ध हो जाता है, फिर क्षणिकत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

तस्मिन् जाति-विशेषे च ऐन्द्रियक-वृत्तौ अतीन्द्रियत्वेन अभ्युपगम्यमाने सति अनुमानं न स्यात्। धूम-कुर्वद्रूप-वह्नित्वादिनैव वह्न्यादेः हेतुतया विलक्षण-स्व-कार्य-जनकत्वेन सम्भावितस्य विजातीयधूमस्यैव

दोषान्तरमाह—तस्मिन्नित्यादिना । ऐन्द्रियक-वृत्तौ = इन्द्रिय-ग्राह्य-वीजादि-निष्ठे इत्यर्थः । अनुमानमिति—अनुमान-मात्रमित्यर्थः । न स्यादित्यत्र हेतुम् प्रकृतस्थलाभिप्रायम् विवृणोति—धूम-कुर्वद्रूपेत्यादिना । तद्धूम-कुर्वद्रूपेत्यर्थः । हेतुतया = तद्धूमजनकतया । विलक्षणेति । इदमत्र तत्त्वम्—क्षण-भङ्ग-पक्षे वह्निः सामान्यतो द्विविधः—कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टः तद्रहितश्च। तत्र कार्यस्य धूमस्य दर्शनेन धूम-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट-वह्नेः अनुमितिः कर्त्तव्या। परन्तु वह्निवत् धूमोऽपि प्रथमतो द्विविधः—कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टः तद्रहितश्च। क्षण-भङ्गे च एकस्मात् कारणात् एकमेव कार्यम् इत्यावश्यकम्, अत एव एकत्रैव न परस्पर-विरुद्धयोः कर्तृत्वाऽकर्तृत्वयोः धर्मयोः समावेशाऽऽपत्तिरिति स्थितिः। एवं च सति कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टस्य धूमस्य कारणम् वह्निः अन्यः, कुर्वद्रूपत्व-रहितस्य धूमस्य कारणम् वह्निः अपरः। तत्र कार्यत्वेन परामृष्यमाणो धूमः कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टः तद्रहितो वेति निर्णयः धूम-कार्य-दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव। धूम-कार्यं च मालिन्यादि। तथा च मालिन्यं दृष्ट्वैव प्रकृत-धूम-स्वरूप-निर्णयः। परन्तु मालिन्यमपि द्विविधम्— यत्किञ्चित्कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टम्, तद्रहितं च। तदेवं कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टो धूमोऽपि द्विधा—यत्किञ्चित्कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट-मालिन्य-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टः, कुर्वद्रूपत्व-रहित-मालिन्य-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टश्च। तत्र कुर्वद्रूपत्वस्य अतीन्द्रियत्वेन मालिन्य-जन्य-कार्य-दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव मालिन्य-स्वरूपो निर्णयः, तन्निर्णयाधीनश्च धूम-स्वरूप-निर्णयः। मालिन्य-कार्यं च उपेक्ष्यत्व-बुद्ध्यादिः। तदिदं मालिन्य-कार्यमपि द्विविधम्—यत्किञ्चित्कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टम् तद्रहितं च। तत्रैवं सति मालिन्यमपि धूमवत् द्विविधम्—यत्किञ्चित्कुर्व-

और भी, यदि इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ में इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने के अयोग्य कुर्वद्रूपत्व नाम की जाति की स्थिति मान ली जाय तव फिर अनुमान कैसे बन सकता है, क्योंकि उस वैजात्य के अभ्युपगम करने पर तो धूम-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट वह्नि ही धूम का हेतु होगा। एवञ्च यत्किञ्चित्कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट धूम व्यक्ति में ही धूम-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट वह्नि से उत्पन्न होने की आशङ्का के उपस्थित हो जाने

वह्नि-जन्यत्व-सम्भावनायाम् धूम-सामान्ये हेतुत्वाऽनिर्णयात्। तथा च कार्य-कारण-भावरूप-विपक्ष-बाधक - तर्काधीन-व्याप्ति - निर्णयस्याऽसम्भवेन

द्रूपत्व-विशिष्टोपेक्ष्यत्व-बुद्धि-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टम्, तद्भिन्नं च। उपेक्ष्यत्व-बुद्ध्यादिनिष्ठं कुर्वद्रूपत्वमपि तत्कार्य-दर्शनानुमेयमेवेति परम्परया अनवस्थानात् परामृश्यमान-धूम कुर्वद्रूपत्व-विशिष्टः न वेति सन्देहो न निवर्त्तते। एक-प्रवाह-पतितानां सर्वेषां पदार्थानां साजात्यमेवेति तु क्षण-भङ्गे नैव वक्तुं शक्यम्, क्षणस्य च अति-सूक्ष्मत्वेन परामृश्यमानो धूमः कुर्वद्रूपत्व-रहित एवेत्यपि निश्चेतुं न शक्यते। तदेवं सन्देहः सुप्रपन्न एव। एवं च कार्यतावच्छेदकं कुर्वद्रूपत्वं तद्रहितत्वम् वा इत्यस्य निर्णयाभावेन तन्निरूपित-कारणताऽवच्छेदकस्य सुतरामग्रहात् कार्य-कारणभाव-निर्णयः न सम्भवति। कार्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि कार्य-कारण-भाव-ग्रहे तु अति-प्रसङ्गः। नाऽपि अपोहात्मकधूमत्व - वह्नित्वाभ्यां तद्व्यवस्था सूपपादा, लघुधर्मस्यावच्छेदकत्व-सम्भवे गुरु-धर्मस्यावच्छेदकत्वा-नङ्गीकारात्, अन्यथा द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादिना तन्तु-पटयोः कार्य-कारण-भावे सर्व-व्यवस्था-विलोपः, नीलधूमत्वादेरपि अवच्छेदकत्व-सम्भवेन च बहूनाम् हेत्वाभासानामपहारः इत्यसद्धेतुतापि विलुप्येत।

कुर्वद्रूपत्वादेः सन्दिग्धत्वात् धूमत्वादीनाम् अवच्छेदकत्वम् मन्यताम् इत्यपि न; एतावता क्षण-भङ्ग-वाद एव त्यज्यताम् इत्य-स्यापि प्राप्तत्वात्। धूमत्वादिः अपोह-रूपः जाति-रूपो वेति विप्रति-पत्त्या धूमत्वादेरपि सन्दिग्धत्वात्, जातिरेव वेति विपर्यस्तत्वाद्वा। तदेवं कार्य-कारणभावाग्रहे निरूपिते "कार्य-कारण-भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभाव-नियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्" इत्यपि निरस्तम्। तथा च अनुमान-मात्र-विलोपप्रसङ्गः। तदेतदाह—तथा च कार्य-कारण-भावेत्यादिना। विपक्ष-बाधकेति — विपक्ष-वृत्तित्वबाध-केत्यर्थः। यथा हि नैयायिकादि-मते पर्वते धूम-दर्शने सत्यपि यदि "पर्वतः धूमवान् अस्तु वह्निमान् न अस्तु" इत्याकारकः सन्देहः संजायते तर्हि तस्य निवृत्त्यै "धूमः यदि अवह्निमत्यपि पर्वते स्यात् तर्हि तस्य वह्निजन्यत्वं न स्यात्, वह्न्यभावेपि तस्य (धूमस्य)

से धूम-सामान्य में वह्नि की अनुमापकता नहीं मानी जा सकेगी। एवञ्च कार्य-कारण-भावात्मक विपक्ष-वृत्तित्व-बाधक तर्क के अधीन होनेवाले व्याप्ति-

अनुमान-मात्रोच्छेद-प्रसङ्गः इति । तेन = अनुमानेन, विना न, तत्सिद्धिः = क्षण-भङ्ग-सिद्धिः, तस्य अनुमानैक-गम्यत्वात् ।

न च तत्र प्रत्यक्षमेव मानम् इति वाच्यम्, निर्विकल्पकस्यैव तन्मते विषयजन्यतया प्रामाण्यम्, तस्य च सविकल्पोन्नेयतया क्षणिक इति

सत्त्वात्; परन्तु वह्निजन्यं हि तत् इति प्रामाणिकम्, अतःधूमवान् वह्निमानेवेति" कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसंगः तर्कतया उपादीयते, तथा क्षण-भङ्गे न वक्तुम् शक्यम्, कार्य-कारण-भावस्यैवानिर्णीतत्वेन तस्य भङ्गः कथम् आपादनीयः स्यादिति भावः । तदेवं व्याप्ति-निर्णयाऽसम्भवे तदधीनस्याऽनुमानस्य सर्वथैवाऽसम्भवेन प्रकृते क्षण-भङ्गाभ्युपगमः न सम्भवतीति पुनः तत्रैवावलम्बितो वेतालः इत्याह—तेनेत्यतः अनुमानैक-गम्यत्वादिति ग्रन्थेन ।

अथ मास्त्वनुमानम्, न हि वयं चार्वाकाः अनुमानेन पदार्थं साधयामः, अनुमानादीनामप्रमाणत्वात्, अपि तु प्रत्यक्षमेव निर्विकल्पकं प्रमाणं सत् क्षणिकत्वं साधयेत् इत्यत आह—न च तत्रेत्यादि। तत्र = क्षण-भङ्गे । प्रामाण्यम् इति--निर्विकल्पकं हि स्वलक्षणं परमार्थसत् स्व-विषयतया अवगाहमानं विषयजन्यमिति तस्य प्रामाण्यम् इत्यतः निर्विकल्पकाधीना वस्तुनिश्चितिः क्षण-भङ्ग-वादिनाम् । सविकल्पकं तु अलीकं घटत्व-पटत्वादि स्व-विषयतया अवगाहमानम् न विषय-जन्यमिति न तस्य प्रामाण्यम् इत्यतः सविकल्पकाधीना वस्तु-निश्चितिः यद्यपि न क्षण-भङ्गे तथाऽपि निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियतया सविकल्पक-मात्रानुमेयत्वम् इति क्षणिकत्व-विषयक-सविकल्पकस्याप्यभावेन न क्षणिकत्वावगाहि-निर्विकल्पकानुमितिः, तदभावे च न क्षणिकत्व-सिद्धिरिति प्रकटयति—क्षणिक इति ।

विषयक निर्णय की असम्भावना में व्याप्ति-मूलक अनुमान-सामान्य का उच्छेद हो जाता है । 'तेन' अर्थात् अनुमान के विना, 'न तत्सिद्धिः' अर्थात् क्षण-भङ्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि क्षण-भङ्ग अनुमान से ही ज्ञेय हो सकता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ही क्षण-भङ्ग की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि यद्यपि बौद्ध-सम्प्रदायानुसार केवल निर्विकल्पक ही प्रमाण है तथापि उसका ज्ञान सविकल्पक-प्रत्यक्ष के अधीन ही है । एवञ्च क्षणिकत्व-विषयक सविकल्प-प्रत्यक्ष के नहीं होने से क्षणिकत्व-

सविकल्पकस्याऽसिद्धौ असिद्धेः।

किञ्च अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्वं न जातिः, शालित्वादिना सङ्करात्। शालित्वमपहाय यवे तस्य सत्त्वात्, शालित्वस्य कुशूलस्थे शालौ तदपहाय सत्त्वात्, कुर्वंद्रूपे शालौ तु उभयोः समावेशादिति। अत एव रजतत्वादि-

असिद्धेः = क्षणिकत्व-विषयक-निर्विकल्पासिद्धेः। तदसिद्धौ च सुतराम् क्षणिकत्वाऽसिद्धिरिति भावः। असत्यपि सविकल्पके यदि क्षणिकत्व-विषयकं निर्विकल्पकं जायते इति स्वीकारः तर्हि सविकल्पकाभावेऽपि क्षणिकत्वाऽभाव-विषयकं निर्विकल्पकमेव भवति इत्यस्य सुवचत्वादिति ध्येयम्।

इदानीम् कुर्वद्रूपत्वस्य न जातित्वम्, तथा च न कार्यतावच्छेदकतया तदनुमितिरिति निर्दिशति—किञ्चेति। अङ्कुरेति—अत्र अङ्कुरेति पदमुपलक्षणम्। यद्यपि क्षण-भङ्ग-वादिभिः नैव जातिः स्वीक्रियते इति कुर्वद्रूपत्वे जातित्व-खण्डनम् सिद्ध-साधनम् तथाऽपि स्वमताभिप्रायतया यथा-कथञ्चिद्योजनीयम्। ग्रन्थार्थस्तु वर्णनीयः। सङ्करादिति—परस्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरणयोः धर्मयोः एकत्र समावेशः सङ्करः। स च जाति-बाधकत्वेन न्यायादि-शास्त्रे परिभाषितः। प्रकृते च साङ्कर्यं सङ्गमयति—शालित्वम् अपहायेति। शालिपदं धान्यार्थकम्। यवे = क्षेत्रस्थे यवे, तस्य = कुर्वद्रूपत्वस्य। तदपहाय = कुर्वद्रूपत्वमपहाय। एतेन शालित्व-कुर्वद्रूपत्वयोः परस्पराभावसामानाधिकरण्यम् दर्शितम्। लक्षणस्योत्तरार्धं घटयति—कुर्वद्रूपे शालौ इत्यादिना। उभयोः = शालित्व-कुर्वद्रूपत्वयोः। तथा च साङ्कर्यात् अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्वं न जातिः, तथा च तत्रावच्छेदकत्वं न सम्भवतीति यथाकथञ्चित् तज्ज्ञानेऽपि न कार्यतावच्छेदक-सापेक्षः

विषयक निर्विकल्पक भी असिद्ध ही है।

दूसरी बात यह भी है कि क्षण-भङ्ग-वाद के अनुसार स्वीक्रियमाण कुर्वद्रूपत्व जाति नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें जातित्व-बाधक साङ्कर्य नाम का दोष है। साङ्कर्य का अर्थ है परस्पर-भिन्न अधिकरणों में रहनेवाले दो धर्मों का कदाचित् किसी एक अधिकरण में अवस्थान। प्रकृत-स्थल में शालित्व-शून्य यव में कुर्वद्रूपत्व है और कुसूल-स्थित शालि (धान) में कुर्वद्रूपत्व नहीं है परन्तु शालित्व है जिससे यह स्पष्ट होता है कि कुर्वद्रूपत्व तथा शालित्व ये दोनों ऐसे धर्म हैं जो एक दूसरे के अधिकरण में नहीं रहते हैं। परन्तु क्षेत्रस्थ शालि में तो दोनों ही धर्म—कुर्वद्रूपत्व तथा शालित्व—उपलब्ध हैं। इसी लिए रजत से

व्याप्यं नानैव घटत्वम्, विजातीय-संस्थानवदवयवकत्व-रूपमुपाधिमादाय घट इत्यनुगत-धीः इति ॥ १६ ॥

नन्वस्तु क्षणिकत्वे सन्देहः ? न च प्रत्यभिज्ञाबलेन स्थैर्य-सिद्धौ कथं

कार्य-कारणभावः व्यवस्थापयितुं शक्यः इति भावः । नन्वेवं सङ्करस्य जाति-बाधकत्वे घटत्वमपि जातिर्न स्यात्, घटत्वाभाववति रजतपिण्डे रजतत्वस्य रजतत्वाभाववति पार्थिव-घटे घटत्वस्य सत्त्वेन रजत-घटे च द्वयोरपि रजतत्व-घटत्वयोः समावेशात् इत्यत आह—नानैव घटत्वम् इति । तथा च रजत-सुवर्ण-पाषाणादि-साधारणं घटत्वं न चक्रादि-भ्रमि-जन्यस्य घटस्य अवच्छेदकम् इति न सुवर्ण-रजत-घटादि-साधारणम् एकं घटत्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्, अपि तु चक्रादिभ्रमण-जन्यस्य घटस्य अवच्छेदकं घटत्वम् अन्यम्, टङ्कादि-व्यापार-जन्यस्य घटस्य अवच्छेदकम् घटत्वम् अन्यम् इति रीत्या नानात्वं घटत्वस्य सिद्धमिति न सङ्कर-प्रसङ्ग इति हृदयम् । एवं च विभिन्न-घटत्वाश्रयेपि सुवर्ण-रजत-पार्थिवादि-घटे घट इति समानाकार-व्यवहारमुपपादयति—विजातीयेत्यादिना । विजातीयत्वेपि तत्तद्घटाद्यवयवानाम् संस्थानस्य (=अवयवसन्निवेशस्य) समानतया समानाकारः घट इति व्यपदेशः सर्व-घट-साधारणः इत्यर्थः ॥ १६ ॥

चार्वाकः पुनः प्रत्यवतिष्ठते चैतन्यं भूतधर्मत्वेन साधयितुम्—नन्विति । क्षणिकत्वे सन्देहः इति। एतच्चापाततः—स्थिरत्वे सन्देह इति तु युक्तम्। क्षणिकत्वस्य पूर्वमप्रामाणिकत्व-समर्थनेन तद्विषयक-संशयानुत्थापनात्। अत एवोक्तं राम-भद्र-तर्क-वागीशैः अपि—"अत्र हि न क्षणिकत्व-सन्देहः, तदसिद्धेरिति स्थिरत्वे तज्ज्ञाने तत्प्रा-

बने हुए सभी घटों में रहनेवाला घटत्व सुवर्ण अथवा मृत्तिका से बने हुए घटों में रहनेवाले घटत्वों से भिन्न ही है। अत एव घटत्व अनेक हैं। फिर भी सुवर्ण-निर्मित हो या मृत्तिका-निर्मित, परन्तु सब के लिए 'घट' इस सामान्य शब्द के प्रयोग का आधार है उन सब के अवयवसंस्थान की समता, यद्यपि वस्तुतः वे घट परस्पर विजातीय हैं ॥ १६ ॥

अस्तु, क्षणिकत्व के विषय में फिर भी सन्देह तो बना ही रहता है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं या नहीं ? यहाँ, प्रत्यभिज्ञान के आधार पर एकता के सिद्ध हो जाने से फिर वह संशय नहीं उठ पाता है—इस प्रकार का कथन उचित

स वाच्यम्, "स एव अयं घटः" इत्यत्र सन्देह-सत्त्वात्; अत्राह—

स्थैर्य-दृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः ।
एकता-निर्णयो[1] येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥ १७ ॥

स्थैर्ये न सन्देहः, तस्य प्रत्यभिज्ञया विषयीकरणात् । न च प्रत्यभिज्ञान-रूपे, तस्यापि तदनुव्यवसायेन निर्णयात् । प्रामाण्य-मात्रेऽपि न

माण्ये वा संशयः" इत्यादि । कश्चित्तु स्थिरत्वे सन्देहात् क्षणिकत्वेऽपि सन्देह एवेति व्याख्याति, तदेदत् विवेचनीयम् ।

एतावता स्थिरत्व-सन्देहात् स्थिरस्य आत्मनः नैयायिकाभिमतस्य असिद्धिरित्यतोपि चार्वाक मनोरथ-सिद्धिरिति शङ्कार्थः प्रतिफलति ।

तस्य = स्थैर्यस्य, प्रत्यभिज्ञया = तदेवेदमिति ज्ञानेन । प्रत्यभिज्ञाने = स्थैर्य-विषयक-प्रत्यभिज्ञाने । तदनुव्यवसायेन = प्रत्यभिज्ञा-विषयकानुव्यवसायेन । विरोधादिति । एतदेव विवृणोति—सन्देहेत्यादिना । सन्देह-ज्ञानस्य = सन्देह-विषयकस्य सन्देह्मीत्यनुवसायस्य; प्रामाण्ये संशये तन्मात्र-ग्राह्ये संशयेऽपि संशयः स्यादित्यनवस्थेति न संशयोपि सिद्ध्येत् । प्रकारान्तरेणापि सन्देहाऽसिद्धिमुद्भावयति—प्रामाण्याऽसिद्धाविति । "प्रमा अप्रमा वा ?" इत्याकारकः संशयः प्रामाण्य-विषयकः अभिमतः परेषाम् । तत्र यदि ज्ञान-प्रामाण्य-मात्रे सन्देहः तर्हि सन्देहोपि निरास्पदत्वमाप्नुयात्, प्रामाण्यस्य कुत्राप्यनिश्चितत्वेन

नहीं है, क्योंकि 'यह वही घट है' इस प्रत्यभिज्ञा में भी तो सन्देह है हीं । इस पूर्व-पक्ष के समाधान में कह रहे हैं :—

[प्रत्यभिज्ञान के कारण स्थिरता के विषय में, और प्रत्यभिज्ञान के अनुव्यवसाय के कारण प्रत्यभिज्ञान के विषय में तो सन्देह हो हीं नहीं सकता । ज्ञान-मात्र के प्रामाण्य में भी सन्देह होना सम्भव नहीं है । एवञ्च जिस प्रकार क्षण-भङ्ग-पक्ष में भी एक ही घट में तत्क्षण-वृत्तित्व तथा तत्काल-वृत्तित्व धर्मो के रहने पर भी एक क्षण के लिए घट की एकता बनी रहती है उसी प्रकार स्थिरपक्ष में भी कर्तृत्वाऽकर्तृत्वादि धर्मों की, काल-भेद के आधार पर, उपपत्ति हो जाने से प्रत्यभिज्ञान के बल से एकता का निर्णय हो जाता है ॥१७॥]

पदार्थ की स्थिरता में कोई सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि एकत्व-प्रत्यभिज्ञा के कारण उसका निर्णय हो जाता है । उस स्थैर्य-ग्राहक प्रत्यभिज्ञान में भी संशय नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुव्यवसाय के द्वारा उसका निर्णय हो जाता

१. निश्चयः इति पाठः क-ख-ग-घ-पुस्तकेषु ।

सन्देहः, विरोधात्। सन्देह-ज्ञानस्य प्रामाण्यसन्देहे सन्देहस्याऽप्यसिद्धेः, प्रामाण्याऽसिद्धौ प्रामाण्य-संशयस्याप्यभावः, कोट्यनिर्णयात्।

न नु प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्ये संशयः, लूनकेशादौ "ते एव अमी केशाः" इत्यादेर्भ्रमत्व-दर्शनात्, तत्राह—एकतेति। येन प्रमाणेन

तद्विषयक-संशयानुपस्थितेः। संशये हि कोटिद्वयं विषयतया भासते। तच्च कोटि-द्वयम् अन्यत्र प्रसिद्धमेवान्यत्र समान-धर्म-दर्शनादि-सहकृतं संशय-विषयतामासादयति। यदि च प्रामाण्यं सर्वत्राप्रसिद्ध-मेव मन्येत तर्हि तस्य अन्यतर-कोटि-प्रतिपादकत्वाऽसम्भवात् संशय-विषयतैव न स्यादित्यगत्या प्रामाण्यस्य यत्रकुत्रचित् प्रसिद्धिर्मन्त-व्येति प्रामाण्य-मात्र-सन्देहोऽनुपपन्न इति प्रघट्टकार्थः। इदमत्रा-नुसन्धेयम्—सन्देहस्याप्यसिद्धेरित्यन्तेन ग्रन्थेन सामान्यतया सन्देहानुपपत्तिः प्रदर्शिता, प्रामाण्याऽसिद्धावित्यादिना च सन्देह-विशेषानुपपत्तिःप्रदर्शिता। तथा च सन्देह-सिद्धये तद्विषयकानुव्यसायाा-पेक्षा, तस्य च अप्रमात्वे पुनरपि सन्देहासिद्धिरिति सन्देह एवान्यथाऽ-नुपपन्नः स्व-ग्राहकानुव्यवसाय-प्रामाण्यमपि प्रमापयति इति कथं स प्रामाण्य-सामान्यं विषयीकुर्यात्? इति प्रथमानुपपत्ति-तात्पर्यम्। द्वितीयानुपपत्ति-तात्पर्यं तु पूर्वमेव स्पष्टीकृतमिति न पुनः तदावश्यकतेति।

अधुना विशेषतः स्थिरत्व-प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्ये सन्देह-माशङ्कते—नन्वित्यादिना। प्रत्यभिज्ञायाः = स्थिरत्वावगाहि-प्रत्यभिज्ञायाः। इत्यादेः = इत्यादि-प्रत्यभिज्ञायाः इत्यर्थः। एकतेति मूलम। अयमर्थः-क्षणभङ्ग-वादिनाम् हि एकस्मिन् भावे एकत्व-निश्चयः मतः, तत्र च एकोयमिति ज्ञानमेव शरणम्। तथा च यथा एकोऽयमिति-

है। प्रामाण्य-मात्र में भी सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि तब तो परस्पर-विरोध हो जाता है, अर्थात् सन्देह-ज्ञान के प्रामाण्य के सन्दिग्ध होने पर सन्देह (प्रामाण्य-विषयक) भी असिद्ध हो जाएगा, और प्रामाण्य के असिद्ध हो जाने पर प्रामाण्य-विषयक संशय भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि कोटि-द्वय के स्वतन्त्र रूप में निर्णय के बिना संशय नहीं हो सकता है।

किन्तु प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य में तो संशय हो सकता है, क्योंकि बाल के कट जाने पर पुनः जब बाल माथे पर उगते हैं तो लोग कहा करते हैं कि ये वे ही बाल हैं, और विचार करने पर तो इस प्रत्यभिज्ञा का भ्रमत्व स्पष्ट है। अतः स्थैर्य-विषयक-प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य में संशय स्वाभाविक है—इस पूर्व-पक्ष के

विरुद्ध-धर्म-संसर्गविरहेण क्षणिके घटे यदि तस्मिन्नेव क्षणे न नानात्वम् किन्तु एकत्वम्, तदा स्थिरे = स्थिरपक्षेऽपि, नाना-क्षण-वर्त्तित्वेऽपि घटस्य न नानात्वम् किन्त्वेकत्वम् । एकस्य ज्ञानस्य नानाविषय-सम्बन्धवत् एकस्य नाना-काल-सम्बन्धे अपि

ज्ञान-प्रामाण्यात् क्षणिक-पक्षे पदार्थस्य एकत्व-निश्चयः तथैव 'तदेवेदं वस्तु' इतिज्ञान-प्रामाण्यात् स्थिरस्यापि वस्तुनः एकत्व-निश्चयः इति समः समाधिः। अथ क्षण-पक्षे पदार्थे विरुद्ध-धर्म-संसर्गाभाव इति कृत्वा तद्विषये एकत्वमवगाहमाना धीः प्रमाणम् इति मन्यसे तदाऽपि तुल्यः समाधिरित्याह—येन प्रमाणेनेत्यादिना। अयमाशयः—न ह्ययं धर्म इति कृत्वा तस्य धर्मान्तरेण विरोधः, तथा सति क्षणिक-पक्षेपि एकस्मिन् एव क्षणिके घटे तत्क्षण-वृत्तित्त्वस्य धर्मस्य तस्मिन्नेव घटे अवश्याभ्युपेयेन तद्देश-वृत्तित्वेन धर्मेण विरोधे क्षणिक-पक्षेऽपि एकोऽयमिति ज्ञानस्य भ्रमत्वमेव स्यादिति तत्पक्षेपि नैकत्व-सिद्धिः। अतः धर्मस्य धर्मान्तरेण विरोधः अविरोधः वा इति प्रमाणेन निर्णयः। तत्र च एकस्मिन् एव घटे अनेककालोपाधि-सम्बन्धस्य स्थिरपक्षे सम्मतत्वेपि तत्र घटे अभ्युपगम्यमानेषु प्रथम-क्षण-वृत्तित्व-द्वितीय-क्षण-वृत्तित्त्व-तृतीय-क्षण-वृत्तित्वादिषु धर्मेषु न परस्परं विरोध इति यथा क्षणिक-पक्षे विरुद्ध-धर्म-संसर्गाभावः घट-विषयकस्य एकोऽयमिति ज्ञानस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति तथैव स्थिर-पक्षेऽपि तदेवेदम् इति ज्ञानस्य प्रामाण्यम् (स्थिरे घटे) विरुद्ध-धर्म-संसर्गाभावः व्यवस्थापयिष्यतीति किमत्र चित्रम् ? तदेतदुपपादयति—तदेत्यादिना। विरुद्ध-धर्म-संसर्गाऽभावमेव स्थिर-पक्षे उपपादयति—एकस्य ज्ञानस्येति । नाना-विषयेति—क्षणिके घटादौ तत्क्षण-वृत्तित्त्व-तद्देश-वत्तित्वादेः सम्बन्ध इवेत्यर्थः।

समाधान के लिए कह रहे हैं :—एकता आदि शब्दों से । यदि अनेक धर्मों के उस क्षणिक घट में समावेश होने पर भी उन धर्मों में परस्पर-विरोध नहीं होता है—इस युक्ति से क्षणिक घट की एकता हीं बनी रहती है न कि अनेकता तो 'स्थिरे' अर्थात् स्थिर-पक्ष में भी, घट में अनेकक्षण-वृत्तित्व होने पर भी घट का एकत्व ही रहेगा, अनेकत्व नहीं । जिस प्रकार एक ही ज्ञान का अनेक विषयों से सम्बन्ध सूपपन्न है उसी प्रकार एक ही घट का अनेक क्षणों के

अविरोधात्। तत्कारण-क्रमाधीनत्वात् तत्काल-सम्बन्धस्य ॥ १७ ॥

तदेवं परलोक-साधनमागतम्। तत्रेदं शङ्क्यते—कारणत्वं स्वाभाविकम् औपाधिकम्वा ? आद्ये नीलस्य सर्वान् प्रति नीलत्ववत् कारणस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात् कारणत्वमपि स्यात्, तथा च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्।

ननु एकस्मिन्नेव काले तद्देश-वृत्तित्व-तत्क्षण-वृत्तित्वादेः न विरोधः, परन्तु एकस्मिन्नेव क्षणे प्रथम-द्वितीय-तृतीयादि-क्षण-वृत्तित्वानां सम्बन्धस्तु विरुद्धः स्यादेवेति वैषम्यं क्षणिक-पक्षादिति शङ्कायामाह—तत्कारणेति। तथा च तत्तत्काल-सम्बन्धे तत्तत्कालोपाधीनां प्रथम-द्वितीय-क्षणादीनां क्रमस्य अवश्यम्भवात् सम्बन्धोऽपि क्रमिक एव न तु युगपदिति न युगपदनेक-काल-सम्बन्ध-पक्ष-भावी विरुद्ध-धर्म-संसर्गः, येन पूर्वोक्तं वैषम्यमिति तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञया युक्तं वस्तुनः स्थिरत्वमिति सारम् ॥ १७ ॥

अदृष्टमित्यपहाय पर-लोक-साधन-पदाभिधानम् तस्य नित्यात्म-समवेतत्व-सूचनायेति बोध्यम्। शङ्क्यते—बौद्धसिद्धान्तानुप्रवेशेन चार्वाकैरिति शेषः। नीलस्येति—पारमार्थिक-नीलस्येत्यर्थः। सर्वान् प्रतीति—तथा च यत्र यत्र पारमार्थिकत्वम् तत्र तत्र सर्व-साधारणत्वमिति व्याप्तिः प्रतिफलति। सर्वं सर्वस्येति—तथा च दण्डः घटस्येव पटस्यापि कारणं स्यात्, न चैतन्मन्तुं शक्यमिति कारणे पारमार्थिकत्वव्यापकं साधारणत्वं निवर्त्तयत् स्व-व्याप्यम पारमार्थिकत्वमपि निवर्त्तयेत् वृक्षत्वमिव शिशपात्वमिति भावः।

अथ घट-नियत-पूर्व-वर्त्तित्वौपाधिकमेव दण्डस्य कारणत्वम् इति न पटादिम्प्रति तस्य कारणत्व-प्रसङ्गः, तदुपाधेः पटं प्रत्य-

साथ सम्बन्ध मानने में भी कोई विरोध नहीं हो सकता। कालोपाधियों के क्रमिक होने के कारण अनेक क्षणों के एकदा सम्बन्ध की आपत्ति भी नहीं आ पाती है ॥ १७ ॥

इस प्रकार से आत्म-समवेत अदृष्ट की सिद्धि हो चुकी। अव पुनः आशङ्का हैं:—कारणता स्वाभाविक धर्म है या औपाधिक ? यदि इसे स्वाभाविक कहा जाय तव तो जिस प्रकार नील रूप सवके लिए नील रूप ही होता है उसी प्रकार सव पदार्थ सब पदार्थ के कारण हो जायेंगे, क्योंकि कारण सवके लिए कारण ही हो सकता है।

द्वितीये उपाधेरपि स्वाभाविकत्वे तद्दोष-तादवस्थ्यात्, औपाधिकत्वे अनवस्था।

किञ्च कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे उत्पत्तेः आरभ्य कार्यं कुर्यात् तत्राह—

भावादित्यत्र दोषमाह—द्वितीये इत्यादिना। उपाधेः = घट-नियत-पूर्व-वर्त्तित्वात्मकोपाधेः। स्वाभाविकत्वे = दण्ड-स्वभावत्वे। तद्दोषतादवस्थ्यादिति—तस्य सर्वान् प्रत्यविशेषत्वादिति भावः। उपाधेः औपाधिकत्वे दोषमाह—अनवस्थेति। यतोऽयमुपाधिः दण्डे आगतः तत्राप्यस्यौपाधिकत्वमिति क्रमेणानवस्थानमुपपादनीयम्। तदेवं पारमार्थिक-नीलादि-वैधर्म्यात् काल्पनिकोऽयं कार्य-कारण - भाव इति नादृष्टादि-सिद्धिः पर-लोक-साधनत्वेनेति पूर्व-पक्षाशयः।

अथ कारणत्वस्येव असाधारणत्वम् (यथा दण्डस्य घट-कारणत्वम्) अपि कारणस्य स्वभाव एव; तथा च कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि न सर्वस्मात् सर्व-प्रसङ्ग इति न कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्ग इत्यत्राह चार्वाकः—किञ्चेति। अत्र कारणत्वस्येव असाधारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे……इति पाठः कल्पनीयः। यद्यपि कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि दोषोयं सम्भवति तथाऽपि उत्तरानुगुणत्वं शङ्कायाः आवश्यकम् इत्यादि-हेतोः तथा व्याख्यातमिति ध्येयम्। कार्यं कुर्यादिति—स्थिरस्यैक-स्वभावत्वात्, कालभेदेन स्वभाव-भेदस्य स्थिर-पक्षेऽनुपपत्तेरिति भावः। क्षण-भङ्गे तु फलानुपहिते कारणत्वमेव नास्ति इति नायं दोष इत्यपि तेषामाकूतम्।

सम्प्रति उत्तरमवतारयति — तत्राहेत्यनेन। हेतु-शक्तीत्यादि।

यदि कारणता को औपाधिक धर्म मान लिया जाय तब पुनः समस्या यह है कि यदि वह उपाधि स्वाभाविक है तो पूर्व-दोष यथावत् प्राप्त ही है, यदि तु उपाधि को भी औपाधिक मान लिया जाय तब अनवस्था हो जाएगी।

और भी, कारणता यदि स्वाभाविक है तब तो कारण के रूप में प्रतिपन्न पदार्थ को अपनी उत्पत्ति के बाद ही अपना कार्य अनवरत करते रहना चाहिए—इस आशङ्का के निराकरण के लिए कह रहे हैं :—

हेतु-शक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु-सत् ।
तद्युक्तं तत्र तत् शक्तम् इति साधारणं न किम् ॥ १८ ॥

हेतु-शक्तिः = कारणत्वम्, अनादृत्य = अनिश्चित्य, नीलाद्यपि, न वस्तु-सत् = न प्रामाणिकम् । तथा च यत् पारमार्थिकं तत् साधारणम् यथा नीलादि, कारणत्वं च यदि न साधारणम् अतो न परमार्थसत् इत्यपि न स्यात्, दृष्टान्तस्याऽनित्य-नीलस्य कारणत्वाऽस्वीकारेण सर्वत्रा-

अयमर्थः—नीलादि-दृष्टान्तेन हि चार्वाकैः कारणत्वस्य अपारमार्थिकत्वं साधनीयम्; तथा हि तन्मते प्रयोगः—कारणत्वं पारमार्थिकत्वा-भाववत्, असाधारणत्वात्, यत् यत् पारमार्थिकत्वाभावाऽभाववत् (=पारमार्थिकम्) तत् तत् असाधारणत्वाभाववत् (= साधारणम्), यथा नीलादि इति तत्र नीलाद्येव व्यतिरेक-व्याप्तौ दृष्टान्तः, न च दृष्टान्तमन्तरा व्याप्ति-ग्रहः, न च व्याप्ति-ग्रहं विना अनुमितिः इति सर्व-सम्मतम् । तथा च अनुमिति-प्रयोजकीभूत-व्याप्ति-ग्रहोपपत्तये दृष्टान्तस्य पारमार्थिकत्वं परमावश्यकमिति नीलादेः परमार्थत्वं मन्तव्यमेव परैः । क्षण-भङ्गे च पारमार्थिकत्वं नाम न पारमार्थिक-कारण-जन्यत्वातिरिक्तं किमपि, तन्मते हि नित्यस्य कस्यापि पदार्थस्य प्रमाणागोचरत्वेनासत्त्वात् । तथा चागतं नीलादि-कारणत्वस्य पार-मार्थिकत्वमिति कथं नीलादि-दृष्टान्तेन कारणत्वस्यापारमार्थिकत्व-सिद्धिः पूर्वपक्षिणामिति । तदेतदाह—तथा चेत्यादिना । प्रमाणागोचरत्वा-

[हेतुत्व (कारणत्व) के अभ्युपगम के बिना दृष्टान्त के रूप में उपात्त नीलादि पदार्थ भी उपपन्न नहीं हो सकते और सहकारि-युक्त कारण के ही कार्योत्पादन-क्षम होने से सर्वदा सर्व-कार्योत्पत्ति की आपत्ति भी नहीं है । जहाँ तक कारणत्व के सर्व-साधारणत्व का प्रश्न है उसमें भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में साधारण्य का जो अर्थ है—नीलादि-ज्ञातृ-मात्र-वेद्यत्व—वह तो कारणत्व के विषय में भी समञ्जस ही है ॥ १८ ॥]

'हेतु-शक्तिः' अर्थात् कारणत्व को 'अनादृत्य' अर्थात् निश्चित किए बिना नीलादि पदार्थ भी 'न वस्तुसत्' अर्थात् प्रामाणिक नहीं हो सकते हैं । एवञ्च कारणत्व के अनभ्युपगम-पक्ष में इस कथन—जितने भी पारमार्थिक पदार्थ हैं, वे सब सर्व-साधारण होते हैं, जैसे नीलादि पदार्थ; अतः कारणत्व यदि सर्व-साधा-रण नहीं है तो वह पारमार्थिक नहीं हो सकता है—की भी उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि नास्तिक-पक्ष में नित्य नील पदार्थ की स्थिति में किसी प्रमाण के

भावात्, नित्यस्य नीलादेः प्रमाणागोचरत्वात्।

किञ्चेत्याद्युक्तं दूषयति—तद्युक्तमिति। तद्युक्तम् = सहकारि-युक्तम्, तत् = कारणम्, तत्र = कार्ये, शक्तमिति नोत्पत्तेरारभ्य कारणत्वम्।

कारणत्वस्य साधारण्ये च इष्टापत्तिमाह—इति साधारणं न किम्? इति। नीलादेरपि सर्व-साधारण्यं यत् सर्वैस्तथा नीलत्वादिना व्यवह्रिय-

दिति—प्रत्यक्षमात्र-प्रमाणवादिनः क्षण-भङ्ग-वादिनश्च मते प्रमाणाऽगोचरत्वेन अपारमार्थिकतया दृष्टान्तत्वाऽसम्भवः इति तात्पर्यम्।

सर्वनाम्नाम् बुद्धिस्थ-परामर्शकत्वमपि सम्प्रदाय-सिद्धमित्यभिप्रायेण तत्पदं सहकारि-परतया व्याचष्टे—सहकारि-युक्तमिति।

कारणत्वस्य पारमार्थिकत्वे पारमार्थिक-नीलादिवत् तस्याऽपि सर्व-साधारण्यं स्यादिति सर्वेषां सर्व-कारणत्व-प्रसङ्ग इत्यत्र समाधानमाह—कारणत्वस्य साधारण्ये चेत्यादिना। अयमाशयः—न हि एकत्र द्वयोः साम्यमिति सर्वत्र तयोः साम्यमिति नियमः, तथा हि सति सर्वेषां सत्पदार्थानां सर्वांशे साम्य-प्रसक्त्या अद्वैतमेव स्यात्, न चैतत् क्षण-भङ्गेऽपि सम्भवति। तस्मात् अंशतः साम्येऽपि कारणत्व-नीलत्वयोः यदि नाम तत्रांशतो वैधर्म्यमपि तथापि न क्षतिः। यदि तु तथापि साधारण्यांशे उभयोः साम्यमावश्यकम् इत्याग्रहः तदा तदप्यस्तु। तथा हि—नीलादेः साधारण्यम् हि न सर्व-देश-वृत्तित्वम्, सर्व-काल-वृत्तित्वम् वा, तस्याव्यापकत्वादनित्यत्वाच्च। नाऽपि

न मिलने से उसे तो दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत हो नहीं किया जा सकता किन्तु अनित्य नील को ही दृष्टान्त मानना पड़ेगा। परन्तु यदि कारणत्व का अभ्युपगम न किया जाय तो उस अनित्य नील की उपपत्ति कैसे हो सकती है? अतः कारणत्व के माने बिना उसके अपारमार्थिकत्व से प्रस्तुत दृष्टान्त भी नहीं बन पाएगा।

'किञ्च' इत्यादि शब्दों से जो दोष दिया गया था उसका निराकरण कर रहे हैं :—'तद्युक्तम्' इत्यादि शब्दों से। 'तद्युक्तम्' अर्थात् सहकारि-युक्त, 'तत्' अर्थात् कारण, 'तत्र' अर्थात् कार्य के उत्पादन में, समर्थ होता है, इसलिए कारण की उत्पत्ति के समय से ही कार्योत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

और जहाँ तक पारमार्थिक कारणत्व के साधारणत्व का प्रश्न है उसमें तो हमारी भी सम्प्रतिपत्ति ही है, यही बात बतला रहे हैं:—'इति साधारणं न किम्' इस ग्रन्थ से। दृष्टान्त-भूत नीलादि के साधारण्य का भी इतना ही अर्थ है कि नीलादि के जाननेवाले सभी व्यक्तियों के द्वारा नीलादि के

माणत्वम् । तादृशञ्च साधारण्यं सहकारियुक्तस्य जनकत्वमित्यस्यापि, तथा व्यवहारस्य सर्व-सिद्धत्वात् ॥ १८ ॥

ननु आत्म-निष्ठमदृष्टं नात्म-जन्यम्, नित्यविभोः तस्य कालतो देशतश्च व्यतिरेकाऽभावात्, व्यतिरेक-सहकृतान्वयस्यैव कारणता-ग्राहक-

सर्वान् प्रत्यपि नीलत्वमित्यादि तस्य साधारण्यम्, कारणत्ववत् तस्य प्रतियोगि-निरूपणाधीन-निरूपणीयत्वाभावात् । नापि सर्वैः व्यवह्रिमाणत्वम्, तथा सति सर्वेषां सर्वज्ञत्वापातात् । अतः तज्ज्ञान-विशिष्टैः सर्वैः तथा व्यह्रियमाणत्वमेव नीलादेः साधारण्यम्, तच्च कारणत्वेऽपि अविशिष्टम् इति । तदाह—नीलादेरित्यादिना । सर्वपदं यावत्तज्ज्ञातृपरम् । तथा च कार्य-कारणभावे सिद्धे अदृष्टादि-सिद्धिः ॥ १८ ॥

पुनः शङ्कते चार्वाकः—नन्वित्यादिना । नात्मजन्यम् = नात्म-समवायि-कारणकम्, तथा च तदसिद्धौ असमवायि-निमित्तत्वयोरप्यसिद्धौ अदृष्टस्य नित्यत्वे यागादि-निमित्त-जन्यत्वम् प्रतिनियत-भोग-नियामकत्वम् च नोपपद्यते इति शङ्कार्थ इति वर्धमानाद्यनुयायिनो वृत्तिकृतः व्याचक्षते । वस्तुतस्तु कारणाऽसिद्धौ कार्यासिद्धिरिति आत्मादिषु तत्कारणत्वाभावेऽवगते अदृष्टाख्यं कार्यमेव नास्ति, कुतः तत्प्रवर्त्तकत्वेन ईश्वर-सिद्धिः नैयायिकानामिति पूर्व-पक्षाभिप्राय इति मिश्राः । आत्मनि अदृष्टकारणत्वाभावे युक्तिमाह—नित्य-विभोरित्यादिना । हेतु-गर्भं विशेषणम् । तथा च नित्यत्वेन काल-कृत-व्यतिरेकाऽभावः, विभुत्वेन च देश-कृत-व्यतिरेकाभावः प्रतिफलति । न नु मास्तु व्यतिरेकः, तथाऽपि कारणत्वमस्तु इत्यत्र बाधकमाह—व्यतिरेक-सहकृतेति । ग्राहकत्वाविति—कपालादौ तथा दृष्टत्वादिति भावः । व्यतिरेकस्य

रूप में व्यवहृत होना और इस तरह का साधारण्य तो कारणत्व के विषय में भी सिद्ध ही है, क्योंकि कारणत्व के जाननेवाले सब ऐसा कहा करते हैं कि सहकारि-युक्त पदार्थ में कारणत्व है । अतः कारणत्व परमार्थ-सत् पदार्थ है, अलीक नहीं ॥ १८ ॥

अब पुनः पूर्व-पक्ष है:—आत्म-निष्ठ अदृष्ट तो आत्मा से जन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में अन्वय-व्यतिरेक रखनेवाला पदार्थ ही कारण होता है । प्रकृत में यद्यपि अदृष्टात्मक कार्य के साथ आत्मा का अन्वय उपपन्न है तथापि उस आत्मा का व्यतिरेक तो हो नहीं सकता, क्योंकि नित्य तथा विभु

त्वात्। तद्व्यतिरेक-प्रयोजक-व्यतिरेक-प्रतियोगित्वस्यैव कारणतात्मकत्वाच्च।

तथा च समवायि-कारणाभावे असमवायि-कारण-निमित्त-कारणाभ्यामपि न कार्यम् जननीयम्, तत्प्रत्यासन्नाभ्यामेव ताभ्यां जननात् इत्यदृष्टस्य नित्यत्वापत्तिः। तथा च न प्रतिनियतात्म-देश-कालीन-भोग-जनकत्वं कल्प्येत इत्यत्र आह—

कारणत्वग्राहकत्वे युक्त्यन्तरमाह—तद्व्यतिरेकेति। तद्व्यतिरेकः = कार्य-व्यतिरेकः। तथा च यस्याऽभावे कार्याभावः स एव कारणमिति सिद्धम् व्यतिरेकस्य कारणत्व-ग्राहकत्वम्। तच्च प्रकृते न सम्भवतीत्युक्तम्। व्यतिरेकश्चात्र संसर्गाभावः।

ननु समवायि-कारणाभावे एव असमवायि-निमित्त-कारणाभ्याम् अदृष्टं जन्यतामित्यत्र बाधकमाह पूर्व-पक्षी—तथा च समवायि-कारणाभावे इत्यादिना। प्रत्यासन्नेति—साक्षात्परम्परया वेति बोध्यम्। नित्यत्वापत्तिरिति—अत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम्। प्रतिनियतेति आत्म-देश-कालेषु प्रत्येकं सम्बध्यते इति बोध्यम्।

(Omnipresent) तत्त्व के रूप में ही न्याय-दर्शन में आत्मा को माना गया है और इस प्रकार के नित्य आत्मा का काल-कृत अभाव भी नहीं हो सकता और विभु होने के कारण दैशिक-व्यतिरेक भी नहीं। दूसरी बात यह भी है कि कार्याभाव-प्रयोजकीभूताभाव का प्रतियोगित्व ही तो कारणत्व है। एवञ्च यदि इस आत्मा में अभाव-प्रतियोगित्व नहीं है तो इसमें अदृष्ट-निरुपित कारणत्व भी नहीं हो सकता। समवायि-कारण के अभाव में केवल असमवायि-कारण तथा निमित्त-कारण से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि यथा-कथञ्चित् समवायि-कारण से सम्बद्ध होने पर ही असमवायि-कारण तथा निमित्त-कारण कार्योत्पादन कर सकते हैं, समवायि-कारण के अभाव में नहीं। एवञ्च कारण की अनुपपत्ति है। अतः जन्य अदृष्ट तो हो नहीं सकता। यदि अजन्य, अत एव नित्य, अदृष्ट माना जाय तब तो आत्मा, देश, काल तथा भोग की व्यवस्था, नित्यादृष्ट के आधार पर, नहीं हो सकती है। अतः अदृष्ट असिद्ध या न्याय-मत के उपपादन में अक्षम है—इस पूर्व-पक्ष के उत्तर में कह रहे हैं:—

पूर्व-भावो हि हेतुत्वं मीयते येन केन-चित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ।। १९ ।।

व्यतिरेक-गर्भं न कारणत्वम् किन्तु अनन्यथा-सिद्ध-नियत-पूर्व-वर्त्ति-भावः । हिः हेतौ, यतो ग्राहको न व्यतिरेकः, धर्मि-ग्राहक-मानेनापि तस्य प्रमापणात्, इत्यतो येन-केन-चित् । व्यापकस्य नित्यस्य आत्मनः येन केन-चित् प्रमीयते, अन्यथा धर्मि-धीरेव न स्यात् । तथा च धर्मि-ग्राहक-

पूर्वभाव इति । हि = यतः पूर्व-भावः = अनन्यथा-सिद्ध-नियत-पूर्व-वर्तित्वमेव हेतुत्वम्, न तु अन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वम्, तथा सति कार्यात् कारणस्य अनुमानं न स्यात्, कार्यस्य धूमादेः पक्ष-धर्मता-बल-लभ्य-कारण-व्यक्तिविशेषेण अन्वयाद्यनुविधानाऽदर्शनात् । तच्च हेतुत्वम् येन केन-चित् = अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् धर्मि-ग्राहक-प्रमाणेन वा, मीयते = निश्चीयते । तथा च इच्छादिकं प्रति व्यापकस्य नित्यस्य च आत्मनः अनन्यथा-सिद्ध-नियत-पूर्वभाव इति हेतुत्वम्, तच्च धर्मिग्राहक-मानेनैव, अन्यथा = आत्मनः इच्छाद्यकारणत्वे, धर्मिणः = (इच्छादि-समवायिकारणस्य) आत्मनः, धीः = इच्छादि-समवायिकारणत्वेन अनुमानम्, न स्यात् इति कारिकार्थः । हिः हेतौ इत्यारभ्य आत्मनः येन कन-चित् प्रमीयत इत्यन्तः वृत्ति-ग्रन्थः अर्थतः शुद्धोऽपि शब्दतः अव्यवस्थित इति ध्येयम् ।

धर्मिग्राहक-मानेन कारणता-ग्रहं प्रदर्शयितुकामः धर्मि-ग्राहक-

[कारणत्व का ग्रहण अन्वय-व्यतिरेक से हो या धर्मिग्राहक मान से, परन्तु कारणत्व तो अनन्यथा-सिद्ध-नियत-पूर्व-वृत्तित्व ही है । इस तरहकी कारणता तो व्यापक तथा नित्य आत्मा में भी उपपन्न है । अन्यथा इच्छादि के प्रति भी आत्मा की कारणता नहीं बनेगी और ऐसी दशा में धर्मी—आत्मा—का भी अनुमान कैसे होगा ? अतः आत्मा अदृष्ट का समवायि-कारण है और इसमें वर्त्तमान कारणता का ग्रहण अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा नहीं अपि तु धर्मि-ग्राहक-मान से ही होता है ।। १९ ।।]

कारणता के स्वरूप में व्यतिरेक का निवेश नहीं है अपि तु उसका स्वरूप है अनन्यथा-सिद्धत्व-विशिष्ट कार्याव्यवहित-पूर्व-क्षण-वृत्तित्व । 'हि' हेत्वर्थक है । यतः कारणता का ग्राहक केवल अन्वय-व्यतिरेक ही नहीं है अपि तु धर्मि-ग्राहक-मान से भी उसका ग्रहण होता है अत एव मूल में कहा गया है :—'येन केनचित्' । व्यापक तथा नित्य आत्मा में रहनेवाली अदृष्ट-निरुपित समवायि-

प्रमाण-सिद्धं तस्य हेतुत्वम् । घटादिकं प्रति कपालादेः अन्वय-व्यतिरेक-दर्शनात् समवेत-कार्यं प्रति द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन कारणत्वस्य कल्पनात्, पृथिव्यादि- बाधे परिशेषेण ज्ञानेच्छादौ पृथिव्यादि-भिन्न-समवायिनः सिद्धिः ।

वस्तुतस्तु समवायि-कारणता-घटको ऽन्योन्याभावः, यन्न कपालम् तन्न

मानं विवृणोति—घटादिकमित्यादिना । कारणत्वस्य कल्पनादिति—तथा च द्रव्यमेव समवायि-कारणमिति नियमः प्रतिफलति । अत एव समवायेन कार्यम्प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणम् इति प्रामाणिकानां व्यवस्था । पृथिव्यादि-बाधे इति । अयमर्थः—अनित्यत्वे सति एकेन्द्रिय-मात्र-ग्राह्यतया ज्ञानेच्छादीनां गुणत्व-सिद्धिः, तेषां च जन्यतया समवायि-कारणमपि आवश्यकमेव, तच्च द्रव्ये एव सम्भवति, उक्त-युक्तेः । तथा चैते ज्ञानेच्छादयः मनो-मात्र - वेद्यत्वेन भूतेभ्यः, विशेष-गुणत्वेन सामान्य-गुण-विशिष्टेभ्यः दिक्काल-मनोभ्यः व्यावृत्ताः तेभ्योऽतिरिक्तं द्रव्यम् स्व-समवायिकारणत्वेन साधयन्ति इति समवायि-कारणत्वेन रूपेणैव धर्मिणः आत्मनः सिद्धिः तत्र कारणत्व-निश्चयश्चेति । तदेतदाह—पृथिव्यादि-बाधे इत्यादिना । ज्ञानेच्छादावित्यत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । समवायिनः = समवायि-कारणस्य ।

पूर्वं धर्मि-ग्राहक-मानेन आत्मनि कारणत्वं निर्णीतम्, सम्प्रति अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामपि आत्मनि कारणत्व-ग्रहः सम्भवति,अन्योन्या-

कारणता का ग्रहण धर्मि-ग्राहक मान से ही होता है, अन्यथा आत्मा में इच्छादि-कारणता की असिद्धि हो जाने से इच्छादि-कारणत्वेन आत्मा की अनुमिति भी नहीं बन पाएगी । अतः यह सिद्ध है कि आत्म-निष्ठ कारणता धर्मि-ग्राहक-प्रमाण-सिद्ध है । घटादि कार्य के प्रति कपालादि कारण के अन्वय-व्यतिरेक-ग्रहण से यह सिद्ध है कि समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले कार्यमात्र के प्रति द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य ही समवायि-कारण हो सकता है । अतः इच्छादि-विशेष गुणों का भी समवायि-कारण कोई द्रव्य ही होगा, पदार्थान्तर नहीं । एवञ्च इच्छादि के समवायि-कारण के रूप में प्रथम-दृष्टि में प्राप्त नौ द्रव्यों में युक्ति से (आत्मातिरिक्त) पृथिव्यादि आठ द्रव्यों के प्रतिषेध के बाद आत्मा ही इच्छादि विशेष-गुणों के समवायि-कारण के रूप में सिद्ध होती है ।

वस्तुतः समवायि-कारणता के नियामक अन्वय-व्यतिरेक में व्यतिरेक का अर्थ संसर्गाभाव नहीं है अपि तु अन्योन्याभाव । एवञ्च कपालादि के प्रसङ्ग में

घटवत्, यो न आत्मा तत्र न ज्ञानादि इति धी-सम्भवात्। एवं यो न कालः तत्र सम्बन्ध-विशेषेण न घटः इति निमित्त-कारणस्याधिकरणीभूतस्य कारणताऽपि अन्योन्याभाव-रूप-व्यतिरेकेण ग्राह्या।

एवञ्च माया-प्रकृत्यविद्यादि-पदमप्येतत्परमिति न 'मायिकं जगत्' इत्यादिश्रुति-विरोधः। तथा च अदृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वर-सिद्धिः ॥ १९ ॥

स्तबकार्थ-संग्रह-श्लोकमाह—

इत्येषा सहकारि-शक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोध-भयतोऽविद्येति यस्योदिता।

ऽभावस्यैव कारणता-ग्राहक-व्यतिरेक-पदार्थत्वात् इत्याह—वस्तुतस्तु इति। न घटवत् इति—समवायेनेति शेषः। एवम् ज्ञानादिष्वपि बोध्यम्। निमित्त-कारणस्येति—अत्र "समवायि-कारणत्व-ग्रहे हि तत्संसर्गाऽभावः अप्रयोजकः, निमित्त-मात्र-साधारणत्वात्; किन्तु यत् समवायि तत्र कार्यम्, यन्न समवायि तत्र न इत्यन्योन्याभावमादाय कार्यं समवायिजन्यमिति व्याप्ति-ग्रह-सम्भवात्" इत्यादिना समवायि-कारणत्व-ग्रहे एव व्यतिरेक-पदस्य अन्योन्यभाव-परकत्वं मणिकृतां मतमिति निमित्तकारण-विषये तथा-वर्णनं वृत्ति-कृतः चिन्त्यमिति केचित् ॥ १९ ॥

स्तबकेति—अत्र पूर्व-कारिकान्तःस्थः वृत्तिग्रन्थः स्खलित इव प्रतीयते। स्पष्टः पाठस्तु—"......व्यतिरेकेण ग्राह्या। तथा च अदृष्टाधिष्ठा-

"जो कपाल नहीं है वह समवाय-सम्बन्ध से घटवान् नहीं है" इस प्रकार का व्यतिरेक और आत्मा के प्रसङ्ग में "जो आत्मा नहीं है वह समवाय-सम्बन्ध से ज्ञानादि-युक्त नहीं है" इस प्रकार का व्यतिरेक कारणता का प्रमापक है। इसी तरह सर्वाधार-भूत, अत एव सर्व-पदार्थ-मात्र के निमित्त-कारण, नित्य एवम् व्यापक काल की निमित्त-कारणता भी "जो काल नहीं है वह कालिक-विशेषणता-सम्बन्ध से घटादि पदार्थ का आश्रय नहीं होता है" इस प्रकार के व्यतिरेक (अन्योन्याभाव) से ग्राह्य है।

अत एव यह भी स्पष्ट है कि माया, प्रकृति तथा अविद्या आदि शब्द भी इसी अदृष्ट के पर्याय हैं और इस लिए 'यह संसार मायिक है' इस अर्थ के प्रतिपादक श्रौत-वचन से न्याय-मत का विरोध भी नहीं है। उपर्युक्त युक्तियों से आत्म-निष्ठ अदृष्ट के सिद्ध हो जाने पर इस अचेतन अदृष्ट के प्रेरक तत्त्व के रूप में ईश्वर की सिद्धि भी निर्विवाद है ॥ १९ ॥

पूरे स्तवक में विवेचित विषयों का सङ्ग्राहक श्लोक लिख रहे हैं:—

[जिस परम-देव की यह अद्वितीय अदृष्टात्मक शक्ति दुःखोन्मूलनीय होने के

देवोऽसौ विरत-प्रपञ्च-रचना-कल्लोल-कोलाहलः
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ॥२०॥

इतिः स्तबक समाप्तौ। यस्येशस्य सहकारि-शक्तिः = कारणम्। एषा सहकारि-रूपा माया। असमत्वं सर्व-कार्यापेक्षणीयत्वात्। दुरुन्नेयत्वात् सादृश्यात् माया-पदे अदृष्टे लक्षणा। मूलत्वात् प्रकृतिः सैव, तत्त्व-ज्ञान-प्रतिबध्यत्वात् सैव अविद्या, उदिता = उक्ता, असौ देवो मम मनसि स्व-

वृतया ईश्वर-सिद्धिः ॥ १९ ॥ एवञ्च माया-प्रकृत्यविद्यादि-पदमप्येतत्परमिति न 'मायिकं जगत्' इत्यादि-श्रुति-विरोध इति स्तबकार्थ-संग्राहक-श्लोके आह—"—इत्येवं प्रतिभाति इति विवेचनीयम्। स्तबक-समाप्ताविति। यद्वा एषेत्यर्थे इत्येषेति अखण्ड एव शब्दः इति आमोद-कृतः प्राहुः। दुरुन्नेयत्वात् इति—मायाऽपि दुःखेन उन्नीयते, अदृष्टमपि तथेति सादृश्यमुभयोः, तन्मूलिकैव अदृष्टे = अदृष्टाऽर्थे, माया-पदस्य गौणी लक्षणेति भावः। मुख्यार्थश्च माया-पदस्य दोष-विशेषोत्पादन-पूर्वक-भ्रम-जनकः आत्म-निष्ठ-व्यापार-विशेषः। मूलत्वादिति—सांख्यानाम्प्रकृतिः सर्व-कार्य-मूलमिति गीयते, सहकारि-शक्ति-पदाभिधेयमदृष्टमपि साक्षात् परम्परया वा सर्व-कार्य-मूलमिति तत्सादृश्यम् इति भावः। प्रतिबध्यत्वात् इति—एतच्च मूलस्थ-भय-पदस्यार्थाभिधानम्। यथा हि वेदान्तिनामविद्या तत्त्वज्ञानेन विनश्यति इति ततो बिभेति तथैव अदृष्टमपि उत्पन्न-तत्त्व-ज्ञानस्य भोगेन

कारण 'माया', संसार के मूल होने के कारण 'प्रकृति' और विद्या-विरोधी होने के कारण 'अविद्या' कहलाती है वह मिथ्या-ज्ञान की परम्परा के सम्पर्क से शून्य तथा शान्त देव (परमेश्वर), साक्षी बनकर मेरे मानस-प्रत्यक्ष का विषय हो ॥ २० ॥]

'इति' शब्द प्रथम-स्तबक की समाप्ति का सूचक है। जिस ईश्वर का 'सहकारि-शक्तिः' अर्थात् इस संसार के उत्पादन में सहायक कारण यह (अदृष्ट) सहकारि-स्वरूपिणी माया है; माया में असमत्व (अद्वितीयत्व) इस लिए है कि इसकी अपेक्षा सभी कार्यों की उत्पत्ति में होती है। दुःख से उन्मूलनीय होने के कारण जो अदृष्ट तथा माया में सादृश्य है उसी के आधार पर अदृष्ट-पद माया के अर्थ में लाक्षणिक है। संसार के मूल होने के कारण वही अदृष्ट-शक्ति 'प्रकृति' तथा तत्त्व-ज्ञान के द्वारा प्रतिरुद्ध होने के कारण वही अदृष्ट-शक्ति 'अविद्या' भी, 'उदिता' अर्थात् कहलाती है; वह ईश्वर मेरे मन में स्व-विषयक

विषयां साक्षादभिरतिं = साक्षात्कारि-ज्ञानम्, बध्नातु = जनयतु, साक्षितया = साक्षीभूय, निर्णायकतया साक्षित्वम्; शान्तः = रागादि-गुण-शून्यः, प्रपञ्चस्य = मिथ्या-ज्ञानादेः, कल्लोलः = (मिथ्या-ज्ञान-) परम्परा, तस्याः कोलाहलः = किम्वदन्ती, सा विरता यस्मात् इति ॥ २० ॥

इति श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्तौ प्रथमः स्तबकः ।



विलीयते इत्युभयोः सादृश्यम् इति तात्पर्यम् । एतच्च प्राचीनानां व्याख्यानमनुरुणद्धि । नव्यास्तु तत्त्व-ज्ञानस्य अविद्या-प्रतिबन्धकत्वं साक्षात्, अदृष्ट-पदाभिधेय-प्रवृत्ति-प्रतिबन्धकत्वं च मिथ्या-ज्ञान-निरोध-द्वारेणैव, 'दुःख-जन्मेत्यादि' सूत्रे तथैवोक्तेः, इति भय-पदम् विरोधार्थकमिति वदन्ति । फले तु न भेद इति स्पष्टमेव । साक्षी-भूयेति— एतेन परोक्ष-ज्ञानमुपेक्षितम् । प्रपञ्च-रचनेत्यादेः मिश्रादि-सम्मतं व्याख्यानमित्थम्—प्रपञ्चः = कार्य-जातम्, तस्य रचना = निर्माणम्, तद्विषयकः यः कल्लोलः = जगत्कारण-विषयकः सांख्यादि-शास्त्रान्तर-प्रवादः, स एव कोलाहलः = अनभिव्यक्त-विशेष-युक्तिकः वचन-सन्दर्भः, कोलाहल-सादृश्यात्, विरतः यस्य विषये यस्मात् वा इति । वृत्तिकृता तु सर्वत्र वर्धमानानुसरणात् अत्राऽपि तदेव कृतमिति न गुण-दोष-भाक् सः ॥ २० ॥

अधीत्य विधिवत्सर्वं लक्ष्मीनाथ-गुरोर्मुखात् ।
कृताऽऽद्य-स्तबक-व्याख्या प्रभा पारमुपागता ॥ १ ॥

इति श्रीनारायण-मिश्र-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्ति-प्रभायां प्रथमः स्तवकः ।



'साक्षादभिरतिम्' अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को 'बध्नातु' अर्थात् उत्पन्न करें, 'साक्षितया' अर्थात् साक्षी बन कर—निर्णायक होंने के कारण ईश्वर साक्षी है। 'शान्तः' अर्थात् ईश्वर रागादि-दुर्गुण से रहित है। 'प्रपञ्चस्य' अर्थात् मिथ्या-ज्ञान आदि का जो 'कल्लोल; अर्थात् परम्परा उसकी जो 'कोलाहलः' अर्थात् किम्वदन्ती वह विरत हो चुकी है जिस ईश्वर से (वह ईश्वर मेरे मानस-प्रत्यक्ष का विषय हो) ॥ २० ॥

प्रथम स्तवक समाप्त ।



अथ द्वितीयः स्तबकः

अन्यथाऽपि पर-लोक-साधनाऽनुष्ठान-सम्भवादिति द्वितीय-विप्रतिपत्तिः। अन्यथा = ईश्वरं विनाऽपि, पर-लोक-साधनम् = यागाद्यनुष्ठानम्, सम्भवति, यागादेः स्वर्ग-साधनत्वस्य वेदगम्यत्वात्। नित्यनिर्दोषतया च वेदस्य प्रामाण्यम्। महा-जन-परिग्रहाच्च प्रामाण्यस्य ग्रहः इति वेद-कारणतया नेश्वर-सिद्धिः।

योगर्द्धि-सम्पादित - सार्वज्ञ्य - कपिलादि-पूर्वक एव वा वेदोऽस्तु

मीमांसक-विप्रतिपत्तिं खण्डयितुं प्रथमम् विप्रतिपत्तिमेव व्याचष्टे—अन्यथेत्यादिना। नित्येत्यादि—नित्यतया निर्दोषतया चेत्यर्थः। तथा च न वेद-वक्तृत्वेन ईश्वर-सिद्धिरिति भावः। न नु ईश्वर-प्रणीतत्वे स्वीकृते ईश्वर-प्रामाण्यादेव तत्प्रणीत-वेदेऽपि प्रामाण्यग्रहः सुकरः सर्वेषाम्; यदि तु वेदस्य ईश्वर-प्रणीतत्वं न स्वीक्रियते तर्हि तन्निष्ठम् प्रामाण्यम् कथं गृह्येत लोकैरित्यत आह—महा-जनेति। महा-जन-परिग्रहः = प्रमाणतया महा-जनैः स्वीकार इत्यर्थः। तथा च वेदाः प्रमाणम् महा-जन-परिगृहीतत्वात् इत्यनुमानेन प्रामाण्यग्रहणमिति सिद्ध्यति।

वेदस्य नित्यत्वादेव निर्दोषत्वम्, उभाभ्यां च प्रामाण्य-सिद्धिरभिमता मीमांसकानाम्। तत्र नित्यत्वासिद्धौ निर्दोषत्वं तदुभय-मूलकं प्रामाण्यञ्च कथमित्यभ्युपेत्य पक्षान्तरमाह—योगर्द्धि-सम्पादितेति। योगजन्या ऋद्धिः योगर्द्धिः, तया सम्पादित-सार्वज्ञ्यः कपिलादिरेव

ईश्वर के माने विना भी पर-लोक-साधक याग आदि का आचरण सम्भव है—यही दूसरी विप्रतिपत्ति (मीमांसकों की ओर से) प्रस्तुत की गई थी। 'अन्यथा' अर्थात् ईश्वर के अभ्युपगम के बिना भी, 'पर-लोक-साधनम्', अर्थात् यागादि का अनुष्ठान हो सकता है। यागादि में स्वर्ग-साधनता का ज्ञान तो वेद से ही हो जाता है। वेद का प्रामाण्य भी उसके नित्य अत एव (भ्रमादि-युक्त-पुरुषाऽप्रणीत होने के कारण) निर्दोष होने के कारण ही सिद्ध है। प्रमाण के रूप में महापुरुषों द्वारा वेद के स्वीकार के कारण वेद-निष्ठ प्रामाण्य का ग्रहण भी सुकर है। अतः वेद-कारण के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है। अथवा योग-लब्ध प्रकर्ष के कारण सर्वज्ञता के अधिगम करनेवाले कपिल आदि

इत्यत्राह—

प्रमायाः पर-तन्त्रत्वात् सर्ग-प्रलय-सम्भवात् ।

तदन्यस्मिन्ननाश्वासात् न विधाऽन्तर-सम्भवः ॥ १ ॥

शाब्दी प्रमा वक्तृ-यथार्थ-वाक्यार्थ-धी-रूप-गुण-जन्या इति गुणाऽऽधारतया ईश्वर-सिद्धिः ।

ननु सकर्तृके अस्तु यथार्थ-वाक्यार्थ-धीः गुणः, अकर्तृके च वेदे निर्दोषत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमस्तु, महा-जन-परिग्रहेण च प्रामाण्य-ग्रह इत्यतः

वेदानां कर्त्ता अस्तु, तत्प्रामाण्येनैव च वेद-प्रामाण्य-सिद्धिरि यथा-कथञ्चिदनित्यत्वाऽभ्युपगमेऽपि ईश्वरस्य न आवश्यकत्वमिति तात्पर्यम्। तदेतदसहमान उत्तरम्प्रपञ्चयन्नाह—इत्यत्राहेति ।

वक्त्रेति—वक्तृ-समवेतेत्यर्थः। तथा च वेदवाक्यनिष्ठ-प्रामाण्यस्यापि वेद-वक्तृ-निष्ठ-यथार्थ-ज्ञानात्मक-गुण-जन्यत्वे सिद्धे परिशेषात् तादृशगुणाश्रयस्य ईश्वरस्य सिद्धिरित्याह—गुणाधारेति ।

निर्दोषत्वमेवेति—एतच्च नित्यत्वेन भ्रम-प्रमादादि-वत्-पुरुषाऽप्रणीतत्वात्। सर्गेति—तथा च सर्गादि-सत्त्वात् तदानीं च उत्पन्नस्य वेदस्य जन्यतया सकर्त्तृकत्व-सिद्धौ तत्कर्त्तृतया ईश्वराऽनङ्गीकारे कथं वेदस्य निर्दोषत्वं कथं च निर्दोषत्वाभावे प्रामाण्यमिति अवश्यमेव वेद-प्रामाण्य-निर्वाहाय तत्कर्त्तुरीश्वरस्य अभ्युपगमः मीमांसकैरपि

से ही वेदों का निर्माण मान लिया जाय (व्यर्थ ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है)—इस (मीमांसकोपात्त) आक्षेप के समाधान के लिए कह रहे हैं:—

[प्रामाण्य पर-तन्त्र ही होता है; इस लिए शब्द का भी प्रामाण्य वक्ता के गुण के अधीन ही होगा। यतः सर्ग का प्रलय प्रामाणिक है, जैसा अभी बतलाया जायगा, अतः सादि वेद-वाक्य का भी प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य पर ही आश्रित होगा, और यतः अनादि सर्वज्ञ ईश्वर से भिन्न पुरुष में विश्वास नहीं हो सकता अतः उस ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी भी पुरुष को वेद का वक्ता भी नहीं माना जा सकता है ॥ १ ॥]

शाब्दी प्रमा वक्ता के यथार्थ-वाक्यार्थ-ज्ञान-रूप गुण से उत्पन्न होती है। अतः उस गुण के आधार के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

मीमांसकों का पूर्व-पक्ष है कि पौरुषेय लौकिक-वाक्य का प्रामाण्य वक्तृनिष्ठ यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञान से जन्य हो सकता है, परन्तु अपौरुषेय वेद वाक्य के प्रामाण्य का प्रयोजक तो उसके निर्दोषत्व को ही मानना उचित है, और

आह—सर्ग-प्रलय-सम्भवात् इति। प्रलयोत्तरं पूर्व-वेद-नाशादुत्तर-वेदस्य कथं प्रामाण्यम्, महा-जन-परिग्रहस्यापि तदा अभावात्। शब्दस्याऽनित्यत्वम् "उत्पन्नो गकारः" इति प्रतीति-सिद्धम्। प्रवाहाऽविच्छेद-रूप-नित्यत्वमपि प्रलय-सम्भवान्नास्तीति भावः।

कपिलादय एव सर्गादौ पूर्व-सर्गाभ्यस्त-योग-जन्य-धर्मानुभवात् साक्षात्कृत-सकलार्थाः कर्त्तारः सन्तु इत्यत आह—तदन्यस्मिन्निति। विश्व-

कार्य इत्याह—प्रलयोत्तरमिति। शब्दस्याऽनित्यत्वे प्रमाणान्तरमप्याह—शब्दस्यानित्यत्वमित्यादिना। एवञ्च यदि वर्णा एव न नित्याः तदा कैव कथा पुरुष-विवक्षाधीनानुपूर्व्यादि-विशिष्ट-वर्ण-समूहात्मकानाम्पदानाम्, कुतश्च पद-समूहात्मकस्य वाक्यस्य, कुतश्च तत्समूहात्मकस्य वेदस्येति अनायत्या ईश्वरः अङ्गीकरणीयः इति। प्रवाहः = अध्यापकाध्येतृ-परम्परा, तस्याः अविच्छेद इत्यर्थः। मूले सर्ग-प्रलयेत्यत्र न द्वन्द्वः अपि तु षष्ठी-तत्पुरुष एवेति ध्येयम्।

कर्त्तार इति--तथा च नेश्वरस्य सिद्धिः वेद-कर्त्तृत्वेनेति भावः।

उस प्रामाण्य का परिज्ञान जन-साधारण को असाधारण पुरुषों के द्वारा उसके स्वीकार के आधार पर ही हो जाएगा; अतः वेद-वक्ता ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। इसके समाधान के लिए कहा गया है—"सर्ग-प्रलय-सम्भवात्"। प्रलय के वाद प्रथम सर्ग की वेद-राशि नष्ट हो जाती है, पुनः दूसरे सर्ग के प्रारम्भ में पूर्वानुकूल दूसरी वेद-राशि की उत्पत्ति होती है—ऐसी दशा में निर्दोषत्व के आधार पर उसका प्रामाण्य कैसे हो सकता है? और सर्ग के आरम्भ में महा-पुरुषों द्वारा उसका अभ्युपगम भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय महा-पुरुषों की सत्ता भी नहीं रहती, फिर उसके आधार पर प्रामाण्य का ग्रहण कैसे सम्भव हो सकेगा? 'उत्पन्नो गकारः', नष्टो गकारः' इत्यादि सार्वजनिक अनुभव के आधार पर भी शब्द का अनित्यत्व हीं सिद्ध होता है। प्रलय के प्रामाणिक होने से सर्वदा अनुवर्त्तमान रहने की स्थिति भी नहीं हो सकती। अतः प्रवाह-नित्यता भी नहीं मानी जा सकती है—यही तात्पर्य है।

इस पर मीमांसकों का कहना है कि यदि वेद का कर्त्ता ही मानना है तो पूर्व-पूर्व सर्ग में सम्पादित योगाभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आदि अलौकिक शक्ति से सभी विषयों को देखनेवाले कपिल आदि महर्षियों को ही माना जा सकता है, उन से अतिरिक्त किसी ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान है :—'तदन्यस्मिन्ननाश्वासात्।' जगत् के निर्माण में समर्थ

निर्माण-समर्थाः अणिमादि-शक्ति-सम्पन्नाः यदि सर्वज्ञाः तदा लाघवात् एक एव तादृशः स्वीक्रियताम्, स एव भगवानीश्वरः। अनित्याऽसर्व-विषयक-ज्ञानवति च विश्वास एव नाऽस्तीति वैदिक-व्यवहार-विलोप इति न विधाऽन्तर-सम्भवः। ईश्वराऽनङ्गीकर्तृ-नये इति शेषः॥ १॥

ननु सर्ग-प्रलय-सम्भवादिति न युक्तम्, प्रलये मानाऽभावात् इति।

तदेतन्निराचष्टे—विश्व-निर्माणेति। लाघवादिति--अनेक-सर्वज्ञानाम् जगन्निर्माण-शक्तिमतां कल्पनाऽपेक्षया एकस्यैव कल्पने लाघवम् इति भावः। अत्र सर्वज्ञा इत्यस्यानन्तरम् प्रतिसर्गं भिन्न-भिन्नाः स्वीकरणीयाः इति पूरणीयम्। एतेनैतेषामनादि-सर्वज्ञत्वमसिद्धमिति नैतेषु विश्वासः सम्भवतीति प्रतिफलति, तदाह—अनित्येति। वैदिकव्यवहार-विलोप इति—असर्वज्ञनिर्मितस्य वेदस्य निर्दोषत्वाभावेन अप्रामाण्यात् व्यवहार-विलोप इत्यर्थः। तथा च अवश्यमेव वैदिक-व्यवहार-विलोपापहाराय नित्य-सर्वज्ञः कश्चन स्वीकर्त्तव्यः, स एवेश्वर इति भावः। वस्तुतस्तु प्रतिसर्गम् सर्वज्ञस्य कपिलादेः वेदकर्तृत्वेऽभ्युपगतेऽपि जगत्कर्तृत्वेनेश्वर-सिद्धौ बाधकाभावः, न चैतदपि कर्तृत्वं कपिलादेः सम्भवति, सर्गे सति हि तद्व्याप्य-शरीरादिना सम्पन्नस्य कपिलादेः वेदादि-कर्तृत्वम् इति सर्ग-पूर्व-वृत्तित्वाभावात् तस्य जगत्कर्तृत्वम् नोपपद्यते। यदि तु अशरीर एव सर्वज्ञः कपिलः सर्ग-निर्माता तर्हि वेदेऽपि तस्याशरीरस्यैव कर्तृत्वं वाच्यम् विनिगमकाऽभावात्। तथा च नाम-मात्रे विवाद इत्यादि ऊह्यम्॥ १॥

सर्ग-प्रलयादेव तदन्तःपातिनां शब्दानामनित्यत्वे सिद्धे सति वेदस्यानित्यत्वमिति तत्प्रामाण्यायाऽनुगुणः वेद-कर्त्ता जगत्कर्त्ता च ईश्वरः सिद्धयति, इति हि नैयायिकाः सङ्गिरन्ते, परन्तु प्रलय एव

अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न अनेक सर्वज्ञों की कल्पना की अपेक्षा एक सर्वज्ञ के अभ्युपगम में ही लाघव है, और वही सर्वज्ञ भगवान् ईश्वर है। अनित्य तथा सभी पदार्थों को विषय नहीं बनानेवाले ज्ञान से युक्त किसी व्यक्ति में विश्वास नहीं हो सकता है, इस लिए अनित्य-ज्ञानादि-सम्पन्न व्यक्तियों को तो वेद का कर्त्ता माना ही नहीं जा सकता, अन्यथा उन व्यक्तियों में अविश्वास के कारण ईश्वर को नहीं माननेवाले मीमांसकों के अनुसार वैदिक-व्यवहार छिन्न-मूल होने से विलुप्त हो जाएगा॥ १॥

मीमांसकों का प्रश्न है कि 'सर्ग का प्रलय होता है' यह कथन

अहोरात्रस्य अव्यवहिताहोरात्र-पूर्वकत्व-नियमात्, कर्मणां विषम-विपाकतया कालोपाधित्वस्य भोग-व्याप्यत्वात् युगपददृष्टस्य च वृत्तिनिरोधानुपपत्तेः; ब्राह्मणस्य ब्राह्मण-जन्यत्व-नियमात् सर्गाद्युत्पन्नस्य ब्राह्मणत्वाऽभा-

नाऽस्ति, साधकाभावात् बाधकाच्चेत्याशङ्कते—नन्विति। प्रलये साधकाभावमुक्त्वा बाधकमाह—अहो-रात्रेति। अयमाशयः—सर्वेषु अहोरात्रेषु वयम् अव्यवहिताहोरात्र-पूर्वकत्वम् पश्यामः इति यत्र यत्र अहोरात्रत्वम् तत्र तत्र अव्यहिताहोरात्रपूर्वकत्वमिति व्याप्तिः सिद्ध्यति। तथा च प्रलयाङ्गीकारे तदुत्तर-सर्गादिगतस्य अहो-रात्रस्य अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वम् अनुपपन्नम् इति उक्त-व्याप्ति-विरोधात् प्रलयो नाङ्गीकरणीयः। बाधकान्तरमाह—कर्मणामिति। कर्म-जन्यादृष्टानामित्यर्थः। विषम-विपाकतयायेति—विषमः = विभिन्नकालिकः, विपाकः = भोगः येषां ते विषम-विपाकाः तेषां भावस्तया, विभिन्न-कालिक-भोग-जनकतयेत्यर्थः। कालोपाधिः = क्षणादिः। प्रतिक्षणं हि जनैः स्व-कृत-कर्म-फल-भोगः क्रियते इति यत्र यत्र कालोपाधित्वम् तत्र तत्र भोग इति व्याप्तिः सिद्ध्यति। अत्रैवोपपत्तिमाह—युगपदिति। एक-कालावच्छेदेनेत्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम्—एकस्मिन् भुक्त-फले कर्मणि क्षीयमाणे कर्मान्तरमुपतिष्ठते फलोत्पादनाय इति एकस्यापि कर्मिणः सर्वाणि कर्माणि (अदृष्टानि) युगपन्निरुद्ध-वृत्तीनि न सम्भवन्ति चेत् तर्हि अनन्तानां कर्मिणां जीवानाम् अनन्तानि कर्माणि कथमेक-काले निरुद्ध-वृत्तीनि स्युः येन प्रलयोपपत्तिः स्यात् इति कर्मणां युगपद्वृत्ति-निरोधाभावात् प्रलयो न सिद्ध्यति इति।

बाधकान्तरमप्याह—ब्राह्मणस्येति। प्रलयाभ्युपगमे सर्गादि-मुबां

ठीक नहीं है, क्योंकि प्रलय में कोई प्रमाण नहीं है, और साथ ही जितने अहोरात्र होते हैं उनके पहले एक-एक अहोरात्र अवश्य होता है, इस लिए कोई भी अहोरात्र अपने से पूर्व-वर्त्ती अहोरात्र के विना नहीं हो सकता है, फलतः प्रलय-पक्ष में अहोरात्र-पूर्वकत्व-रहित अहोरात्र की उपपत्ति नहीं होती; कर्म-जन्य अदृष्ट-राशि का फल प्रति-पल होते रहता है, इसे देखकर यह सिद्ध है कि काल की कोई भी उपाधि—क्षण या अन्यान्य—अदृष्ट-जन्य भोग से रहित नहीं हो सकती है, इस लिए प्रलय-काल में समस्त जीवों के सभी अदृष्टों के फल-विमुख हो जाने में भी कोई प्रमाण नहीं है; ब्राह्मणत्व जाति का सम्बन्ध उसी से होता है जो ब्राह्मण-जातीय माता-पिता से उत्पन्न होता है, ऐसी दशा में प्रलय-पक्ष में सर्गारम्भ में प्रथम-व्यक्ति

वात् ब्राह्मण-व्यवहारानुपपत्तेः; प्रयोज्य-प्रयोजकयोरभावात् सङ्केतग्रहाऽभावे शब्द-व्यवहाराऽनुपपत्तेः; घटादि-निर्माणे नैपुण्यस्य पूर्व-दर्शन-सापेक्षस्य सर्गादावभावात् घटादि-सम्प्रदायोच्छेदात्; इत्यादेर्बाधकत्वाच्च। तत्राह—

जाति-विशेष-व्यवस्था नैव स्यात्, जाति-विशेष-व्यवस्थापकस्य उत्पादक-जातिविशेषस्य तदानीमभावादिति तात्पर्यम्।

बाधकान्तरमाह—प्रयोज्येति। प्रयोज्यप्रयोजक-वृद्ध-व्यवहाराधीनो हि शब्द-सङ्केत-ग्रहः, तद्ग्रहाधीनो हि शब्द-प्रयोग इति स्थितिः। तत्र प्रलये सति सर्गादौ प्रयोज्य-प्रयोजक-वृद्धाभावेन व्यवहाराभावे सङ्केत-ग्रहाभाव इति शब्द-प्रयोगाभावः प्रसज्येतेति भावः।

बाधकान्तरमाह—घटादि-निर्माणे इति। पूर्व-दर्शन-सापेक्षस्येति—कस्यचिदुपदेष्टुः निर्देशादेव बालः कार्य-निर्माण-कुशलः, न तु स्वतः इति हि स्थितिः। तत्र प्रलये सति सर्गादिकाले कस्यचन उपदेशकस्य अभावात् अव्युत्पन्नः जनः घटादि-निर्माणे समर्थः नैव स्यादिति घटादि-सम्प्रदायोच्छेदापत्तिरपि प्रलये बाधिकेति भावः।

एवं च प्रलयाऽसिद्धौ वेद-सम्प्रदायस्याविच्छेदे न तत्कर्तृत्वेन न वा अनादिप्रवाह-पतितस्य जगतः कर्तृत्वेन कस्यचनेश्वरशब्दाभिलप्यस्य सिद्धिरिति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम्। तदेतत्पूर्वपक्षम् निरसितुमुपक्रमते—तत्राहेति।

में ब्राह्मणत्व की उपपत्ति नहीं होने से उससे उत्पन्न होनेवाली सन्तति-परम्परा में ब्राह्मणत्व आदि का व्यवहार उत्पन्न नहीं हो सकेगा; प्रयोजक वृद्ध का प्रयोज्य-वृद्ध के प्रति शब्द-व्यवहार और उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक रखनेवाले अर्थ में तटस्थ व्यक्ति को प्रयोजक-वृद्ध-प्रयुक्त-शब्द का शक्ति-ग्रह होता है, परन्तु प्रलय-पक्ष में सर्गादि में प्रयोजक तथा प्रयोज्य के अभाव होने के कारण शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकेगा और उसके परिणाम में अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए शब्द-विशेष का प्रयोग उपपन्न नहीं होगा; पूर्व-पूर्व व्यक्तियों की देखा-देखी या शिक्षा से उत्तरोत्तर व्यक्ति घटादि कार्य के निर्माण की विधि का ज्ञान प्राप्त कर कार्य-परम्परा का निर्वाह करता है—यही वस्तुस्थिति है, परन्तु प्रलय-पक्ष में सर्गारम्भ में किसी निपुण शिक्षक के अभाव के कारण निर्माण-कला में अशिक्षित जन-परम्परा से घटादि कार्य का निर्माण नहीं हो पाता, फलतः घटादि-कार्यों की परम्परा ही नष्ट हो जाती, परन्तु स्थिति तो ऐसी नहीं है और न मानी जा सकती है; अतः उपर्युक्त पांच बाधकों के कारण भी प्रलय नहीं माना जा सकता है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कह रहे हैं :—

वर्षादिवद्भवोपाधिः वृत्ति-रोधः सुषुप्तिवत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णाः मायावत्समयादयः ॥ २ ॥

यथा वर्षादिनस्य अव्यवहित-वर्षादिन-पूर्वकत्वे साध्ये राशि-विशेषा-

सम्प्रति प्रलयं साधयन् मीमांसकोक्त-बाधकान् क्रमेण उद्धर्तुं-कामः अहोरात्रम् अव्यवहिताहोरात्र-पूर्वकम् अहोरात्रत्वात् सम्प्रति-पन्नाहोरात्रवदित्यत्रानुमाने प्रलय-बाधकत्वेन पूर्वं प्रस्तुते दोषमाह— यथेत्यादिना । राशीत्यादि । अयमर्थः—कर्क-राशौ सूर्य-प्रवेशः यदा भवति ततः प्रभृति सिंह-राशि-भोग-पर्यन्तं वर्षर्तुः । तत्र राशेः त्रिंशदंशाः । तत्र कर्क-प्रथमांशे सूर्य-प्रवेशे वर्षर्तुप्रारम्भः इति फलति । एवं च वर्षादिनमव्यवहितवर्षादिन-पूर्वकम् वर्षादिनत्वात् इति अनु-मानं यदि कोपि प्रस्तौति तदा कर्क-सिंहान्यतराऽवच्छिन्न-रवि-काल-पूर्वकत्वम् उपाधिः । उपाधिश्च साध्यस्य व्यापकः साधनस्य अव्यापकश्च । प्रकृते च यत्र यत्र वर्षादिनत्वम् हेतुः तत्र तत्र कर्क-सिंहान्यतराऽवच्छिन्न-रवि-काल-पूर्वकत्वम् नास्ति, वर्षर्तोः प्रथमे दिने वर्षादिनत्वस्य सत्त्वेऽपि मिथुनावच्छिन्न-रवि-काल-पूर्वकत्वस्यैव सत्त्वात्, उक्तोपाधेश्च तत्राभावात्, इति साधनाऽव्यापकः सः । यत्र यत्र च अव्यवहित-वर्षादिन-पूर्वकत्वम् साध्यम्, यथा वर्षर्तोः द्विती-

[जिस प्रकार अव्यवहित-वर्षादिन-पूर्वकत्व के साधन में वर्षादिनत्व हेतु सोपाधिक होने से असिद्ध है उसी प्रकार अव्यवहिताऽहोरात्र-पूर्वकत्व के साधन में अहोरात्रत्व हेतु भी सोपाधिक होने के कारण असमर्थ है; जिस प्रकार सम-कालिक सुषुप्ति में अनेक जीवों का अदृष्ट-समूह निरुद्ध-वृत्तिक हो जाता है उसी प्रकार प्रलय में सभी जीवों के सभी अदृष्ट निरुद्ध-वृत्तिक हो सकते हैं; जिस प्रकार उद्भिद् नामके साग की उत्पत्ति चावल के टुकड़ों से तथा उद्भिद् के बीज से भी होती है एवं वृश्चिक (बीछू) की उत्पत्ति गोबर तथा बीछू से भी होती है उसी प्रकार ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति भी कभी अदृष्ट-सहकृत-भूत-विशेष तथा कभी ब्राह्मण-माता-पिता से हो सकती है; और जिस प्रकार एक मायावी पुत्तलिका से सब काम करा लेता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी माया से प्रयोजक तथा प्रयोज्य के रूप में व्यवहार को प्रस्तुत कर शक्ति-ग्रहण कर-वाता है ॥ २ ॥]

जैसे वर्षा-दिन में अव्यवहित-वर्षा-दिन-पूर्वकत्व की सिद्धि में कर्क अथवा

वच्छिन्न-रवि-काल-पूर्वकत्वम् उपाधिः तथा अहोरात्रस्य अव्यवहिताऽहो-रात्रपूर्वकत्वे अव्यवहित-संसार-पूर्वकत्वम् उपाधिः। भवोपाधिः = संसारावच्छेदक-कालोपाधिः, स एव उपाधिरित्यर्थः।

यादि-दिनेषु, तत्र तत्र च कर्क-सिंहान्यतरावच्छिन्न-रवि-काल-पूर्वकत्वस्य सत्त्वेन साध्य-व्यापकश्चेति वर्षादिनम् अव्यवहित-वर्षादिन-पूर्वकम् इत्यत्र हेतोः उपहितत्वेनानैकान्तिकतया नानुमानं प्रमा। तथैव— अहोरात्रम् अव्यवहिताहोरात्र-पूर्वकम् अहोरात्रत्वात् इत्यनुमाने अव्यवहित-संसार-पूर्वकत्वम् उपाधिः। तस्य च साध्यव्यापकत्वम्— यत्र यत्र अव्यवहिताहोरात्र-पूर्वकत्वम् तत्र तत्र अव्यवहित-संसार-पूर्वकत्वम्। अत्र अव्यवहितत्वम्, अनुवर्त्तमानत्वम्। परन्तु यत्र यत्र अहोरात्रत्वम् सर्गादिकालिके अहोरात्रे, तत्र तत्र अव्यवहित-संसार-पूर्वकत्वं नाऽस्ति, किन्तु अव्यवहित-प्रलय-पूर्वकत्वम्, व्यव-हित-संसार-पूर्वकत्वम् एव वेति उक्तानुमानमप्रयोजकं सत् न मीमां-सकानाम् इष्टसाधनाय अलम् इति सम्प्रदाय-विदः।

केचित्तु—परैः प्रलयाऽनभ्युपगमेन तन्मते सर्गाद्यस्य अहोरात्र-स्यासिद्धेः न तमादाय उपाधेः साधनाव्यापकत्वं युक्तम्। तस्मात् "आसीत् दिवाऽसृजद्रात्रिमहोरात्रम् क्रमात् क्रमम्' इति नियमेन अनादि-दिनोत्तरं रात्रिरुत्पद्यते, ततः क्रमशः अहोरात्रम्, तादृशाहो-रात्रे एव उपाधेः साधनाऽव्यापकत्वम् इति वदन्ति।

वस्तुतस्तु प्रलये विप्रतिपत्त्या सर्गाद्याहोरात्रस्य सन्दिग्धत्वेन उपाधेः साधनाऽव्यापकत्व-सन्देहात् सन्दिग्ध एवायम् उपाधिः, दृष्टान्ते उपाधेः निश्चितत्वेऽपि दूषकता-बीजसाम्यान्न दृष्टान्तत्व-हानिरिति प्राहुः।

सावयवत्त्वेन ब्रह्माण्डस्यानित्यत्वे प्रमिते साधनाऽव्यापकत्वं निश्चितमेवेत्यपि वदन्ति।

सिंह से अवच्छिन्न-सूर्याधिकरणभूत कालोपाधि उपाधि है उसी प्रकार अहोरात्र में अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्व की सिद्धि में अव्यवहित-संसार-काल-पूर्वकत्व उपाधि है। अतः प्रथम बाधक से कोई बाधा, प्रलय-पक्ष में, नहीं आती है। 'भवोपाधिः' का अर्थ है संसार के अवच्छेदक काल की क्षण आदि उपा-धियाँ, वे ही यहाँ प्रथम बाधक के रूप में प्रस्तुत अनुमान में उपाधि हैं—यह अर्थ है।

सुषुप्ति-काले कतिपय-व्यक्ति-निष्ठ-भोग-जनकाऽदृष्टनिरोधवत् काल-विशेषात् समस्तात्मनां समस्तादृष्ट- निरोधः । तदिदमुक्तम्—वृत्ति-रोधः सुषुप्तिवत् इति ।

उद्भित् = शाक-विशेषः, तस्य यथा तण्डुलकणात् शाक-विशेष-बीजाच्च उद्भवः, यथा वा वृश्चिकस्य गोमयात् वृश्चिकाच्च उद्भवः, तथा काल-विशेषे अदृष्ट-विशेषात् केवलात्, इदानीं च ब्राह्मणात् ब्राह्मणोत्पत्तिः । वैजात्यस्य च कार्यताऽवच्छेदकत्वान्न व्यभिचारः ।

द्वितीयं वाधकमुद्धरति—सुषुप्ति-काले इत्यादिना । अधुनैव कथं न सर्वेषामदृष्टस्य निरोधः इत्यत्र युक्तिमाह—काल-विशेषादिति । काल-विशेषनियतत्वात्कार्यस्य न दोष इति भावः । वृत्तिः = अदृष्टस्य फलौन्मुख्यम् ।

तृतीयं वाधकं निराकरोति—उद्भित् इत्यादि । कालविशेषे = सर्गादि-काले; इदानीम् = सर्गे। न नु इदानीमपि सर्गादि-काल इव ब्राह्मणत्वादि-विशिष्टस्य जन्म भवतु, कृतं मात्रादिनेत्यत आह—काल-विशेष इति । नन्वेवं सति ब्राह्मणस्य ब्राह्मण-जन्यत्व-नियमाऽभावात् व्यभिचारः कार्यकारण-भावे इत्यत आह—वैजात्यस्येति । एतच्च उत्पादक-जाति-पूर्वकत्वमुत्पाद्य-जातेरिति पक्षमभिप्रेत्य । अस्तु वा अदृष्ट-विशेषो-पगृहीत-भूत-विशेषाणामेव कारणत्वम् । व्यभिचार इति—व्यतिरेक-व्यभिचार इत्यर्थः ।

सुषुप्ति-काल में कई जीवों के भोगोत्पादक-अदृष्ट-मात्र के निरोध की तरह प्रलय-काल में सभी जीवों के सभी अदृष्टों का निरोध भी सम्भावित है। यही वात कह रहे हैं:—'वृत्ति-रोधः सुषुप्तिवत्' शब्द से ।

'उद्भित्' का अर्थ है एक प्रकार का साग, उसकी उत्पत्ति जिस तरह चावल के टुकड़ों तथा उद्भिद् से भी होती है अथवा जैसे वीछू की उत्पत्ति गोवर से और वीछू से भी होती है ठीक उसी तरह प्रलय-काल में अदृष्ट-विशेष से प्रभावित भूत से और संसार-काल में ब्राह्मण माता-पिता से ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है । उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण में जो कार्यता है उसके अवच्छेदक, अर्थात् नियामक धर्म में वैजात्य—ब्राह्मण-मातृ-पितृ-जन्यत्व—आदि को मान लेने से ब्राह्मण माता-पिता के नही रहने से भी सृष्टि-प्रारम्भ में ब्राह्मण की उत्पत्ति मानने के कारण सम्भावित व्यतिरेक-व्यभिचार नहीं होता है ।

यथा मायावी सूत्र-सञ्चाराधिष्ठितं दारु-पुत्रकं कृत्वा दारु-पुत्रक ? घटमानय, इत्यादि नियोज्य घटानयनं सम्पाद्य बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकस्तथा ईश्वरोऽपि प्रयोज्य-प्रयोजकभावापन्नं शरीर-द्वयम् परिगृह्य, व्यवहारं कृत्वा तदानीन्तनानां शक्तिं ग्राहयति। एवं घटादि-सम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिक्षयति। तदिदमुक्तम्--मायावत् समयादयः इति। समयः = शक्ति-ग्रहः ॥ २ ॥

बाधके निरस्ते साधकमप्याह--

जन्म-संस्कार-विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय-कर्मणोः।
ह्रास-दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥ ३ ॥

चतुर्थं बाधकमुपनिक्षिपति—यथेति। तदानीन्तनानाम् = सर्गादि-भुवाम् इत्यर्थः। पञ्चमं बाधकम् उद्धरति—एवं घटादि-सम्प्रदायमपी-त्यादिना ॥ २ ॥

न केवलम् बाधकाऽभावेनैवादृष्टस्य पदार्थस्य सिद्धिः निःसंशयत्वमधिरोहतीति कृत्वा प्रलय-साधकोपन्यासोऽपि आवश्यकः इत्याह—बाधके इत्यादिना। प्रदीपवदिति--यथा प्रति-पलं ह्रसमाना शिखा दीपस्य काले निर्वाति तथैव ह्रसमानस्य वेदस्यापि विनाशः

जिस प्रकार मायावी अपने सूत्र-संचालन से प्रेरित होनेवाली कठ-पुतली को—पुतली ? तुम घट लाओ—इस प्रकार आदेश देकर उस पुतली के द्वारा घट को मँगवा कर बालक के शक्ति-ग्रह का उपपादक होता है उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर भी अपनी माया से प्रयोजक तथा प्रयोज्य दोनों का स्वरूप-परिग्रहण करके प्रथमोत्पन्न प्रजा को शक्ति-ग्रहण करवाते हैं। इसी प्रकार प्रारम्भ में स्वयमेव हमारे परमेश्वर शिक्षक का कार्य भी करते हैं और सबों को घटादि-कार्य-निर्माण-विधि की शिक्षा देते हैं। यही बात कही गई है :—'मायावत् समयादयः' शब्द से। यहाँ 'समयः' का अर्थ है शक्ति-ग्रहण ॥ २ ॥

प्रलय के बाधक के रूप में मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों के खण्डित कर दिए जाने के पश्चात् प्रलय के साधक- प्रमाणों का भी उपन्यास ग्रन्थकार कर रहे हैं:—

[जन्म-स्थिति, संस्कार-विधि, विद्या आदि, शक्ति, स्वाध्याय तथा कर्म-गति के उत्तरोत्तर ह्रास को देखकर इस संसार का भी ह्रास, अर्थात् प्रलय, का अनुमान करना चाहिए ॥ ३ ॥]

सम्प्रदायस्य = वेदादि-सम्प्रदायस्य, ह्रासः अनुमीयताम्। कुतः? जन्मादेः ह्रास-दर्शनात्। प्रयोगश्च--वेदादि-सम्प्रदायोऽयम् अत्यन्तम् उच्छिद्यते, ह्रसमानत्वात्, प्रदीपवत्। स्वरूपासिद्ध्युद्धारायाह--जन्मेति। पूर्वं मानस्यः प्रजाः। ततः पुत्र-मात्रार्थि-प्रयुक्तमैथुन-जाः। सम्प्रति सम्भोग-कामि-प्रवृत्त्यार्वाजितजन्मानः इति जन्म-ह्रासः। पूर्वं चरु-प्रभृतिषु संस्कारः, ततो गर्भे, ततो जननाऽनन्तरम्, इदानीं तु कथञ्चि-दिति संस्कार-ह्रासः। पूर्वं सहस्र शाखस्य चतुर्वेदस्याध्ययनम्, ततः एकस्याः शाखायाः इत्यादिक्रमेण विद्या-ह्रासः। विद्यादेरित्यादिना

स्यादेवेति। वेद-ह्रासे दृष्टान्तार्थं जन्मादि-ह्रास उक्त आचार्यैः। तथा च हेतोः पक्ष-वृत्तित्वावगमात् न स्वरूपासिद्धिरित्याह— स्वरूपेति। तथा च वेदादि-सम्प्रदाये पक्षे ह्रसमानत्वस्य हेतोः सत्त्व-प्रतिपादनेन न स्वरूपासिद्धिरिति भावः। कामि-प्रवृत्तीति—कामि-कर्तृक-मैथुन-प्रवृत्तीत्यर्थः। एतच्च उपलक्षणम्, इदानीन्तु देश-कालपात्राऽ-व्यवस्थया पशु-भाव-भूयिष्ठाः इत्यपि बोध्यम्। कथञ्चिदिति—लोक-व्यवहारमाश्रित्येत्यर्थः। सहस्रेत्यादि—सहस्रेत्युपलक्षणम्, तथा च भगवान् पतञ्जलिः—"चत्वारो वेदाः साङ्गाः स-रहस्याः बहुधा भिन्नाः, एक-शतमध्वर्युशाखाः, सहस्र-वर्त्मा साम-वेदः, एक-विंशतिधा बाह्वृ-च्यम्, नवधाथर्वणो वेदः ...." इति। ततः एकस्याः इत्यतः पूर्वम् वेद-त्रयस्य, ततः वेद-द्वयस्य, ततः एक-वेदस्येत्यादि पूरणीयम्।

'सम्प्रदायस्य' का अर्थ है वेद आदि के समूह के रूप में प्रतिपन्न इस संसार के, ह्रास का अनुमान करना चाहिए। इस अनुमान में हेतु है:—जन्म आदि का ह्रास-दर्शन। अनुमान वाक्य का स्वरूप यह है:—यह वेदादि-सम्प्रदाय समूल नष्ट, अर्थात् प्रलीन, हो जाता है, उत्तरोत्तर ह्रास के कारण, प्रदीप के समान। इस अनुमान में स्वरूपाऽसिद्ध हेत्वाभास को हटाने के लिए ग्रन्थकार कर रहे हैं:— 'जन्म···' इत्यादि। पहले इच्छा-मात्र से सन्तति होती रही, तदन्तर पुत्र-मात्र की उत्पत्ति के उद्देश्य से किए गए मैथुन से उत्पन्न होने लगी, परन्तु आज तो सम्भोग-मात्र के उद्देश्य से किए गए मैथुन से ही लोगों का जन्म होता है—यही जन्म का ह्रास है। पहले पुत्रेष्टयादि-यज्ञ के शेष चरु आदि में संस्कार का आधान किया जाता था, पश्चात् गर्भ में ही संस्कार होने लगा, पर आज तो किसी प्रकार कुछ होता भी और कुछ नहीं भी—यही संस्कार का ह्रास है। पहले अनेक शाखाओं में विभक्त चारों ही वेदों का लोग स्वाध्याय करते थे, तब दो वेदों,

वृत्ति-धर्मादिसङ्ग्रहः । पूर्वमुञ्छ-शिला-वृत्तयः, ततोऽयाचितवृत्तयः, ततः कृष्यादि-वृत्तयः, ततः सेवा-वृत्तयः इति वृत्ति-ह्रासः । पूर्वम् तपो-ज्ञान-यज्ञ-दानात्मक-चतुष्पाद्धर्मः, ततस्त्रेतादौ एकैक-ह्रासः, कलौ तु विसंष्ठुलस्खलद्दानैकपादिति धर्म-ह्रासः । पूर्वं यज्ञ-शेषभुजः, ततोऽतिथि-शेष-भुजः, ततः स्वार्थ-साधित-भुजः, ततः भृत्यादि-सह-भुज इत्यादि धर्म-ह्रासः । स्वाध्यायस्य = अध्ययनस्य, कर्मणः = यागादेः, शक्तेः = सामर्थ्यस्य, ह्रासात् । अध्ययन-शक्तेः कारणस्य ह्रासात् विद्या-शक्तेः कार्यस्य

एतच्च मनुनाऽपि सङ्केतितम्—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथा-क्रमम् ॥" इति ।

वृत्तिः = जीविका । उञ्छ-वृत्तिः = क्षेत्रादिपतित-कणाहरण-मात्रेण जीवित-रक्षणम्, शिला-वृत्तिश्च क्षेत्र-पतित-शस्य-मञ्जरी-समाहरणेन जीवनम् । अत एवोक्तम्—"उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्" इति । कणिशम् = शस्य-मञ्जरी । अयाचितेति—अयाचित-लब्धान्नमित्यर्थः । त्रेतादौ इत्यनन्तरम् क्रमेण इति पूरणीयम् । विसंष्ठुलः = अतिजीर्णः । भुजः = भोक्तार इत्यर्थः । स्वार्थेति—तत्र च दोषः स्मृतौ उक्तः—"अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्म-कारणात्" इति । सामर्थ्यस्येति—अध्ययन-सामर्थ्यस्येति भावः । अध्ययन-शक्ति-

एक वेद एवं एक शाखा के क्रम से आते-आते आज एक सूक्त का भी अध्ययन नहीं सा करते हैं—यही विद्या का ह्रास है । 'विद्यादेः' में आदि शब्द से जीविका तथा धर्म आदि का संग्रह समझना चाहिए । पूर्व समय में (तपस्वी) लोग खेतों में गिरे हुए दानों या शस्य-मञ्जरी को चुनकर जीविका की व्यवस्था करते थे, पश्चात् भिक्षा से, तदनन्तर खेती आदि व्यवसायों से । परन्तु आज बहुधा नौकरी से जीविका चलाते हैं—यही वृत्ति का ह्रास है । पहले, सत्य-युग में, धर्म के चारों ही पैर प्रतिष्ठित थे, उसके बाद त्रेता-द्वापर में क्रमशः एक-एक पैर के समाप्त हो जाने के कारण क्रमशः त्रिपात् तथा द्विपात् हुआ । परन्तु इस कलियुग में आकर केवल एक पैर से लड़खड़ाता हुआ चल रहा है—यही धर्म का ह्रास है । पहले यज्ञावशेष अन्न खाते थे, बाद में अतिथियों को खिलाकर अवशिष्ट अन्न का भक्षण किया जाने लगा, तदनन्तर स्वार्थ-अर्जित अन्न का और आज-कल तो भृत्य आदि के साथ-साथ भी अन्नभक्षण प्रचलित है—यह भी धर्म-ह्रास का हीं दूसरा प्रकार है । 'स्वाध्यायस्य' का अर्थ है अध्ययन का, 'कर्मणः' का अर्थ है यज्ञादि कर्मों का, 'शक्तेः' का अर्थ है सामर्थ्य का, ह्रास होने से । अध्ययन-शक्ति कारण है और

ह्रास इति पृथङ्निर्देशः। एवञ्च ब्रह्माण्ड-नाशे तदन्तर्गतप्राणिनां नाश इति प्रलय-सिद्धिः।

भक्ष्य-पेयाद्यद्वैत-राग-जीविका-कुतर्काभ्यास-व्यग्रताऽभिसन्धि-पाखण्ड-संसर्ग-प्रतारणादि-निबन्धनाऽन्या या प्रवृत्तिः यागादौ तद्वान् महाजनः, तत्परिग्रहात् वेदस्य-प्रामाण्यमिति ॥ ३ ॥

स्तवकार्थ-सङ्ग्राहक-श्लोकमाह—

रिति। अत्र केचित्तु अध्ययन-शक्ति-ह्रासात् अध्ययन-ह्रासः, अध्ययन-ह्रासाच्च विद्या-ह्रासः इत्येवं व्याचक्षते। प्रणिनां नाश इति--प्राणसम्बन्धाभावः जीवात्मनामिति शरीर-सम्बन्धाऽभावोपि सेत्स्यतीति भावः।

महाजनेन प्रमाणतया स्वीकृतत्वात् वेदस्य, तत्प्रामाण्य-ग्रह इत्युक्तम्, तत्र कः महा-जनः इत्याह—भक्ष्येत्यादि। भक्ष्याऽभक्ष्य-पेयाऽपेयाऽभेद-ग्रहण-मूलकः यः रागः तन्निबन्धना या प्रवृत्तिः, जीविका-निबन्धना च या प्रवृत्तिः, कुतर्काऽभ्यास-विषयक-व्यग्रता-निबन्धना च या प्रवृत्तिः, परापकारेच्छा-निबन्धना च या प्रवृत्तिः, वेद-विरुद्धाचरण-शील-जन-सम्पर्क-निबन्धना च या प्रवृत्तिः, प्रतारण-निबन्धना च या प्रवृत्तिः ताः सर्वा अपि क्षुद्राणाम् इति एतादृशीभ्यः प्रवृत्तिभ्यः भिन्नाः प्रवृत्तीः अनुसरन्तः महा-जनाः इति तात्पर्यम्। कुतर्कइति—तर्के कुत्सितत्वं च शास्त्र-विरुद्धत्वम्। अभिसन्धिः = परापकारेच्छा। आदि-पदात् धन-विद्या-मदादि-निबन्धना प्रवृत्तिर्विवक्षिता। निबन्धनाऽन्या = निबन्धनायाः प्रवृत्तेः अन्येति अर्थः ॥ ३ ॥

विद्या-शक्ति उसका कार्य है और कारण तथा कार्य में प्रकृत शास्त्र में भेद है, अत एव कारण-ह्रास से पृथक् कार्य-ह्रास का उल्लेख किया गया है। इस रीति से समस्त ब्रह्माण्ड के विनष्ट हो जाने पर उसके अन्तर्गत प्राणियों, अर्थात् देह-विशिष्ट जीवों, का देह-नाश के कारण नाश हो जाता है—यही तो प्रलय है।

खाद्य-अखाद्य तथा पेय-अपेय में विवेक नहीं करने के कारण उत्पन्न राग से होनेवाली, जीविका के कारण होनेवाली, कुतर्काभ्यास में व्यग्रता; अर्थात् असक्ति, के कारण होनेवाली, वेद-विरुद्ध-व्यवहार करनेवालों के साथ सम्पर्क से होनेवाली और प्रतारण के कारण होनेवाली प्रवृत्तियों से भिन्न जो यागादि विहित-क्रियाओं के सम्पादन में प्रवृत्ति उससे सम्पन्न पुरुष ही महा-जन हैं, और उनके अभ्युपगम के कारण ही साधारण-जनता को भी वेद के प्रामाण्य का परिज्ञान होता है ॥ ३ ॥

अब अन्त में ग्रन्थकार इस स्तवक में प्रतिपादित विषयों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करनेवाला श्लोक लिख रहे हैं:—

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयम् माया-वशात् संहरन्,
हारं हारमपीन्द्र-जालमिव यः कुर्वन् जगत्क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रह-स्फुरदभिध्यानाऽनुभावं भवम्,
विश्वासैक-भुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्ते[1]ष्वपि ॥४॥

इति श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्तौ
द्वितीयः स्तबकः ।



कारं कारम् = कृत्वा कृत्वेत्यर्थः । हारं हारम् = हृत्वा हृत्वा । तथा च यः शिवः देवः अदृष्ट-सहकारेण इदं भवम् कृत्वा कृत्वा संहरन् हृत्वा हृत्वा च कुर्वन् एव क्रीडति तम्प्रति नमन्नहं भूयासम् अन्त-कालेष्वपीति तात्पर्यम् । भवम् = जगन्मूलकारणम् । निरवग्रहः = निष्प्रतिबन्धः । अभिध्यानम् = ईक्षणम् । शिवम्प्रति = शिवमुद्दिश्य ॥४॥

पद-प्रमाण-चिन्तायामनन्ता यस्य भारती ।
तम्वन्दे पितरं लक्ष्मी-नाथं विद्या-निधिं गुरुम् ॥

इति श्रीनारायण-मिश्र-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्ति-प्रभायां
द्वितीयः स्तबकः ।



[जो भगवान् शिव अपनी माया के प्रभाव से अलौकिक तथा अद्भुत पदार्थों से सम्पन्न इस जगत् को, इन्द्र-जाल की तरह, बनाकर बिगाड़ते और पुनः बनाकर अपनी लीला करते हैं तथा जिनके अभिध्यान का प्रभाव निर्बाध-रूप से प्रकट होते रहता है, उन श्रद्धा एवम् विश्वास के पात्र सर्व-कल्याण-कर, एवम् जगन्निर्माता के चरणों में जीवन के अन्तिम क्षण तक मेरा प्रणाम होता रहे ॥४॥]

द्वितीय-स्तवक समाप्त ।



---

१. अन्त्येष्वपि इति पाठः क-घ-पुस्तयोः ।

अथ तृतीयः स्तबकः

तदभावावेदक-प्रमाण-सद्भावादिति तृतीयविप्रतिपत्तिः। भूतले घटाऽभाववत् ईश्वरस्यापि अनुपलब्धेः = अभावस्य, ग्रहात्। परमात्मनोऽयोग्यतया योग्याऽनुपलब्धेरभावात् नाऽभाव-ग्रह यदि तदा शश-शृङ्ग-

तृतीय-विप्रतिपीत्तेरित्यनन्तरम् बौद्धानामिति पूरणीयम्। तदेताम् उपपादयति—भूतले इति। अभावस्य ग्रहादिति—यथा यद्यत्र घटः स्यात् तर्हि भूतलमिवोपलभ्येत इत्यनुपलम्भ-सनाथेन चक्षुरादिनैव घटाऽभावः गृह्यते तथैव यदीश्वरः स्यात् तर्हि उपलभ्येतेति अनुपलम्भ-सनाथेन चक्षुषैव ईश्वराऽभाव-ग्रहणमिति भावः। ननु प्रत्यक्ष-योग्यस्य अनुपलब्धिः अभाव-साधिका भवति, प्रत्यक्षाऽयोग्यस्य च नेति कथमीश्वरस्य प्रत्यक्षाऽयोग्यस्यानुपलब्ध्या अभावः सिद्ध्यतीत्याशङ्कते—परमात्मन इति। अत्र बौद्ध आह—तदेत्यादि। अयमाशयः—यदि योग्यानुपलब्धिरभावसाधिका नायोग्यानुपलब्धिरिति विभाव्यते तर्हि शश-शृङ्गस्य अभावोऽपि न सिद्ध्येत्, अनुपलब्ध्या हि तस्य अभावः साध्यते नैयायिकैः, परन्तु शश-शृङ्गं प्रत्यक्ष-योग्यं नेति तस्य अयोग्यत्वेन अनुपलब्धि-मात्रेण तदभावः साध्यो न भवेदिति शश-शृङ्गस्याप्यस्तित्वमङ्गीकार्यं स्यात्, तद्वारणाय अनुपलब्धि-मात्रस्यैव अभाव-साधकत्वमगत्या मन्तव्यमिति अनुपलब्ध्या ईश्वरस्य अभावः सेत्स्यत्येवेति। यद्यपि धर्माऽधर्मादि-पदार्थाभ्युपगमं कुर्वतां बौद्धानामपि योग्यानुपलब्धिरेव अभाव-साधिका इति नोक्त-दिशा ईश्वराभाव-सिद्धिः तथाऽपि ईश्वरस्य

ईश्वर के अभाव को सिद्ध करनेवाले प्रमाण के उपलम्भ से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर नहीं है—यही तीसरा विरोधी मत बौद्ध-सम्प्रदाय का है। बौद्ध का कथन है कि जिस प्रकार अनुपलम्भ-सनाथ चक्षु से ही भूतल-निष्ठ घटाभाव का प्रमापण हो जाता है उसी प्रकार अनुपलम्भ-सनाथ चक्षु से ही हम ईश्वराभाव का ग्रहण करते हैं, अतः ईश्वर नहीं है। यदि यह कहा जाय कि योग्यानुपलब्धि ही अभाव-प्रत्यक्ष में सहकारी है अनुपलब्धि-मात्र नहीं; ईश्वर प्रत्यक्ष-योग्य पदार्थ नहीं है अतः उसकी अनुपलब्धि उसके अभाव का साधक नहीं

स्याऽपि अयोग्यस्य नाभावः सिद्धचेत्, इत्यत्राह—

योग्याऽदृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम् ।
क्वाऽयोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वाऽनुमानमनाश्रयम् ।। १ ।।

अयोग्ये परमात्मनि योग्यानुपलब्धिः कुतः? सैव बाधिका, या चाऽस्ति सा न बाधिका । अन्यथा धर्माऽधर्मादि-विलोपापत्तेः । शृङ्गन्तु

अयोग्यत्वमेव न, चेतनो हि ईश्वरः नैयायिकाभिमतः, चेतनस्य च शरीरवत्त्वेन सह व्याप्तिः इति चेतनस्येश्वरस्यापि शरीरित्वमगत्या स्वीकर्त्तव्यम्, तथा च शरीरिणः तस्य प्रत्यक्षयोग्यत्वमेवेति तदनुपलब्ध्या तदभावः सिद्धयत्येवेति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम् अवगन्तव्यम् ।

सैव = योग्यानुपलब्धिरेव, बाधिका = अभावसाधिका । या च = अयोग्याऽनुपलब्धिः ईश्वरे अस्ति सा न सत्त्व-बाधिका । अन्यथा = अयोग्यानुपलब्धेरपि बाधकत्वे । धर्माऽधर्मादिः इत्यतः पूर्वम् अतीन्द्रियस्येति पूरणीयम् । आदिना गगनादि-परिग्रहः । विलोपाऽऽपत्तेः— धर्माऽधर्मादीनामप्यनुपलब्धेः इति भावः । तथा च धर्मादि-विलोप-भिया योग्याऽनुपलब्धेरेव बाधकत्वे सिद्धे अयोग्यस्य ईश्वरस्य अनुपलब्धिः न तदभावं साधयितुमलमिति तात्पर्यम् । ननु यदि योग्याऽनु-

बन सकती तब तो शश-शृङ्ग—जो प्रत्यक्षायोग्य है—का भी अभाव प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकेगा । अतः शश-शृङ्गाभाव के प्रमापण के लिए अनुपलब्धि-मात्र को अभाव-प्रत्यक्ष का प्रयोजक मागना चाहिए, और इस दशा में ईश्वर के अभाव का भी प्रत्यक्ष उपपन्न ही है । अब इस बौद्ध-मत का खण्डन कर रहे हैं :—

[योग्यानुपलब्धि ही पदार्थ के अभाव की सिद्धि करनेवाली है, ईश्वर तो योग्य (प्रत्यक्ष-योग्य) ही नहीं है फिर उसके प्रसङ्ग में अभाव-साधिका योग्यानुपलब्धि की बात कहाँ ? शश-शृङ्ग के प्रसङ्ग में भी केवल शृङ्ग में शशीयत्व का प्रतिषेध किया जाता है; एवञ्च प्रत्यक्षाऽयोग्य शश-शृङ्ग के बाध तथा उसके आधार पर अनुपलब्धि-मात्र को अभाव-ग्राहिका मानने की स्थिति कहाँ आती है ? और ईश्वरात्मक धर्मी के अभ्युपगम के विना उसके प्रतिषेध के लिए (व्याख्यास्यमान) अनुमान की कैसे उपपत्ति हो सकती है ? अतः ईश्वर का निषेध करना अयुक्त है ॥ १ ॥]

प्रत्यक्षायोग्य परमातमा के प्रसङ्ग में योग्यानुपलब्धि कहाँ है ? सत्ता का बाध तो योग्यानुपलब्धि से ही होता है न कि अनुपलब्धि या अयोग्यानुपलब्धि

योग्यमेव। तथा च कुतः प्रतिबन्धिः? अयोग्यन्तु शृङ्गं न बाध्यते किन्तु साधकाऽभाव एव तत्र। प्रकृते च पञ्चम-स्तवके साधकस्य

पलब्धिरेव अभाव-साधिका तर्हि अयोग्यस्य शश-शृङ्गादेः अनुपलब्ध्या अभाव-निर्णयः नैयायिकानां कथमित्यत्राह—शृङ्गमिति। योग्यमेवेति। अयमाशयः—शशः अपि प्रत्यक्ष-योग्यः, शृङ्गमपि-प्रत्यक्ष-योग्यम्, गवादौ तथा दृष्टत्वात्। तथा च योग्यस्यैव शृङ्गस्य अनुपलब्ध्या अभाव-निर्णयः इति कुतः अयोग्यस्य परमात्मनः अनुपलब्ध्या अभावः स्यात् इत्याह—तथा चेति। शशीयत्वेन शृङ्गमयोग्यमेवेति यदि मतम् तर्हि युक्त्यन्तरमाह—अयोग्यन्त्विति। यदि शृङ्गम् अयोग्यमेवेति आग्रहः तर्हि शश-शृङ्गाभावः अनुपलब्ध्या नावधारणीयः, अपि तु शशे शृङ्गस्य साधकं किञ्चित् प्रमाणं नोपलभ्यते इत्येव तदभावः निश्चीयते इति न शश-शृङ्गाभाव-प्रतिपादनाय अयोग्यानुपलब्धेरपि बाधकत्वमभ्युपेयम् येन ईश्वरासिद्धिः स्यादिति भावः। वृत्ति-ग्रन्थस्तु इत्थं योजनीयः—अयोग्यम् इत्यतः पूर्वम् यदीति पूरणीयम्। तु-शब्दः अवधारणार्थकः। तथा च यदि अयोग्यमेव शृङ्गम् इत्याग्रहः तदा तत् अनुपलब्ध्या न बाध्यते किन्तु साधकाभाव एव तत्रेति स्पष्टमेव। साधकाऽभाव इति--प्रत्यक्षं तु भवत्येव न शशे शृङ्गस्य; तत्साधकमनुमानं च द्विधा सम्भवति—(क) शशः शृङ्गी, शशत्वात्, (ख) शशः शृङ्गी, पशुत्वात् इति वा। परन्तु आद्ये व्याप्यत्वाऽसिद्धिः, अन्त्ये च व्यभिचारः इति नानुमानमुपपन्नमित्यर्थः। नन्वेवम् ईश्वरोपि साधक-प्रमाणाभावादेव शश-शृङ्गवदसिद्धोऽस्तु इत्यत आह—प्रकृते चेति। विषयत्वं सप्तम्यर्थः।

से भी। ईश्वर के प्रसङ्ग में जिस प्रकार की अनुपलब्धि है वह तो उसकी सत्ता का प्रतिषेध नहीं कर सकती है। यदि अयोग्यानुपलब्धि को भी सत्ता का प्रतिषेधक माना जाय तब तो धर्म अधर्म आदि की सत्ता भी प्रतिषिद्ध हो जाएगी। शश-शृङ्ग के प्रतिषेध में तो हम जो प्रत्यक्ष-योग्य शृङ्ग है उसमें शशीयत्व धर्म का प्रतिषेध करते हैं। अतः वहाँ भी अयोग्यानुपलब्धि की बाधकता की सिद्धि नहीं होती है। यदि शश-शृङ्ग को कथञ्चित् अयोग्य मान लिया जाय तब भी उसका प्रतिषेध उस अयोग्यानुपलब्धि के आधार पर नहीं माना जाता है अपि तु शश-शृङ्ग के साधक प्रमाण के अभाव से ही उसके अभाव का निर्णय होता है। ईश्वर के प्रसङ्ग में साधक-प्रमाणाभाव

वक्तव्यत्वात् ।

ननु कर्त्तृत्व-व्यापक-शरीर-प्रयोजनाऽभिसन्धानयोरभावात् ईश्वरस्याऽभावोऽनुमेयः इत्यत्र आह—क्वानुमानमनाश्रयम् इति । ईश्वरस्य

प्रकृतश्च ईश्वर इति ईश्वर-विषये इत्यर्थः । वक्तव्यत्वादिति—कार्याऽऽयोजनेत्यादिनेति भावः । तथा च न साधकप्रमाणाभाव इति ईश्वरसिद्धिः निर्बाधा इति प्रतिफलितम् ।

कर्त्तृत्वेत्यादिग्रन्थस्यायं भावः—यत्र यत्र कर्त्तृत्वं तत्र तत्र शरीरवत्त्वम्, एवं यत्र यत्र कर्त्तृत्वं तत्र तत्र प्रयोजनाभिसन्धानवत्त्वम् इति नियम-द्वयम् सर्व-जनानुभव-सिद्धम् । तत्र अशरीरे निष्प्रयोजने च जगन्निर्मातरि ईश्वरे नैयायिकाऽभिमते कर्त्तृत्व-व्याप्ययोः शरीर-प्रयोजनवत्त्वयोः अभावात् तदुभय-व्याप्यं कर्त्तृत्वं न ईश्वरस्य सिद्धयति, व्यापक-निवृत्तौ व्याप्य-निवृत्तेः स्वाभाविकत्वात् । जगत्कर्त्तृत्वेनैव च ईश्वरसिद्धिः सम्भवेत्, तदेवं कर्त्तृत्वमीश्वरेऽनुपपन्नं सत् नानुमापयितुं क्षमम् । तथा चायं प्रयोगः—ईश्वरः कर्त्तृत्वाभाववान्, (कर्त्तृत्व-व्यापकीभूत-) शरीर-प्रयोजनाभाववत्त्वात् इति । अत्रोत्तरमुपपादयति—ईश्वरस्येति । असिद्धेरिति—तथा च ईश्वरानङ्गीकर्त्तुः बौद्धस्य ईश्वरे कर्त्तृत्वाऽभावानुमापकौ शरीरवत्त्वप्रयोजनाऽभाववत्त्वाख्यौ हेतू आश्रयाऽसिद्धाविति ईश्वरः कर्त्तृत्वाभाववान् इति पूर्वोक्तानुमानमेवासिद्धम् इति नेश्वरे कर्त्तृत्व-व्याघात-सम्भावनाऽपि । यदि तु उक्ताश्रयासिद्धि-वारणाय ईश्वरः अभ्युपगम्यते तर्हि प्रत्यक्षायोग्यस्य तस्य जगत्कर्त्तृत्वेनेव साधनीयतया ईश्वरसाधकानुमानेन पूर्वोक्तानुमान-साध्यस्य बाधितत्वेन शरीरादि-हेतोः

तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगे पञ्चम-स्तवक में साधक-प्रमाणों का व्याख्यान होनेवाला है । अतः ईश्वर का प्रतिषेध प्रामाणिक नहीं है ।

पुनः पूर्व-पक्ष है:—कर्त्तृत्व का व्यापक धर्म है शरीरवत्त्व तथा प्रयोजनवत्त्व । परन्तु ईश्वर में, न्याय-मत के अनुसार, न तो शरीरवत्त्व है और न प्रयोजनवत्त्व हीं । अतः शरीरवत्त्वाभाव तथा प्रयोजनाभाव के आधार पर ईश्वर में जगत्कर्त्तृत्वाभाव के सिद्ध हो जाने पर ईश्वराभाव का अनुमान हो जाएगा । इसके उत्तर में कह रहे हैं:—'क्वानुमानम् अनाश्रयम्' । ईश्वरात्मक आश्रय, अर्थात् पक्ष, के असिद्ध होने पर अनुमान की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? ईश्वर की सिद्धि मान कर उसमें कर्त्तृत्वाभाव की अनुमिति तो धर्मी—

आश्रयस्य पक्षस्य असिद्धेः। सिद्धौ च धर्मि-ग्राहक-मानेन अनुमान-बाध एव ॥ १ ॥

ननु असत्ख्यात्युपनीत ईश्वरः, तत्र कर्त्तृत्वाभावः तस्यैव वा अभावः साध्यः इत्यत्राह—

व्यावर्त्त्याऽभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभाव-विरहात्मत्वम् वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

बाधिततया तस्याऽपि अनुमानस्य बाध इति सर्वम् अभिप्रेत्याह—अनुमानेति। ईश्वर कर्त्तृत्वाभाववानित्यनुमानस्येत्यर्थः ॥ १ ॥

असत्ख्यातिः = असतः = अलीकस्य, ख्यातिः = ज्ञानम् इत्यर्थः। प्रकृते तु असती ख्यातिः इत्यपि समासः उपपद्यते। तथा च मिथ्या-ज्ञानम् इत्यर्थः। उपनीतः = विषयीकृतः। अस्य च पूर्व-पक्षस्यायमाशयः—ईश्वरः कर्तृत्वाभाववानिति पूर्वोक्तानुमाने पक्षी-कृतः ईश्वरः न वास्तवः, अपि तु व्यामूढ़-जन-मिथ्या-ज्ञान-विषयीभूत एव, तत्रैव च कर्तृत्वाभावः साध्यते इति न शरीरादि-हेतोः आश्रयासिद्धत्वम् न वा परमार्थतः ईश्वर-सिद्धिरपि इति। यद्वा अलीकमीश्वरं पक्षी-कृत्य तत्र त्रैकालिक-वृत्तित्वाभाव एव साध्यताम्—ईश्वरः सर्व-काल-वृत्त्यभाव-प्रतियोगी, प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् इति। उभयत्रानुमाने अलीक एव ईश्वरः पक्षी-कृतः इति आश्रयाऽसिद्धिः पारमार्थिकेश्वर-सिद्धिश्च निराकृतेति। अत्रोत्तरं प्रस्तौति—इत्यत्रेत्यादिना। प्रतिक्षेप्यः = प्रतियोगी, यस्य प्रतिषेधः क्रियते स इत्यर्थः। पूर्वोक्तानुमाने च

ईश्वर—के प्रसाधक प्रमाण से बाधित ही है। अतः उस अनुमति के आधार पर कुछ नहीं बन सकता है ॥ १ ॥

पुनः पूर्व-पक्ष है :—मिथ्या-ज्ञान-विषयीभूत ईश्वर को पक्ष मान कर उसमें जगत्कर्त्तृत्वाभाव साध्य है। अतः पारमार्थिक ईश्वर की स्वीकृति भी नहीं होती और पक्षासिद्धि भी नहीं। इसके उत्तर में कह रहे हैं :—

[प्रतिषेध्य पदार्थ के अभाव का आश्रय जो पदार्थ होता है वह वस्तुसत् ही होता है। अतः कर्त्तृत्वाभावाश्रय ईश्वर मिथ्या नहीं हो सकता है। इसी तरह अभाव-विरहात्मकत्व रूप प्रतियोगित्व भी परमार्थसत् पदार्थ में ही रह सकता है। अतः अलीक ईश्वर को प्रतिषेध का प्रतियोगी भी नहीं माना जा सकता है ॥ २ ॥]

व्यावर्त्यः = प्रतिक्षेप्यः, तदभाववत्ता भाविकी = पारमार्थिकी। हि = यतः, विशेष्यता = अभावस्याऽऽश्रयता। तथा चालीकं न विशेष्यम् इत्यर्थः। अभाव-विरहात्मत्वं प्रतियोगित्वम् अवस्तुनः नेति न अलीकस्य प्रतिषेधाऽधिकरणत्ववत् प्रतिषेध्यत्वमपीति भावः ॥ २ ॥

ननु अयोग्यस्याप्यनुपलब्ध्या कथं न अभाव - ग्रहः ?

प्रतियोगी जगत्कर्तृत्वम्, तदभावः = जगत्कर्तृत्वाऽभावः, तद्वान् ईश्वरः, तद्वत्ता ईश्वरे इति स ईश्वरः अलीकः न भवितुमर्हति, अभावाश्रयतायाः परमार्थिकत्वेन अलीक-वृत्तित्वाभावात्। अतः यत्तावदुक्तम्—ईश्वरः कर्तृत्वाभाववान् इत्याद्यनुमाने कर्तृत्वाभावाश्रयः ईश्वरः अलीक एवेति न तस्य पारमार्थिकत्वम् न वा आश्रयाऽसिद्धिरिति तत्प्रत्युक्तम्, ईश्वरस्य परिमार्थिकत्वे कर्तृत्वाभावाश्रयकथनानुपपत्तिः, अलीकत्वे चाश्रयासिद्धिरिति दूषणस्य दुरपह्नवत्वात्। तदेतदाह—तथा चालीकमित्यादिना। यत्पुनरुक्तम्—ईश्वरः सर्व-कालवृत्त्यभाव-प्रतियोगीत्यत्रापि पक्षी-कृतः ईश्वरः अलीक एवेति नाश्रयासिद्धिः न वा ईश्वरस्य परमार्थिकत्वमिति तत्प्रत्याख्यातुमाह—अभावेति। प्रतिषेधाधिकरणत्ववदिति—यथा हि अलीकस्य प्रतिषेधाधिकरणत्वम् न भवति तथैव तस्य प्रतिषेध्यत्वमपि न भवतीति तात्पर्यम्। अलीकस्य तत्त्वे च असत्त्वमेव हेतुः। अभावानुयोगित्वं तत्प्रतियोगित्वं च नालीकनिष्ठमिति तु परमार्थः ॥ २ ॥

भ्रान्तः, अर्थात् पूर्वोक्तं योग्यानुपलब्धेरेव अभावसाधकत्वं विस्मृत्य, पुनरपि शङ्कते—नन्विति। वस्तुत इत्थमवतारणमनुचितम्। इदं च मूलम् इत्थम् अवतारणीयम्—

पूर्वत्र अभाव-प्रतियोगित्वानुयोगित्वे नालीक-निष्ठे इति सिद्धान्तितम्, तत्कथम् नैयायिकैरेव शश-शृङ्गस्य अलीकस्य अभावः शश-

'व्यावर्त्यः' अर्थात् जिसका प्रतिषेध किया जाता है, उसके अभाव का आश्रय होने का अर्थ है 'भाविकी' अर्थात् पारमार्थिक होना। 'हि' अर्थात् यतः, 'विशेष्यता' का अर्थ है अभावाधिकरणता अतः यह सिद्ध है कि अलीक पदार्थ अभाव का आश्रय (अनुयोगी) नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार अभावाभावात्मक प्रतियोगिता भी अलीक पदार्थ में नहीं हो सकती है। तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार अलीक पदार्थ अभाव का अनुयोगी नहीं होता है उसी प्रकार वह अभाव का प्रतियोगी भी नही हो सकता है ॥ २॥

इत्यत आह—

दुष्टोपलम्भ-सामग्री शश-शृङ्गादि-योग्यता ।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नाऽस्ति साऽनुपलम्भने ॥ ३ ॥

योग्यानुपलब्धिरेव अभावग्राहिका, अन्यथा अतीन्द्रिय-मात्रोच्छेदापत्तेः। योग्यता च प्रतियोगि-तद्व्याप्येतर-यावदुपलम्भ-सामग्री-समव-शृङ्गं नास्तीत्यादिना प्रतिपाद्यते ? इत्यत आह—दुष्टेत्यादि। उत्तर-ग्रन्थाशयस्तु—भवेन्नाम शश-शृङ्गस्य अलीकस्य अभावप्रतियोगित्वं यदि तदभावः प्रसिद्ध्येत्, न चैतत्सम्भवति, अभाव-प्रसाधका-ऽभावात्। पूर्वोक्त-साधनाभावेन शश-शृङ्गस्य असिद्धिरेव प्रतिपादिता भवति, न प्रतिषेधः, अनुपलब्धौ च योग्यानुपलब्धेरेव अभाव-साधकत्वम् नानुपलब्धि-सामान्यस्य, तथा सति धर्माऽधर्मादीनाम् अभाव-प्रसङ्गात्। न चैषा अभाव-साधिका योग्यानुपलब्धिः शश-शृङ्गस्य; योग्यतायां सत्यामनुपलब्धेः अनुपलब्धौ च सत्याम् योग्यतायाः असम्भवादिति कारिका-व्याख्याने स्फुटी-भविष्यति। अतः शश-शृङ्ग-प्रतियोगिकस्य अभावस्यैव अगृहीतत्वेन क्व तत्प्रतियोगित्वम् शश-शृङ्गस्येति नालीकस्य अभाव-प्रतियोगित्वमुपपद्यते। शश-शृङ्गं नास्तीत्यत्र तु शशे अधिकरणे विषाणाभावः इत्येव प्रतिपादनीयः इत्यादि विवेचनीयम् विद्वद्भिः।

मूले नोपलम्भ इति—न उपलम्भ इति विग्रहे सह सुपेति समासे रूपम्। तथा च अनुपलम्भ इति तदर्थः। योग्यतां विवृणोति—प्रतियोगि-तद्व्याप्येत्यादिना। प्रतियोगी = अभाव-प्रतियोगी, तद्व्याप्यः = प्रतियोगीन्द्रिय-सम्बन्धः, ताभ्यामितराणाम् प्रत्यक्ष-सामग्रीणां समवधान-

पुनः पूर्व-पक्ष हैः—अयोग्यानुपलब्धि से भी अभाव का ग्रहण क्यों नहीं हो जाता है ? इस पूर्व-पक्ष के समाधान में कह रहे हैंः—

[शश-शृङ्ग आदि अलीक पदार्थों की योग्यता का अर्थ है दोष-घटित-प्रत्यक्ष-सामग्री-समवधान ही। जिस समय यह योग्यता रहती है उस समय शश-शृङ्ग का अनुपलम्भ ही नहीं होता है और जब अनुपलम्भ होता है उस समय योग्यता नहीं रहती है। अतः अलीक पदार्थ के प्रसङ्ग में योग्यता-सहित अनुपलब्धि, जिसको अभाव-ग्राहिका मानी जाती है, कभी भी नहीं हो सकती है ॥ ३ ॥]

योग्यानुपलब्धि ही अभाव-ग्राहिका है अयोग्यानुपलब्धि नहीं, अन्यथा अतीन्द्रिय पदार्थ का विलोप हो जाएगा। योग्यता का अर्थ है प्रतियोगी तथा

धानम्। एवञ्च शश-शृङ्गे योग्यता दुष्टा=दोष-घटिता, उपलम्भ-सामग्री वाच्या, तस्यां सत्याम् अनुपलब्धिः न किन्तु उपलब्धिरेव स्यात्, अदृष्टे च सा योग्यता नास्तीति ॥ ३ ॥

ननु आत्मा किञ्चिदनभिज्ञः स्व-निष्ठ-कर्त्तृत्वाऽनिरूपक-क्षितिको वा,

मित्यर्थः। एतादृशी च योग्यता अलीके नास्तीति हेतोः तत्रत्यां योग्यतां दोष-घटित-तज्ज्ञान-सामग्री-रूपाम् आह—दुष्टेति। शश-शृङ्गस्य अलीकत्वात् इति भावः। अदृष्टे=अनुपलम्भे। सतीति पूरणीयम् नास्तीति—अतः परम् इति नालीकस्य प्रतियोगित्व-सिद्धिरिति शेषः। नचैवम् शश-शृङ्गं नास्तीत्यत्र कः प्रतियोगी ? शशे अधिकरणे विषाण-पदार्थ एव, तस्य च नालीकत्वम् इति नाऽनुपपत्तिः। तथा च न पूर्वोक्तानुमानयोः अलीकस्य ईश्वरस्य अभावानुयोगित्वम् अभाव-प्रतियोगित्वम् वा सम्भवतीति हेतोः आश्रयाऽसिद्धत्वेन न ताभ्याम् ईश्वराभावः आपादयितुं शक्यते इति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

आत्मेति—अत्र अन्वय-व्याप्ति-ग्रहणाय स्वेतरेति विशेषणमावश्यकम्। स्व-निष्ठेत्यादेः क्षित्यादि-कर्तृत्वाभाववानित्यर्थः। तथा च सर्वेष्वात्मसु सर्वज्ञत्वाभावस्य क्षित्यादि-कर्तृत्वाभावस्य च सिद्धौ आत्म-पदार्थान्तर्गतस्य परमात्मनोऽपि न्यायादि-सम्मतस्य तथात्व-

तद्व्याप्य, अर्थात् प्रतियोगी के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध, को छोड़कर अन्य सभी प्रत्यक्ष-सामग्रियों की उपस्थिति। परन्तु शश-शृङ्ग आदि अलीक-पदार्थ-स्थल में पित्तादि-दोष-घटित प्रत्यक्षसामग्री ही योग्यता हो सकती है। अब यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की योग्यता जिस समय रहती है उस समय शश-शृङ्ग की अनुपलब्धि नहीं अपि तु उपलब्धि ही होती है और जब अनुपलब्धि होती है उस समय उक्त योग्यता नहीं रह सकती है। अतः शश-शृङ्ग आदि स्थल में योग्यता-सहित अनुपलब्धि के अभाव होने शश-शृङ्गाभाव-ग्राहिणी योग्यानुपलब्धि नहीं मिलती है। अत एव शश-शृङ्ग के अभाव के ग्रहण तथा शश-शृङ्ग में उसके प्रतियोगित्व की बात सर्वथा अनुपादेय है ॥ ३ ॥

पुनः पूर्व-पक्ष है :—'आत्मा सर्वज्ञ नहीं है आत्मत्व युक्त होने से' अथवा 'आत्मा पृथिव्यादि-कर्त्तृत्वाभाववान् है, आत्मत्व युक्त होने से, जैसे चैत्रादि की आत्मा' इस अनुमान से जब आत्म-मात्र में सर्वज्ञत्वाभाव तथा जगत्कर्त्तृत्वाभाव सिद्ध हो जाता है तब आत्म-विशेष परमात्मा में भी सर्वज्ञत्वाद्यभाव सिद्ध

आत्मत्वादित्यत्राह—

इष्ट-सिद्धिः प्रसिद्धांशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।
नान्या सामान्यतः सिद्धिः जातावपि तथैव सा ॥ ४ ॥

प्रसिद्धे = संसार्यात्मनि पक्षे, इष्टसिद्धिः = सिद्ध-साधनम् । अगोचरे = अज्ञाते, हेत्वसिद्धिः = हेतोरज्ञानम् । आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्धः पक्षः

मागतमिति पुनरपि परमात्मनः साधकाभावः सिद्ध्यत्येवेति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम् ।

प्रसिद्धे इति मूलस्य तात्पर्यार्थमाह—संसारीति । सिद्ध-साधनम्—वादि-प्रतिवादिभ्यामुभाभ्यामेव जीवात्मनाम् यत्किञ्चिदनभिज्ञत्वे क्षित्याद्यकर्तृत्वे च सम्मति-प्रदर्शनादिति न किञ्चिदपि साधनीयम् अवशिष्यते यदर्थमुपर्युक्ताऽनुमान-द्वयमपेक्षितं स्यादिति भावः । अज्ञाते—पक्षे इति पूरणीयम् । हेतोरज्ञानम् = पक्षनिष्ठत्वेन हेतोरज्ञानम्

ही है। फिर सर्वज्ञ जगत्कर्त्ता परमात्मा की स्थिति में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं:—

[यदि उपर्युक्त अनुमान-द्वय में पक्ष जीवात्मा है तब तो उस जीवात्मा में सर्वज्ञत्वाद्यभाव का अनुमान हमारा भी इष्ट ही है। अतः सिद्धसाधन दोष हैं। यदि परमात्मा, पूर्व-पक्ष के अनुसार, अप्रमित हैं तब उसे पक्ष के अन्तर्गत मानने में स्वरूपासिद्ध दोष है, क्योंकि अप्रमित पदार्थ के साथ हेतु का सम्बन्ध प्रमित नहीं हो सकता है। सामान्य रूप में आत्मा को पक्ष मानने पर स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है, अर्थात् सिद्ध-साधन किम्वा स्वरूपासिद्धि प्रस्तुत ही है। आत्मत्व-जाति को पक्ष मानने पर भी सिद्ध-साधन-(क्योंकि न्याय-मत में भी आत्मत्व को सर्वज्ञ या जगत्कर्त्ता नहीं माना जाता है) और हेत्वसिद्धि (क्योंकि आत्मत्व पक्ष में आत्मत्व हेतु की सत्ता असिद्ध है) यथावत् प्रस्तुत है ॥ ४ ॥]

'प्रसिद्धे' अर्थात् संसारी आत्माओं को पक्ष मानने पर 'इष्ट-सिद्धिः' अर्थात् सिद्ध-साधन दोप प्रस्तुत है। 'अगोचरे' अर्थात् अज्ञात परमात्मा को पक्ष मानने पर 'हेत्वसिद्धिः' अर्थात् अज्ञात परमात्मा में आत्मत्वात्मक हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति के अज्ञात होने पर तन्निष्ठ जाति का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि तु आत्मत्वेन रूपेण सामान्यतो-ज्ञात आत्मा को ही पक्ष माना जाय तब भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि जीवात्मा हो उस

चेत् ? तत्राप्यस्मदादिस्तदितर आत्मा वा पक्ष इति विकल्पे सिद्ध-साधनम् हेत्वसिद्धिर्वा ।

नन्वात्मत्वं जातिः पक्षः ? तत्राह--जातावपि तथैव सेति । आत्मत्वं जातिः न क्षितिकर्त्री इत्यत्र इष्ट-सिद्धिः = सिद्ध-साधनम्, हेतोश्च तत्राऽसत्त्वमिति हेत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

नन्वागमादि-सिद्धात्मनि अकर्त्तृत्वं साध्यम्, तत्राह—

इत्यर्थः । तथा च स्वरूपाऽसिद्धिः, परमते आश्रियाऽसिद्धिश्च दोषः। सिद्धसाधनम् इति—अस्मदादीनाम्पक्षत्वे सिद्ध-साधनम्, तदितरे अप्रसिद्धात्मनि च पक्षे हेतोराश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिश्चेति पूर्वव-द्दोषः इत्यर्थः ।

पूर्वानुमानयोः पक्षाऽप्रसिद्ध्यादिना दूषणं दत्तम्, परन्तु प्रति-वादिना कथ्यते यत् न आत्मा पक्षः अपि तु आत्मत्वं जातिरेव पक्षः, तस्याश्च जातेः अस्मदाद्यात्मसु प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धिरित्य-त्राह—तत्राहेति । आत्मत्व-पक्षकानुमाने हि हेतुरपि आत्मत्वमेव, तथा च आत्मत्वं न क्षिति-कर्तृ आत्मत्वात् इत्यत्र आत्मत्वे कर्तृत्व-स्य अस्मदादीनामप्यसम्मतत्वेन सिद्ध-साधनम्, आत्मत्वस्य च हेतोः आत्मत्वे पक्षे अविद्यमानत्वं स्वस्मिन् स्वस्य वृत्तेरसम्भवादिति पक्षे हेत्वभाव इति स्वरूपाऽसिद्धिरपीति इदमप्यनुमानमप्रयोजकमेवेति नेश्वर-सिद्धौ बाधकम् इत्याशयेनाह—आत्मत्वं जातिरित्यादि ॥ ४ ॥

आगमादीत्यत्र आदिपदं लोक-व्यवहार-संग्रहार्थम् । आत्मनि= परमात्मनि । तथा च आगमादि-सिद्धस्य परमात्मन एव पक्षत्वेन

पक्ष के रूप में अभिमत है या परमात्मा भी । पूर्व-कल्प के मानने में पूर्व-वत् सिद्ध-साधन है और उत्तर कल्प के मानने में स्वरूपासिद्धि ।

पुनः पूर्व-पक्षी का कहना है:—हम आत्मा को पक्ष मानते ही नहीं, अपि तु आत्मत्व जाति को, और यह आत्मत्व-जाति जीवात्मा के ज्ञात होने के कारण ज्ञात ही है अज्ञात नहीं । इसका उत्तर दे रहे हैं:—'जातावपि तथैव सा' इस वाक्य के द्वारा । आत्मत्व जाति में पृथिव्यादि-कर्त्तृत्व नहीं है, इतना नैयायिकों का भी अभीष्ट है । अतः इस दृष्टि से इष्ट-सिद्धि, अर्थात् सिद्ध-साधन दोष, उपस्थित ही है, और आत्मत्व-रूप पक्ष में आत्मत्व-हेतु की अवृत्तिता के कारण हेत्वसिद्धि भी बनी ही है—यही तात्पर्य है ॥ ४ ॥

पूर्व-पक्षी का प्रश्न है:—आगमादि से सिद्ध आत्मा में हम जगत्कर्त्तृत्वाभाव

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यात् आश्रयाऽसिद्धिरुद्धता ॥ ५ ॥

आगमादेः प्रमाणत्वे तत एवेश्वरस्य कर्त्तृत्वादि-सिद्धौ कर्त्तृत्वाद्य-भाव-साधने बाधः । आगमादेरप्रमाणत्वे तु सैवाश्रयाऽसिद्धिः । उद्धता = उत्कटा ॥ ५ ॥

न पक्षाऽप्रसिद्धिरिति कर्तृत्वाभावसाधके अनुमाने नाश्रयाऽसिद्धि-रिति पूर्व-पक्षाशयः ।

आगमादेः प्रमाणत्वे तत्साधितस्येश्वरस्यापि प्रामाणिकत्वेन "विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादिना च तत्कर्तृत्व-सिद्धौ कर्तृत्वाभावसाधक-हेतोर्बाधितत्वम्, अप्रमाणत्वे तु ईश्वरस्या-ऽप्रसिद्ध्या पक्षाऽप्रसिद्धिर्दुरुद्धरैवेत्याशयेन समाधते—तत्राहेति । बाध इति—ननु धर्म्यंशेऽस्तु आगमादेः प्रामाण्यमिति न पक्षाऽप्रसिद्धिः; बाधस्तु न, धर्मांशे (कर्तृत्वाद्यंशे) आगमादेरप्रामाण्यादिति चेत् ? न, आप्तोक्तत्वादिहेतोः आगमादि-प्रामाण्याधायकस्य तुल्यतया उभयांशे प्रामाण्यात् । अन्यथा धर्म्यंशेऽपि प्रामाण्यं न स्यादिति भावः ॥ ५ ॥

का साधन कर रहे हैं, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आ सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—

[यदि आत्म-साधक आगमादि प्रमाण हैं तब तो आत्मा (ईश्वर) में कर्त्तृत्वादि के अभाव के साधक पूर्वोक्त अनुमान के बाधित हो जाने से आत्मा में कर्त्तृत्वादि-प्रतिषेध अप्रामाणिक है। यदि तु इस बाध से कर्त्तृत्वाद्यभाववे-दक अनुमान को बचाने के लिए यह मान लिया जाय कि आगमादि प्रमाण नहीं अपि तु प्रामाणाभास हैं तब तो पक्ष—ईश्वर—के असिद्ध होने से आश्रयासिद्धि नाम का प्रबल हेतु-दोष प्राप्त है ॥ ५ ॥]

यदि आगमादि प्रमाण हैं तब तो उन्हीं प्रमाणों से ईश्वर में जगत्कर्त्तृत्वादि धर्म के सिद्ध हो जाने से कर्त्तृत्वाद्यभाव-साधक पूर्व-पक्ष्युपात्त अनुमान का बाध हो जाता है। आगमादि यदि अप्रमाण हैं तब तो पक्षासिद्धि प्रस्तुत ही है। 'उद्धता' का अर्थ है अनुमानोन्मूलन में उत्कट-कार्य-क्षम ॥ ५ ॥

अत्र चार्वाकाः—योग्यता-विशेषणेन किम् ? यन्न प्रत्यक्षं तन्नास्तीत्य-नुपलब्धि-मात्रमेव बाधकं स्यात्। अनुमान-विलोपश्चेष्ट एव। धूम-दर्शनानन्तरम् वह्न्यर्थ-प्रवृत्तिश्च सम्भावना-मात्रादिति। तत्राह—

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न[1] सन्देहो भावाऽभाव-विनिश्चयात्।
अदृष्टि-बाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥ ६ ॥

योग्यता-विशेषणेनेति—योग्यानुपलब्धिरेव अभावसाधिकेत्यत्र अनु-पलब्धेः विशेषणीभूतेन योग्यतया न किमपि प्रयोजनम्, अतीन्द्रियश्च कश्चन पदार्थः नास्त्येवेति नाऽतिप्रसङ्गः इति भावः। न चैवं धूमात् वह्न्यनुमितिः कथम्, वह्नेरदृष्टत्वेन त्वन्मते तस्याभावादिति तदर्थं जन-प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्, उत्कट-कोटिक-संशयादेव तदर्थ-म्प्रवृत्तेरुपपत्तेः। अत एव परतः-प्रामाण्य-वादिनां मतेऽपि संशयादेव प्रवृत्तिरित्याशयेनाह—धूमदर्शनेति। सम्भावना = उत्कट-कोटिकः संशयः। तथा च अनुपलब्धेरेवेश्वराभाव-सिद्धौ न तदर्थमनुमानापेक्षा येन पूर्वोक्तयुक्त्याऽसिद्ध्यादि-दोषाऽवकाशः स्यादिति भावः चार्वाकाणाम्।

तत्र यदुक्तं चार्वाकैः—धूम-दर्शनानन्तरं वह्न्यर्था प्रवृत्तिः उत्कट-कोटिक-संशयादेवेति नाऽनुमान-प्रामाण्यम् इति, तदयुक्तम्, चार्वाकमते हि उपलब्ध्या भाव-निश्चयः, अनुपलब्ध्या च अभाव-निश्चयः इति संशयोदयाऽसम्भवात्, तथा च धूम-दर्शनानन्तरम्

अब यहाँ चार्वाकों का मत है :—अनुपलब्धि में अभावग्रहण-क्षमता लाने के लिए योग्यतात्मक विशेषण की क्या आवश्यकता है ? जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता वह नहीं है और इस लिए अनुपलब्धि-मात्र ही ईश्वर के अभाव को सिद्ध कर देता है। जहाँ तक अनुमान की उपर्युक्त अनुपपत्तियों का प्रश्न है, हमारे लिए इष्ट ही हैं, क्योंकि अनुमान जब प्रमाण है ही नहीं तब उपपत्ति कैसे हो सकती है ? धूम के दर्शन से वह्नि के लिए जो लोगों की प्रवृत्ति होती है वह तो अनु-मान की प्रामाणिकता के कारण नहीं अपि तु सम्भावना-मात्र से। इस मत के खण्डन के लिए कह रहे हैं :—

[उपर्युक्त सम्भावना-जन्य प्रवृत्ति में सम्भावना (अर्थात् संशय) प्रत्यक्ष पदार्थ के प्रसङ्ग में नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण से उस पदार्थ की सत्ता निश्चित है, और अप्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में भी सम्भावना (संशय) नहीं हो सकती है, क्योंकि अप्रत्यक्ष (अनुपलब्धि) के द्वारा उसका अभाव

१. दृष्टयदृष्टयोः क्व इति पाठः क-पुस्तके।

सम्भावना हि सन्देहः, स च दृष्टौ नास्ति, तस्य निश्चयात्; अदृष्टौ च नाऽस्ति, अनुपलब्धौ तदभावस्यैव निर्णयात्। एवमदृष्ट्या = अनुपलब्ध्या, हेतौ = प्रत्यक्ष-कारणे चक्षुरादौ, बाधिते सति प्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यात्। अनुपलब्धिकालेऽपि तस्य सत्त्वे तु व्यभिचारात् न अनुपलब्धिरभावाऽवधारणे हेतुः। एवञ्च गृहान्निर्गतश्चार्वाकः स्व-पुत्र-

वह्व्यर्था प्रवृत्ति सर्व-जनानुभव-सिद्धा नैवोपपद्येतेति प्रतिपादयति—दृष्ट्यदृष्ट्योरि ति पूर्वार्द्धेन। सा चेयमनुपपत्तिः अनुपलब्धि-मात्रस्य अभावावधारकत्वे एव, योग्यानुपलब्धेरभावावधारकत्वमिति मते तु संशयस्य सूपपादतया न प्रवृत्तिविलोप इत्याद्यभिप्रेत्याह—स च दृष्टौ नास्तीत्यादिना। तस्य = तत्सत्त्वस्येत्यर्थः।

अनुपलब्धि-मात्रस्य अभाव-साधकत्वे दोषान्तरमाह—एवमिति। तस्य = चक्षुरादेः। अनुपलब्धिः = अनुपलब्धि-मात्रम्। नाऽऽसादयेदिति—अनुपलम्भ-काले पुत्रादीनामभावस्य निश्चये तदनन्तरमागमनेऽपि तदभाव स्यात्, न चैवम् भवति, आगतस्य पुनरुपलम्भादिति अदर्शन-मात्रं न अभावनिश्चायकम् अपि तु संशायकमेवेत्यर्थः। न हेतुः = न अभावावधारण-हेतुः। तथा च आश्रयासिद्ध्यादि-दोष-

निश्चित है पूर्व-पक्ष के अनुसार। अतः सम्भावना-मूलक प्रवृत्ति के आधार पर अनुमान-बाध मान कर अनुपलब्धि-मात्र को अभाव का निश्चायक मानना अप्रामाणिक है। दूसरी बात यह भी है कि अनुपलब्धि-मात्र से पदार्थ के अभाव का निश्चय मान लेने पर अतीन्द्रिय इन्द्रिय की सत्ता भी बाधित हो जाती है, एवञ्च इस पक्ष में प्रत्यक्ष होना भी कठिन हो जाएगा॥ ६॥]

'सम्भावना' का अर्थ है संशय। यह संशय दृष्ट पदार्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सत्त्व निश्चित है। अदृष्ट पदार्थ में भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुपलब्धि के द्वारा उसके अभाव का निर्णय हो जाता है। इसी प्रकार 'अदृष्ट्या' अर्थात् अनुपलब्धि मात्र से 'हेतौ' अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणभूत चक्षुरादि के बाधित हो जाने पर प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं बन पाएगा। यदि यह मान लिया जाय कि अनुपलब्धि होने पर भी चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं तब तो स्पष्ट है कि अभाव के अवधारण में अनुपलब्धि व्यभिचरित है और इसी लिए उसे अभाव का ग्राहक नहीं माना जा सकता। और भी, अनुपलब्धि-मात्र को अभाव-ग्राहक मानने पर घर से बाहर गए हुए चार्वाक को अपने पुत्र तथा स्त्री आदि के अप्रत्यक्ष के कारण उन सब का अभाव मान कर रोने लग

दाराद्यभावमवधार्य विक्रोशेत्, परावृत्तोऽपि कुटुम्बं नाऽऽसादयेत्। तदा तेषां सत्त्वे च अनुपलब्धिर्व्यभिचारिणी न हेतुः स्यादिति ॥ ६ ॥

ननु यद्यनुपलम्भ-मात्रमभावसाधकं न तदा अयोग्योपाधि-शङ्कया धूमादावपि व्यभिचार-शङ्कया न व्याप्ति-निश्चयः स्यादिति गतमनुमानेन? इत्यत्राह—

प्रसङ्गात् अनुमानेन, अतिप्रसङ्गाच्च अनुपलब्धिमात्रेण ईश्वराभावो न साधयितुं शक्यः, भावश्च साधयितुं शक्य इति ईश्वर-सिद्धिर्निराबाधेति सिद्धम् ॥६॥

अनुपलब्धिमात्रस्याभावानवधारकत्वे अनुपपत्तिं शङ्कते--नन्विति। अयमाशयः—यदि योग्यानुपलब्धिरेवाभाव-साधिका अयोग्यस्याऽनुपलब्धिस्तु न तथा, तर्हि उपाधि-विषयेऽपि इत्थमेव वक्तव्यं स्यात्--योग्यस्य उपाधेः अनुपलब्ध्या अभाव-निर्णयः अयोग्यस्य उपाधेरनुपलब्धौ सत्यामपि न अभाव-निर्णयः-इति। एवञ्च वह्नि-धूमयोर्व्याप्तावपि कस्यचन अतीन्द्रियस्य उपाधेः शङ्कया व्याप्ति-निश्चयाऽभावेन नानुमान-प्रवृत्तिरिति क्रमेण अनुमान-मात्रोच्छेद-प्रसङ्गे क्व ईश्वरानुमितिरिति अगत्या अनुपलब्धि-मात्रस्यैव अभावाऽवधारकत्वमभ्युपेयमिति अनुपलब्धः ईश्वरः नैव सिद्ध्यतीति।

जाना चाहिए तथा लौटने पर भी उन सब की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए। यदि तु इस प्रसङ्ग में अनुपलब्धि होने पर भी वह उन सब का अभाव नहीं मानता है तब तो अभाव-ग्रहण में व्यभिचरित अनुपलब्धि अभाव-निश्चय का कारण नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

पुनः पूर्व-पक्ष है:—यदि अनुपलब्धि-मात्र को अभाव का निर्णायक न माना जाय तब वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति में भी किसी अतीन्द्रिय उपाधि की शङ्का हो सकती है, क्योंकि केवल उस उपाधि की अनुपलब्धि से ही तो उस उपाधि के अभाव का निर्णय होगा नहीं। एवञ्च शङ्कित अतीन्द्रिय उपाधि से व्यभिचार की भी शङ्का हो जाएगी, फलतः व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाएगा। इस प्रकार व्याप्ति के अनिश्चय में अनुमान किस युक्ति से प्रतिष्ठित हो सकता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं:—

शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघाताऽवधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ ७ ॥

तद्देशस्थ-तत्कालस्थयोः व्यभिचाराभाव-निश्चयात् कालान्तरस्थ-देशान्तरस्थयोः व्यभिचार-शङ्का स्यात् । कालान्तरस्थ-देशान्तरस्थ-ज्ञानं च अनुमानादेवेति सिद्धमनुमानम् । शङ्का न चेत् ततः शङ्का-विरहे, तराम् = सुतराम्, अनुमानम् ।

उत्तर-पक्षाऽऽशयस्तु--वयम् अयोग्यानुपलब्धिम् अभाव- निश्चायकं न मन्यामहे इति कृत्वा तस्याः भाव-निश्चायकत्वमभिमतम् इति न मन्तव्यम् श्रीमद्भिः । अयोग्यानुपलब्ध्या भावाऽभाव-विषयकः संशयः सञ्जायते इत्येवास्माकं मतम् । तत्र एक-तरपक्षावधारक-प्रमाणाऽवधारणेन एकतर-पक्ष-निश्चयो भवति । तथा च अयोग्यस्य उपाधेः अभावावधारणं न अनुपलब्ध्या अपि तु तर्केणैवेति न कश्चन दोषः । ईश्वरेऽपि ईदृश्येव गतिरिति न तत्राप्यनुपपत्तिः इति । सुतरा-मिति—शङ्काऽभावेन तन्निरास - प्रयासस्याप्यनपेक्षणादिति भावः ।

[यदि व्यभिचार-शङ्का है तो वह कालान्तरीय धूमादि के विषय में ही हो सकती है और यतः कालान्तरीय धूमादि का ज्ञान अनुमानाधीन है अतः अनु-मान के माने विना व्यभिचार-शङ्का की भी उपपत्ति नहीं होगी । यदि व्यभिचार-शङ्का नहीं होती है तब तो अनुमान और भी सुव्यवस्थित हो जाता है । व्यभि-चार-शङ्का की निवृत्ति भी तर्क से हो जाती है और तर्क के मूल में जो व्याप्ति रहती है उस व्याप्ति में भी व्यभिचार-शङ्का नहीं होती है, क्योंकि ऐसा करने पर स्व-क्रिया-व्याघात आ पड़ता है । अतः शङ्का की अवधि (अर्थात् प्रतिबन्धक) है व्याघात ॥ ७ ॥]

वर्त्तमान काल तथा प्रकृत-देश में स्थित धूम तथा वह्नि की व्याप्ति में व्यभिचार-शङ्का की अनुत्पत्ति से यही कहा जा सकता है कि कालन्तरीय तथा देशान्तरीय धूमादि की व्याप्ति में व्यभिचार-शङ्का होती है । परन्तु कालान्तरीय तथा देशान्तरीय धूमादि का परिज्ञान तो अनुमान के विना हो नहीं सकता । अतः व्यभिचार-शङ्का से ही अनुमान प्रतिष्ठित हो जाता है । यदि तु व्यभिचार-शङ्का ही नहीं उठती तब तो व्यभिचार-शङ्काऽभाव में अनुमान 'तराम्' अर्थात् सुतराम् व्यवस्थित हो जाता है ।

ननु किं शङ्का-निवर्त्तकम् ? तत्राह—तर्कः शङ्काऽवधिर्मतः। विपक्ष-बाधक-तर्काच्छङ्का-विरहो मतः = सम्मत इत्यर्थः।

ननु तर्कस्याऽपि व्याप्ति-मूलकत्वे अनवस्था ? इत्यत्राह—व्याघातेत्यादि। तर्क-मूल-व्याप्तौ न शङ्का, व्याघातात्। क्लृप्त-कारणं विना

अनुमानमभ्युपगम्यैव कथमियं व्यभिचारशङ्का निवर्त्तनीयेति तत्त्व-बुभुत्सया प्रश्न—ननु इति। शङ्काऽवधिरिति—शङ्काया अवधिः= अन्तः इत्यर्थः। तावदेव अवकाशः शङ्कायाः यावत् तन्निवर्तकेण तर्केण न आगतम्, आगतस्तु तर्कः तां समूल-घातमुपहन्तीति भावः। तदेतदर्थतः सङ्गृह्णाति वृत्तिकृत्—विपक्षेति। विपक्षे = व्यभिचार-ग्रहे बाधकात्तर्कादित्यर्थः। तदिदं मूलम् आर्थ-क्रमानुरोधेन तृतीय-पादात् पूर्वमेव व्याख्यातम्।

ननु तर्कोऽपि व्याप्ति-मूलक एव शङ्का-निवर्तकः। एवञ्च अनुमान-कारणीभूत-व्याप्ति-व्यभिचार-शङ्का-निवर्तक-तर्क-मूली-भूत - व्याप्तावपि बाधकाऽभावेन व्यभिचार-शङ्कोदयः, तन्निवृत्यर्थं तर्कान्तराऽपेक्षेत्यादि-क्रमेण अनवस्थायां प्रसक्तायाम् पुनरपि अनुमानं दत्त-जलाऽञ्जलि स्यादित्याशङ्कते—नन्विति। व्याघातेति। अयमाशयः—किमियं शङ्का अर्थ-क्रियाऽर्थिनः लोकस्य, हेतु-फल-भावानुविधायिनः परीक्षकस्य वा? आद्ये तावदेव शङ्कोदयः यावत् स्व-क्रिया-व्याघातो लोकस्य न भवति, न तु क्रिया-व्याघातायैव शङ्कोदेति। तथा च द्वि-त्र-स्थाने एव शङ्कायाः पर्यवसानान्नानुमान-प्रामाण्य-विघातः। द्वितीये तु शङ्कैव न स्यात् तर्क-मूल-भूत-व्याप्तौ, शङ्का-प्रयोजकस्य कारणस्य तत्राऽभावात्, कारणमन्तरा च कार्यानुत्पादात्। साधक-

अब प्रश्न हैः—व्यभिचार-शङ्का की निवृत्ति किससे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैः—"तर्कः शङ्कावधिर्मतः" इस वाक्य से। विपक्ष में हेतु की सत्ता के बाधक 'तर्क' से व्यभिचार-शङ्का की 'विरहः' अर्थात् निवृत्ति होती है—यही इस वाक्य का तात्पर्य है।

पुनः प्रश्न हैः—तर्क के मूल में भी एक व्याप्ति काम करती है। उस व्याप्ति में व्यभिचार-शङ्का की निवृत्ति के लिए दूसरा तर्क चाहिए। पुनः इस दूसरे तर्क के मूल में वर्त्तमान व्याप्ति में हुई व्यभिचार-शङ्का की निवृत्ति के लिए तीसरा तर्क करना पड़ेगा—इस प्रकार से व्यभिचार-शङ्का तथा तर्क की अनवस्था हो जाती है। इसका उत्तर दे रहे हैः—'व्याघातावधिः' इत्यादि वाक्य

कार्योत्पत्ति-शङ्कायां तृप्त्यर्थं भोजनादौ पर-प्रतिपत्त्यर्थं च शब्द-प्रयोगादौ न प्रवर्त्तेतेति। एवञ्च तर्कानवतारे शङ्कितोपाधिरेव अप्रयोजकः इत्युच्यते। तदुक्तम्—

"यावच्चाऽव्यतिरेकित्वम् शतांशेनाऽपि शङ्कयते।
विपक्षस्य कुतः तावद्धेतोर्गमनिका-बलम् ॥"

विपक्षस्य = विपक्षे, हेतोः अव्यतिरेकित्वम् = सत्त्वम्, यावच्छङ्कयते

बाधक-मानाऽभावे हि सति साधारण-धर्मादि-दर्शनात् शङ्काऽवतारः इति स्थितिः, तत्र तर्क-मूल-भूत-व्याप्ति-ग्रहे प्रवृत्ति-प्रयोजकाद्यन्वयाऽनुविधान-ज्ञानस्य बाधकस्य विद्यमानत्वेन प्रतिबन्धकाऽभाव-रूप-कारण-विरहात् शङ्काऽनुत्पत्तेः। सत्यपि प्रतिबन्धके शङ्कावतारे तु लोक-व्यवहार-मात्र-विलोपापत्तिः प्रमाण-मात्रोच्छेद-प्रसङ्गात्; तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य आह—तर्क-मूलेत्यादि। अत्र कोटि-द्वय-स्मरणाभावादेव शङ्काऽनुत्पत्तौ न तन्निवर्तक-तर्कान्तराऽपेक्षेत्यपि बोध्यम्। अप्रयोजकः=प्रतिबन्धकः,अत्र अनुमाने इति पूरणीयम्, अत एव अस्य तर्कानवतारे इत्यत्र नान्वय-भ्रमः कार्यः। गमनिका-बलम् = अनुमापकता। शतांशेन इत्यनेन अनुत्कट-कोटिकस्यापि संशयस्य अनुमितिप्रतिबन्धकत्वमुक्तं भवति। कारिकां भट्टपादोक्तां व्याचष्टे वृत्ति-कृत्—विपक्षस्येत्यादिना। ननु "यावच्चाव्यतिरेकित्वम्" इत्या-

से। तर्क के मूल में वर्त्तमान व्याप्ति में व्यभिचार-शङ्का नहीं हो सकती है, क्योंकि वैसा मानने पर व्याघात, अर्थात् कारण के विना कार्य की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में भी शङ्का करने पर तो शङ्का करने वाले व्यक्ति की तृप्ति के लिए भोजन में और दूसरे को अपना अभिप्राय समझाने के लिए शब्द-प्रयोग में प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी। अतः व्यभिचार-शङ्का-निवर्त्तक तर्क के अभाव में ही शङ्कित उपाधि व्यभिचार-शङ्कोद्भावन के द्वारा व्याप्ति-ग्रह का प्रतिबन्धक, अत एव अप्रयोजक, कहलाती है। यही बात कुमारिल भट्ट के द्वारा कही गई है:—

"जब तक विपक्ष में हेतु की वृत्तिता का अत्यल्प भी सन्देह बना रहता है तब तक हेतु में अनुमापकता-शक्ति कहाँ से आ सकती है?"

इस भट्ट-कारिका में प्रयुक्त 'विपक्षस्य' का अर्थ है विपक्ष में, हेतु की 'अव्यतिरेकित्वम्' अर्थात् सत्ता, जब तक सन्दिग्ध रहती है तब तक हेतु में

तावत् हेतोः न गमकत्वम् इति भावः। व्यभिचार-शङ्का च उपाधि-शङ्काऽधीना। तदुक्तम्—

"अन्ये पर-प्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशाऽवधारणा॥"

अन्ये = केचन हेतवः, पर-प्रयुक्तानां व्याप्तीनाम् उपजीवकाः = आश्रयाः। तथा हि उपाध्यवच्छिन्न-हेतु-निष्ठा व्याप्तिः हेतुताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्न-हेतु-वृत्तितया ज्ञायते। अत एव उप = समीपवर्त्तिनि स्व-समानाधिकरणे, स्व-धर्मम् व्याप्तिम् आदधाति = बोधयति, इति उपाधि-

दिना व्यभिचारित्वेन शङ्कितस्य हेतोः अननुमापकता उक्तेति व्यभिचार-शङ्कायाः अनुमान-प्रतिबन्धकत्वम् न उपाधि-शङ्कायाः इति कथम् शङ्कितोपाधेरप्रयोजकत्वे तस्याः कारिकायाः अनुग्राहकतेत्यत आह—व्यभिचारेत्यादि। अयमाशयः—न व्यभिचारी इत्यतः उपाधिः अपि तु उपाधिरस्तीति व्यभिचार उच्यते। तथा च उपाधेः व्यभिचार-प्रयोजकत्वेन उपाधेः व्यभिचार-व्याप्यतया यत्र-यत्र उपाधित्वं तत्र तत्र व्यभिचारित्वमिति लभ्यते। व्याप्य-संशयश्च व्यापक-संशयम् प्रति स्वतन्त्रं कारणमिति व्यभिचार-संशय इत्यनेनैव उक्तम्भवति उपाधि-संशय इति। तथा च व्यभिचार-शङ्कायाः अप्रयोजकत्वं प्रति-पादयन्ती यावच्चेत्यादिकारिका उपाधि-शङ्कायाः अप्रयोजकत्वमपि प्रतिपादयत्येवेति न किञ्चिदसमञ्जसम् इति। उक्तार्थे भट्ट-सम्मतिमाह—तदुक्तमिति। परः = उपाधिः, व्यापकांशस्य = साध्यस्य। निश्चयः = अनुमा-

अनुमापकता नहीं हो सकती है—यही तात्पर्य है। व्याप्ति में होनेवाली व्यभिचार-शङ्का का मूल है उपाधि-शङ्का। यही बात कुमारिल भट्ट ने कही है:—

'कुछ ऐसे हेतु हैं जो उपाधि-प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रय होते हैं। परन्तु ऐसे हेतुओं के पक्ष में दर्शन होने पर भी उस (पक्ष) में व्यापक—साध्य—की सिद्धि (अनुमिति) अभीष्ट नहीं है॥''

'अन्ये' अर्थात् कुछ ऐसे भी हेतु होते हैं जो उपाधि-प्रयुक्त व्याप्ति के 'उपजीविकाः' अर्थात् आश्रय होते हैं। तात्पर्य यह है कि उपाधि से अवच्छिन्न हेतु में वर्त्तमान व्याप्ति हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेतु में प्रतिभासित होने लगती है। अत एव 'उप' अर्थात् अपने समीपस्थ स्व-समानाधिकरण हेतु में अपने धर्म—व्याप्ति—का 'आदधाति' अर्थात् बोधन कराती है और इसी लिए यह 'उपाधि'

शब्दः जपा-कुसुमादि-साधारणः। तैः = सोपाधिभिः, दृष्टैः अपि पक्षे व्यापकांशस्य अवधारणा = निश्चयः, नेष्यते, साधारण-धर्मेण संशय-जननात् इत्यर्थः ॥ ७ ॥

न नु उपमानम् ईश्वरे बाधकं स्यात् ?

नम् इत्यर्थः। साधारण-धर्मेणेति। अयमाशयः-–उपाधौ साध्य-व्यापकत्वं स्पष्टमेव। तथा च उपहित-हेतोः साध्य-व्यापकीभूतस्य उपाधेः व्यभिचरितत्वम् निश्चितम्। तादृशश्च हेतुः साध्य-व्यापकीभूतोपाधि-व्यभिचारी सन् तदुपाधि-व्याप्यस्य साध्यस्याऽपि व्यभिचारीति साध्य-तदभावोभय-सहचारित्वेन साधारण-धर्मेण हेतु-निष्ठेन हेतौ साध्य-साधकत्व-सन्देहे पक्षे साध्य-संशय एव, न तन्निश्चयः इति ॥७॥

एतावता प्रबन्धेन प्रत्यक्षानुमानयोः ईश्वराभावसाधनाऽसामर्थ्यम् प्रतिपाद्य सादृश्य-ज्ञान-करणकस्योपमानस्यैव ये पदार्थ-साधकत्वाभिमानिनः तेषाम् ईश्वर-प्रत्यक्षाभावात् प्रतियोग्नुयोगि-निरुपणाधीन-निरुपणीय-सादृश्य-ज्ञानाभावात् तत्करणाभावे उपमितेः अनुपपत्तेः नेश्वरः सिध्यतीति मतं खण्डयितुकामः पूर्वम् पूर्वपक्ष-माह—नन्विति। यथा अनुपलम्भात् शशशृङ्गादेरभावः तथा ईश्वरस्याप्यभाव इत्येवंरूपम् उपमानम् बाधकमित्याह कश्चित्, तदापाततः। "प्रयोगश्च—ईश्वरेति पदं न किञ्चिदर्थ-वाचकम् किञ्चित् सदृशाऽवाचकत्वादिति रूपः" इत्यपि वदन्ति। वस्तुतस्तु वस्तु-स्थिति-वर्णनमात्रमेतत्। अतएव "उपमानन्तु बाधकमना-शङ्नीयम् एव" इत्याचार्याः पातनिकामाहुः।

शब्द जपा-कुसुम आदि के लिए भी समान रूप से प्रयुक्त होता है। 'तैः' अर्थात् सोपाधि हेतुओं के देखे जाने पर भी, पक्ष में व्यापकीभूत साध्य की 'अव-धारणा' अर्थात् निश्चयात्मक प्रमिति, नहीं करनी चाहिए, क्योंकि हेतु-निष्ठ साध्य-तदभावोभय-सहचारित्वात्मक साधारण-धर्म-दर्शन से उस हेतु में साध्यानुमापकत्व के सन्देह होने से पक्ष में साध्य-संशय ही बना रहेगा, साध्य-निश्चय नहीं—यही कुमारिल भट्ट की कारिका का तात्पर्य है ॥ ७ ॥

क्या उपमान ईश्वर की सत्ता का बाधक हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में वैशेपिक-सम्प्रदाय का कथन है कि उपमान का प्रामाण्य अनुमानाधीन है और अनुमान में ईश्वर-बाधकता के असामर्थ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है, अतः उपमान से भी ईश्वर का बाध नहीं हो सकता है।

अत्र उपमानस्य अतिरिक्त-प्रमाणस्य अनभ्युपगमात् न बाधकत्वमिति वैशेषिकादयः। तत्र साहश्यस्य पदार्थान्तरस्य ग्राहकमुपमानमिति केचित्। साहश्यं न द्रव्यम्, गुणः, कर्म वा, गुण-समवेत-

सम्प्रति उपमानं न प्रमाणान्तरम् इति दूरे तस्य बाधकत्वमिति वैशेषिक-मतमाह—अत्रेत्यादिना। अतिरिक्तेति—अनुमानातिरिक्तेत्यर्थः। अनुमानस्य बाधकत्वं च प्रागेव निराकृतमिति न तदन्तः-पातिनः उपमानस्य बाधकत्व-सम्भावनापीति भावः।

अत्रोपमानं पृथक्प्रमाणमिति मीमांसक-दिशा प्रतिपादयति—तत्रेत्यादिना। तत्र = अनुमानानतिरेकित्व-प्रस्तावे इत्यर्थः। अत्राहुः मीमांसा-भाष्य-कारा —"उपमानमपि साहश्यम् असन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवय-दर्शनं गो-स्मरणस्य" इति। अस्य च ग्रन्थस्य न्याय-रत्नाकरानुसारिणी व्याख्या इत्थम्—साहश्यम् = पूर्व-दृष्टार्थ-साहश्य-ज्ञानम्, उपमानम्। तद्धि असन्निकृष्टे = इन्द्रियाऽसन्निकृष्टे पूर्व-दृष्टे स्मर्यमाणार्थे, बुद्धिम् = साहश्य-ज्ञानम् उत्पादयति इति। तथा च एकत्र साहश्य-प्रत्ययात् अन्यत्र असन्निकृष्टे स्मर्यमाणे अर्थे साहश्य-ज्ञानम् उपमितिरिति प्रतिफलति। तत्र प्रथम-सादृश्य-ज्ञानं करणम् उपमितेः, द्वितीय-साहश्य-ज्ञानम् च फलम् उपमितिः। सदृश-वस्तु-स्मरणमेव व्यापारः। तथा हि—नगर-दृष्ट-गो-पिण्डस्य पुरुषस्य वनस्प्रतिपन्नस्य गवयेन चक्षुः-सन्निकर्षे सति "अयम् गो-सदृशः", इति प्रतीतिः भवति। तदनन्तरं च "अनेन सदृशी पूर्व-दृष्टा गौः" इत्याकारकं ज्ञानं भवति इति। एतदेव उपमितिः। अस्य च द्वितीय-सादृश्य-ज्ञानस्य असन्निकृष्ट-विषयतया प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात् अनुमित्यादेश्च अविषयत्वात् तत्करणस्य प्रथम-सादृश्य-ज्ञानस्य पृथक् प्रामाण्यमवश्यमेवाभ्युपेयमिति तेषामाशयः। तत्रोपमानस्य सादृश्य-ज्ञान-फलकस्य प्रमाणान्तरत्वम् सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वाधीनमिति साहश्यस्य पदार्थान्तरत्वमुपपादयति मीमांसकः—सादृश्यम् इत्यादिना। सादृश्यस्य द्रव्य-गुण-कर्म-भिन्नत्वे साधकमाह—गुण-समवेतत्वादिति। द्रव्ये हि गुणः समवेतः, न गुणे

इस प्रसङ्ग में मीमांसकों का कथन है कि स्वतन्त्र सादृश्य-पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान-प्रमाण को भी अनुमान से पृथक् मानना चाहिए। सादृश्य स्वतन्त्र पदार्थ इस लिए माना जाता है कि उसे द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों

त्वात्। न सामान्यम्, सप्रतियोगिकत्वात् सामान्यादि-वृत्तित्वाच्च। नाप्यभावः, सप्रतियोगिकत्वेन अप्रत्ययात्।

तच्च न प्रत्यक्ष-गम्यम्, इन्द्रिय-पात-मात्रेण अप्रतीतेः। नाऽपि

द्रव्यम्, सादृश्यं च गुणेऽपि वृत्ति, 'यथा रूपं गुणः तथा रसोऽपि' इत्यादि-प्रतीतेः, इति वैधर्म्यान्न द्रव्याभिन्नम्; गुणे कर्मणि च गुणाभावः कर्माभावश्च "गुणादीनां निर्गुणत्व-निष्क्रियत्वे" इत्युक्तेः। सादृश्यं च गुण-कर्मणोरपि सत् इति ताभ्याम् पदार्थान्तरमेव, सादृश्यम्। सप्रतियोगिकत्वादिति—निष्प्रतियोगिकं हि सामान्यम्, सादृश्यन्तु प्रतियोग्यनुयोग्युभय-निरूपणाधीन-निरूपणमिति पदार्थान्तरता सादृश्यस्य इति भावः। सादृश्यस्य सामान्य-भिन्नत्वे युक्त्यन्तरमप्याह—सामान्यादीति। सामान्ये हि सामान्यान्तरम् अनवस्थाभिया नाभ्युपगम्यते, सादृश्यञ्च सामान्येऽपि वर्त्तते, अत एव "यथा गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि' इत्यादि-प्रतीतिः। अत एव न विशेष-सामान्ययोरपि तदन्तर्भावः, सामान्ये सादृश्यस्य भावात्, विशेष-समवाययोश्च सामान्ये अभावात्। यद्यपि सामान्ये प्रतियोगिता-सम्बन्धेन समवायो वर्त्तते तथाऽपि अनुयोगिता-सम्बन्धेन नास्त्येव, सादृश्यन्तु अनुयोगितयाऽपि सामान्ये वर्त्तते इति विवेकः। सप्रतियोगिकत्वेति—विलक्षण-प्रतियोगितानिरूपिताऽनुयोगित्वेन नञा प्रतीत्यविषयत्वात् इत्यर्थः। निषेध-मुख-प्रतिपत्त्यविषयत्वादिति तु परमार्थः।

अस्तु सादृश्यम् पदार्थान्तरं तावत्, तद्ग्रहस्तु अभ्युपगत-प्रमाणेनैव स्यादिति नोपमानस्य पृथक्प्रामाण्यमित्याशङ्कामपनेतुम्

में से किसी में अन्तर्भावित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सादृश्य का समवाय गुण में भी है जब कि द्रव्य या गुण या कर्म कोई भी पदार्थ गुण में समवाय-सम्बन्ध से रहता ही नहीं है। इसे सामान्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सादृश्य की प्रतीति सादृश्य-प्रतियोगी तथा सादृश्यानुयोगी इन दोनों की प्रतीति की अपेक्षा रखती है जब कि सामान्य अनुयोगिमात्र-निरूपणाधीन-निरूपण होता है। दूसरी बात यह भी है कि सामान्य में दूसरा सामान्य नहीं रहता है, परन्तु सादृश्य तो सामान्य में भी रहता है। अत एव इसे विशेष या समवाय भी नही कह सकते हैं। इसे अभाव भी नही कहा जा सकता, क्योंकि इसकी प्रतीति निषेध-मुख से नही होती है। अतः सादृश्य वैशेषिकों के सात पदार्थों से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है।

इस सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से नही हो सकता है, क्योंकि इन्द्रिय-

प्रतियोगि-ज्ञान-सहकृतमिन्द्रियम् गृहकमिति वाच्यम्, गो-सदृशो गवय इति ज्ञानानन्तरं सा गौः गवय-सदृशी इत्यसन्निकृष्ट-गो-विषयक-गृहस्य अ-प्रत्यक्षत्वात्। नाऽप्यनुमान-गम्यम्, लिङ्गाऽप्रतिसन्धानेऽपि ज्ञायमानत्वात्। न शब्द-गम्यम्, तस्याऽसार्वत्रिकत्वात् इति। तत्र आह—

उपमानातिरिक्त-प्रमाणेन सादृश्यस्याग्रहणमुपपादयति—तच्चेति। इन्द्रिय-पात-मात्रेति—मात्र-पदेन सम्बन्धि-ज्ञान-सहकृतत्व-व्यवच्छेदः। तदभावे इन्द्रिय-सन्निकर्ष-मात्रेण सादृश्यस्य ग्रहणं नैव भवति, प्रत्यक्षं च इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यमिति सत्यपि प्रत्यक्ष-कारणे सादृश्य-ज्ञानाऽभावात् सादृश्य-ज्ञानस्य करणं प्रत्यक्षं प्रमाणं नेति भावः। ननु सादृश्य-प्रत्यक्षस्य एष एव स्वभावः यत् इदं सम्बन्धि-ज्ञान-सहकृतेन चक्षुरादिना एव गृह्यते इत्यत्राह—नापीति। पूर्वोक्तोपमितिर्हि (मीमांसक-प्रतिपादिता) सम्बन्धिनः गोः इन्द्रियाऽसन्निकृष्टतया अप्रत्यक्षेऽपि जन्यते इति न सम्बन्धि-ग्रहण-सहकृतस्येन्द्रियस्य सादृश्य-ज्ञान-करणत्वमित्याह—इत्यसन्निकृष्टेत्यादिना। असार्वत्रिकत्वादिति—सादृश्य-प्रतीति-स्थले शब्द-प्रयोगस्य अनियतत्वात्, शब्द-प्रयोगमन्तरेणापि सादृश्य-ज्ञानस्य उपपत्तेरानुभविकत्वादिति भावः।

तदेवं सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे, प्रतिपन्न-प्रमाणाऽविषयत्वे च स्वीकृते उपमानस्य मानान्तरत्वं निराबाधमिति मीमांसक-मतं खण्डयितुमुपक्रमते वैशेषिक इत्याह—इत्यत्राहेत्यादि।

सन्निकर्ष होते ही सादृश्य की अनुभूति नही हो पाती है। यह भी कहना ठीक नही है कि सादृश्य-प्रतियोगी के ज्ञान से सहकृत इन्द्रिय के द्वारा इस सादृश्य का प्रत्यय होता है, क्योंकि वन में गवय के देखने के बाद जो गृह-स्थित गो में सादृश्य का ज्ञान होता है—अनेन सदृशी मदीया गौः—वह ज्ञान प्रत्यक्ष नही हो सकता, क्योंकि धर्मी—गो—के साथ असम्बद्ध इन्द्रिय गो-धर्म—सादृश्य—का ग्रहण कैसे कर सकती है? इस सादृश्य-पदार्थ की प्रतीति सर्वत्र अनुमान से भी नहीं हो सकती है, क्योंकि हेतु-ज्ञान के विना भी सादृश्यानुभूति होती है, परन्तु अनुमान की यह दशा नही होती कि हेतु-ज्ञान के विना भी वह प्रतिष्ठित हो सके। शब्द-प्रमाण का क्षेत्र तो सङ्कुचित है, अर्थात् सादृश्यानुभूति-स्थल में नियमतः शब्द-प्रयोग नही होता है, अतः शब्द-प्रमाण से भी सादृश्य की प्रतीति सर्वत्र नही हो सकती है।

मीमांसकों के उपर्युक्त मत के खण्डन के लिए वैशेषिक दार्शनिक कह रहे हैं:—

परस्पर-विरोधे हि न प्रकारान्तर-स्थितिः ।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्ति-मात्र-विरोधतः ॥ ८ ॥

न प्रकारान्तर-स्थितिः=न नोभयात्मकत्वम्, हि=यतः, परस्पर-विरोधात् । नैकताऽपि=न भावाऽभावात्मकत्वमपि । विरुद्धानामिति हेतु-गर्भं विशेषणम्, परस्पर-विरोधि-रूपत्वात् । विरोधमेव प्रतिपादयति--उक्ति-मात्र-विरोधतः इति । नाऽभावः इत्युक्ते च भावत्व-

नोभयात्मकत्वमित्यत्र सुप्सुपेति समास, तदाह—अनुभयात्मकत्वम् इति। भावात्मकत्वाभावात्मकत्वोभयाभ्याम् भिन्नत्वम् तृतीय-प्रकारकत्वम् अर्थः, स च न सम्भवति इति भावः। परस्पर-विरोधादिति हेतुः। अस्यार्थश्च विरोधमेव प्रतिपादयति इत्यादिना स्वयमेव दर्शयिष्यति। विरोधः च परस्पराऽभावरूपः अत्र विवक्षितः। परस्वर-विरोधि रूपत्वात्

[भाव-पदार्थ तथा अभाव-पदार्थ के परस्पर-विरुद्ध-स्वभाव होने से यही स्पष्ट है कि यदि कोई पदार्थ अभावात्मक नही है तो परिशेषात् भावात्मक (भाव-पदार्थ-षट्कान्तर्गत) ही होगा अथवा यदि भावात्मक नही है तो परिशेषात् अभावात्मक होगा । इन दोनों से भिन्न तो पदार्थ का कोई स्वरूप हो ही नही सकता है । और परस्पर-विरुद्ध-स्वभाव होने के कारण उभयात्मक भी नही हो सकता है, क्योंकि भाव तथा अभाव का विरोध तो शब्द से भी स्फुट है। अतः सादृश्य भी उभयात्मक नही हो सकता है । अन्ततः किसी एक वर्ग में ही उसका समावेश हो जा सकता है । अतः वह स्वतन्त्र-पदार्थ नही है जिसके ग्रहण के लिए उपमान को स्वतन्त्र-प्रमाण माना जाय ॥ ८ ॥]

'न प्रकारान्तर-स्थितिः' अर्थात् भावात्मकत्व एवम् अभावात्मकत्व से भिन्न कोई तीसरा स्वरूप हो नहीं सकता है, क्योंकि एक का विरोधी पक्ष दूसरा ही हो सकता है, उससे भिन्न कोई पदार्थान्तर नहीं । 'नैकतापि' अर्थात् भावाऽभावात्मकत्व भी, किसी पदार्थ में नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों परस्पर-विरुद्ध तत्त्व एक में समन्वित नहीं हो सकते हैं । मूल में 'विरुद्धानाम्' यह जो पदार्थों का विशेषण लगाया गया है वह हेतु-गर्भ है । अत एव उभयात्मकता के निराकरण में यह हेतु बतलाया गया है । इसी विरोध का प्रतिपादन कर रहे हैं—"उक्ति-मात्र-विरोधतः" इस वाक्य से । यदि किसी के प्रसङ्ग में यह कह दिया जाता है कि यह पदार्थ अभावात्मक नहीं है तो यह सिद्ध हो जाता है कि वह भावात्मक है और ऐसी दशा में उसकी अभावात्मकता कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार जब किसी पदार्थ के विषय में ऐसा कह दिया जाय कि वह भावात्मक नहीं है

प्रतीतेः कथमभावता, न भाव इत्युक्ते च अभावत्व-प्रतीतेः न भावत्वम् ।

अयमभिप्रायः--साद‍ृश्यं हि भावोऽभावो वा, उभय-कोटि-व्यतिरिक्तस्य अप्रसिद्धेः । अभावत्वे सप्तम-पदार्थत्वम् । भावत्वे च गुणवत्त्वे द्रव्यत्वम्, निर्गुणत्वे सामान्यवत्त्वे च गुणाऽन्यत्वे कर्मत्वम्, तदन्यत्वे गुणत्वम्, निर्गुण-निस्सामान्य-भावत्वे असमवेतत्वे च समवायत्वम्, समवेतत्वे च

इति—प्रतिषेध-विध्योरेकत्र असम्भवादिति तात्पर्यम् ।

साद‍ृश्यं यथा-यथं द्रव्यादिष्वेवान्तर्भावयितुमाह—अयमभिप्रायः इति । अभावत्वे = अभावात्मकत्वे, सप्तम-पदार्थत्वम् = अभाव-पदार्थान्तर्गतत्वम् , इति न पृथक्पदार्थता साद‍ृश्यस्य यद्ग्रहणाय उपमानमास्थेयम् प्रमाणान्तरमिति भावः । गुणान्यत्वे इति गुण-व्यावृत्त्यै, स्वस्य स्वाऽन्यत्वाऽसम्भवात् । तदन्यत्वे = (निर्गुणत्वे सामान्यवत्त्वे सति) गुणान्यत्ववत्कर्म-भिन्नत्वे । समवाये समवायान्तरस्य अनवस्थाभयादस्वीकारेण समवायस्य असमवेतत्वम् , जाति-वृत्तिता-नियामकस्य समवायाख्य-सम्बन्धस्य समवाये अभावे निर्णीते च सति निस्सामान्यवत्त्वञ्चेत्यभिप्रेत्याह—निर्गुणेत्यादि । असमवेतत्वे इति सामान्य-विशेषयोर्व्यावृत्त्यर्थम् । पदार्थाः इति—स्वतन्त्र-पदार्थाः इत्यर्थः । संख्यादय इत्यत्र आदिना पृथक्त्वस्य परिग्रहः । शक्तेः पदार्थान्तरत्वं तु निराकृतमेव । संख्यादीनां पदार्थान्तरत्वं तु गुणा-

तो उसकी अभावात्मकता स्पष्ट हो जाती है और तब उसकी भावात्मकता कैसे मानी जा सकती है ? अतः साद‍ृश्य भाव अथवा अभाव इन दोनों प्रकार से भिन्न पदार्थ नहीं है ।

अभिप्राय यह है—साद‍ृश्य पदार्थ या तो भावरूप होसकता है या अभावरूप, क्योंकि इन दो रूपोंसे भिन्न कोई तीसरा स्वरूप तो प्रसिद्ध है नहीं । एवञ्च यदि यह अभाव-रूप है तो सप्तम-पदार्थ—अभाव—के ही अन्तर्गत है । अतः अभाव-ग्राहक-प्रमाण से ही साद‍ृश्य का ग्रहण हो जायगा । यदि यह भाव-रूप पदार्थ है और गुणवान् भी है तब तो यह द्रव्य के अन्तर्गत आ जाता है; यदि भाव-रूप होने पर भी गुण-शून्य, सामान्य-युक्त तथा गुण-भिन्न है तब कर्म-पदार्थ के अन्तर्गत ही है; यदि भावात्मक, गुण-शून्य, सामान्य-युक्त तथा कर्म-भिन्न पदार्थ है तब यह गुण के अन्तर्गत आ जाता है; अथ चेत् यह भावात्मक, गुण-शून्य तथा समवेतत्व-शून्य पदार्थ है तब इसे समवाय कहा जा सकता है; यदि भावात्मक, समवाय-सम्बन्ध से वर्त्तमान तथा अनेक-व्यक्ति-निष्ठ पदार्थ है तो यह

अनेकाश्रितत्वे सामान्यत्वम्, एकाश्रितत्वे विशेषत्वम्। एवम् शक्ति-संख्यादयोऽपि पदार्थाः निराकार्याः ॥ ८॥

ननु भवतु सादृश्यं समान-धर्म एव, तद्ग्राहकमेव उपमानं माना-न्तरम् स्यादित्यत्राह—

न्तर्भावादेव निराकृतम्। रूपं सप्त-विधम्, रूपं रसात् पृथगित्यादौ संख्यायाः पृथक्त्वस्य प्रतीतावपि तयोः बुद्धि-विशेष-विषयत्वमेवेति न पदार्थान्तरत्व-प्रसिद्धिरिति भावः। तथा च सादृश्यं न पदार्थान्तरम् अपि तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गत-भूयो-धर्मवत्त्वमेव। समानो धर्म इति तु परमार्थः। स च धर्मः जात्यादिरेव। तद्गत-भूयो-धर्मवत्त्वं च तन्निरूप्यमिति सादृश्यस्य सप्रतियोगिकत्वम्। अत एव प्रति-योगि-ज्ञानाधीन-ज्ञान-विषयत्वमपि इति प्रतियोगिज्ञानाभाववतः चक्षुः-पात-मात्रेणैव न सादृश्य-ज्ञानम्। सति तु प्रतियोगि-ज्ञाने चक्षुरादिनैव सादृश्यज्ञानमिति नोपमानस्य प्रमाणान्तरत्वमावश्यक-मिति भावः॥ ८॥

यद्यपि साधारणतः सादृश्यम् प्रत्यक्षादि-परिज्ञेयम् तथाऽपि गो-सदृशो गवय इति जानतः वनं गतस्य गो-सदृश-पिण्ड-प्रत्यक्षानन्तरम् तत्प्रतियोगिक - गोनिष्ठ - सादृश्य - ज्ञानम् न प्रत्यक्षादिपरिच्छेद्यम्, सादृश्याश्रयस्य गो-पदार्थस्य अप्रत्यक्षतया तन्निष्ठ-सादृश्यस्य अप्रत्य-क्षत्वात्। तथा च अप्रत्यक्षानुयोगिक-सादृश्य-ज्ञानार्थमुपमानस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपेयमेवेति जरन्मीमांसकमतमाह—ननु इत्यादिना।

सामान्य होगा; यदि भावत्व, समवेतत्व तथा एकाश्रितत्व से युक्त है तो हम इसे विशेष-पदार्थ के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। अतः सात पदार्थों से पृथक् पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार से शक्ति तथा संख्या आदि का पदार्थान्तरत्व भी निराकरण-योग्य है। अतः सादृश्य-ग्राहक उपमान प्रमाणान्तर नहीं हो सकता॥ ८॥

पुनः मीमांसकों का कथन है :—अस्तु, सादृश्य को समान-धर्म ही मान लिया गया। फिर भी वन में गवय-दर्शन के बाद होनेवाली अप्रत्यक्ष-गवानुयोगिक-सादृश्य की प्रतीति के ग्रहण के लिए उपमान का प्रमाणान्तरत्व अवश्य ही मानना चाहिए। इसके उत्तर में वैशेषिकाचार्यों का कथन है :—

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तम् इति चेत् ? प्रकृतं न किम् ॥ ९ ॥

अयं गो-विसदृश इति ज्ञानाऽनन्तरं गौरेतद्विसदृशी इति धीः प्रमाणान्तरादेवाऽस्तु । अथ एतस्य तद्वैधर्म्यं तस्मिन् एतद्वैधर्म्यं विना अनुपपन्नम् इति अर्थापत्तिरेवेति ? गो-सादृश्यं गवयस्य गोः गवय-सादृश्यं विनाऽनुपपन्नमिति अर्थापत्तिरेवेति न मानान्तरं

यद्यसन्निहित-गो-निष्ठं सादृश्यं ज्ञातुमुपमानस्य प्रमाणान्तरस्य अपेक्षा, तर्हि असन्निहित-गो-निष्ठं घोटकादि-वैधर्म्यमपि ज्ञापयत् घोटकादि-निष्ठ-वैधर्म्य-ज्ञानमपि सन्निहित-गवय-निष्ठ-सादृश्य-ज्ञानमिव प्रमाणान्तरमास्थेयमिति प्रतिवन्दि-मुखेन मीमांसक-मतं खण्डयति वैशेषिकः, तदाह—अयम् इत्यादि । गो-सादृश्यम् = गो-प्रतियोगिकं सादृश्यम्। गवयस्येति—अनुयोगित्वं षष्ठ्यर्थः । तथा च गवयाऽनुयोगिकं सादृश्यमित्यर्थः । गोः इत्यत्र अनुयोगित्वं षष्ठ्यर्थः । तथा च गोनिष्ठम् इत्यर्थः । गवय-सादृश्यमित्यत्र गवयोत्तर-षष्ठी-विभक्तेः प्रतियोगित्वमर्थः । अन्यत् स्पष्टम् । एवञ्च स्वीक्रियताम् वा वैधर्म्य-ज्ञानस्यापि मानान्तरत्वम् प्रतिषिध्यताम्वा उपमानस्यापि मानान्तरत्वमिति उभयथाऽपि मीमांसकानां स्व-सिद्धान्त-व्याकोपो दुरुद्धरः । यद्यपि अर्थापत्तिरपि नास्मन्मते मानान्तरम् तथाऽपि उपमानं न मानान्तर-

[यदि इस प्रकार से साधर्म्य (समान-धर्म) को पृथक् प्रमाण माना जाय तब वैधर्म्य (विरुद्ध-धर्म) को भी पृथक् प्रमाण मानना चाहिए । यदि वैधर्म्य अर्थापत्ति-प्रमाण से गतार्थ हो जाता है ऐसा मीमांसक कहें तब फिर साधर्म्य को भी अर्थापत्ति के अन्तर्गत मानने में बाधा क्या है ? अतः उपमान का प्रमाणान्तरत्व अनुपपन्न ही है ॥ ९ ॥]

यदि "अनेन सदृशी मदीया गौः" यह प्रतीति साधर्म्यात्मक प्रमाणान्तर से होती है—ऐसा मानते हैं तब यह भी मानिए कि "अयं गो-विसदृशः" इस ज्ञान के बाद "मदीया गौः एतद्विसदृशी" इस अप्रत्यक्ष-गो-निष्ठ-वैधर्म्य का ज्ञान भी वैधर्म्यात्मक प्रमाण से ही होता है । अतः छः प्रमाण नहीं अपि तु सात प्रमाण मानने की विषम-स्थिति मीमांसकों के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है । यदि यह कहा जाय कि गवयादि पदार्थ में गो का वैधर्म्य गो में गवयादि के वैधर्म्य के बिना अनुपपन्न है इस लिए वैधर्म्य-ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणाधीन है तब यह भी कहा जा सकता है कि गवय में गो का सादृश्य गो में गवय के सादृश्य के

सादृश्य-ग्राहकं मन्तव्यमिति ॥ ९ ॥

वैशेषिकादिभिरुपमाने दूषिते नैयायिकः प्राह—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् उपमान-फलं विदुः ॥ १० ॥

मित्यत्रैव तात्पर्यमिति बोध्यम् ।

इदमत्र बोध्यम्—स्मर्यमाणायां गवि गवय-सादृश्य-ज्ञानं प्रत्यक्ष-मेव । न ह्यन्यत् गवि-सादृश्यम्, अन्यच्च गवये । भूयोऽवयव-सामान्य-योगो हि जात्यन्तरवर्त्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्य-योगश्च एक एवेति स यदि गवये प्रत्यक्षः तर्हि गव्यपि प्रत्यक्ष एवेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यद्ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपमानमभ्यु-पगम्येत । सादृश्य-ज्ञाने प्रतियोगि-ज्ञानं सहकारि इति तूक्तमिति नोपमानं प्रमाणान्तरमिति। तथा च उपमानस्य प्रमाणत्वाभावात् नेश्वरे बाधकत्वमिति वैशेषिकाशयः ॥ ९ ॥

नैयायिकास्तु उपमानं प्रमाणान्तरं नेति न। कथं तर्हि उपमानेन ईश्वर-बाधो नेति चेत्? नियत-विषयत्वादेव उपमानस्येत्याहुः । तदाह—वैशेषिकादिभिरिति । उपमानस्य नियत-विषयत्वं च प्रकृत-कारिकायामेव व्यक्तीभविष्यति । अध्याहार्यमिति—कर्मीभूतस्य फलम् इत्यस्य प्रथमान्तत्वे विदुः इत्यत्र कर्त्तृ-प्रत्ययानुपपत्तिः, द्वितीयान्तत्वे च परिच्छेद इत्येनन सामानाधिकरणम् अपेक्षितं नोपपद्यते इति हेतोः उपमानफलम् इत्यस्य प्रथमान्तत्वम् आस्थेयम् । तदुत्तरं च इति पदाध्याहारेण तस्य कर्मत्वम् व्यवस्थापनीयम्, तेन च कर्मणः अभिधानात् कर्मीभूतात् फल-शब्दात् प्रथमैव, कर्मणि द्वितीयेति-सूत्रे

बिना अनुपपन्न है इस लिए सादृश्य-ज्ञान को भी अर्थापत्ति-प्रमाण के अन्तर्गत ही मान लें फिर उपमान को प्रमाण मानने की आवश्यकता तो कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥

उपर्युक्त रीति से वैशेषिकों के द्वारा उपमान की प्रमाणान्तरता के निरस्त हो जाने पर नैयायिक लोग उपमान को पृथक् प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं:—

[प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असाध्य संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-प्रतिपादन को ही न्याया-चार्य उपमान प्रमाण का फल और इस फल के उपपादन के लिए उपमान को पृथक् प्रमाण मानते हैं ॥ १० ॥]

फलमित्यनन्तरम् 'इति' इत्यध्याहार्यम्। संज्ञायाः = गवयादि-संज्ञायाः, संज्ञिना = गवयत्वादि-विशिष्टेन सह, सम्बन्धस्य = शक्तेः, परिच्छेदः = निश्चयः, उपमानस्य मानान्तरस्य, फलम् उपमितिः, प्रत्य-

अनभिहिताधिकारादिति भावः। परे त्वाहुः—फलमिति द्वितीयान्तमेव, किन्तत् इति शुद्ध-प्रातिपदिकार्थाकाङ्क्षायाम् परिच्छेद इत्यन्वेति। वाक्यार्थ एव वा कर्मेति नेति-पदाध्याहार आवश्यकः इति।

परिच्छेद इति। अयमाशयः—तस्य पुरुषस्य संज्ञायाः गवय-शब्दस्य श्रावण-प्रत्यक्षादेव ज्ञानं पूर्वं जातम्, गोसादृश्यस्य च गवय-निष्ठस्य गवय-सादृश्यस्य च गो-निष्ठस्य एकतया प्रत्यक्षेणैव ज्ञानम्, धर्मिणोपि प्रत्यक्षम् एव वनादौ इति नैतेषां त्रयाणाम् एकस्याऽपि ज्ञानस्य कृते प्रमाणान्तराऽपेक्षा, परन्तु संज्ञायाः गवय-पदस्य संज्ञिनश्च गवयाख्य-पदार्थस्य यः प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भावः सम्बन्धः शक्ति-पद-वाच्यः स न प्रत्यक्षेण गृह्यते, अतिदेश-वाक्यम्—गो-सदृशो गवयः—इति - स्वरूपम् अजानतः अपि पुरुषस्य शक्ति-ज्ञान-प्रसङ्गात्। न चैतद्भवति इति त्वनुभव-सिद्धम्। तथा च शक्ति-ज्ञानम् अतिदेशवाक्य-श्रवण-प्रयुक्तम्, न च प्रत्यक्षमतिदेश-वाक्यश्रवणमपेक्षते इति शक्ति-ज्ञान-प्रत्यक्षयोः वैधर्म्यात् न प्रत्यक्षेण शक्ति-परिच्छेदः। नाऽपि अतिदेश-वाक्यार्थ-ज्ञान-मात्र-जन्यं शक्ति-ज्ञानम्, तथा सति अनुपलब्ध-गवय-पिण्डस्यापि अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरण-मात्रेणैव अयमसौ गवय-शब्द-वाच्यः इति ज्ञानं स्यात्, न चैतदानुभविकम्। अत एवातिदेश-वाक्य-प्रत्यक्षयोः समाहारस्याऽपि न फलम्, वाक्यार्थ-ज्ञानस्य प्रत्यक्षस्य च एकदाऽसम्भवेन सम्भूय-कार्य-कारित्वाऽयोगात्। अनुमान-शब्द-योस्तु शक्ति-परिच्छेदे सामर्थ्यमेव नेति सादृश्यस्याऽनिमित्तत्वादि-त्यत्र व्याख्यास्यते। तदेवं श्रुताऽतिदेश-वाक्यस्य वनादौ गो-सदृश-पिण्ड-दर्शनेन "अयमसौ गवय-शब्दस्य वाच्यः" इत्याकारकं शक्ति-

इस श्लोक के चतुर्थ चरण में 'फलम्' इसके उत्तर 'इति' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। 'संज्ञायाः' अर्थात् गवय आदि शब्द की, 'संज्ञिना' अर्थात् गवयत्व-विशिष्ट गवय पदार्थ के साथ, वर्त्तमान 'सम्बन्धस्य' अर्थात्' शक्ति का 'परिच्छेदः' अर्थात् निर्णय ही, मानान्तर उपमान का उपमित्यात्मक फल है, क्यों कि 'प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात्' अर्थात् संज्ञा-सज्ञि-सम्बन्ध का निश्चय इन्द्रिय, हेतु

क्षादेरसाध्यत्वात् = इन्द्रिय-लिङ्ग-शब्दानामसामर्थ्यात् ॥ १० ॥

ननु "गो-सदृशो गवय-पद-वाच्यः" इत्यतिदेश-वाक्यादेव शक्ति-धीरस्तु, गवयत्व-विशिष्टो धर्मी गवय-पद-वाच्यः, गोसदृशत्वात् इत्यनुमानाद्वा अस्तु? तत्राह—

सादृश्यस्याऽनिमित्तत्वात् निमित्तस्याऽप्रतीतितः ।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयाऽपि वा ॥ ११ ॥

ज्ञानम् आवेदयत् उपमानम् (गवय-निष्ठ-गो-सादृश्य-ज्ञानम्) पृथक् एव प्रमाणम् इत्याशयेनाऽऽह—इन्द्रिय-लिङ्ग-शब्दानामसामर्थ्यादिति ॥१०॥

पूर्वम् अतिदेश-वाक्यान्न शक्ति-ज्ञानम्, तथा सति अनुपलब्ध-पिण्डस्यापि वाक्यार्थस्मरण-मात्रेण "अयम् असौ गवय-शब्द-वाच्यः" इति ज्ञानमापद्येत इति उक्तम्, तत्राशङ्क्येत—नगरस्थेनैव पुरुषेण अतिदेश-वाक्यात् शक्तिर्गृहीता, वनं गतेन तेन तु गवय-पिण्डमुपलभ्य प्रत्यभिज्ञानमात्रम्—यो गो-सदृशो धर्मी गवय-शब्द-वाच्य-तया मया अतिदेशवाक्यश्रवणानन्तरं ज्ञातः तमनुभवामि इति–क्रियते इति न शक्ति-परिच्छेदायोपमानस्य आवश्यकतेति, तदाह—वाक्यादेव शक्ति-धीरस्तु इति। अनुमानादपि शक्ति-ग्रहमाशङ्कते—गवयत्व-विशिष्टे-त्यादिना। एतच्चानुमानं नाऽऽचार्याशयाभिव्यञ्जकमिति तु अग्रे व्यक्ती-भविष्यति। उत्तरमुपक्रमते—तत्राहेति।

अथवा शब्द इन तीन में से किसी से भी, वन में ज्ञातातिदेश-वाक्यार्थ व्यक्ति के द्वारा प्रत्यक्षीकृत गवय व्यक्ति के प्रसङ्ग में, नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

इस पर वैशेषिकों का कथन है :—"गो-सदृशो गवय-पद-वाच्यः" इस अतिदेश-वाक्य अथवा "गवयत्व-विशिष्ट पदार्थ गवय-शब्द का अर्थ (गवय) है, क्योंकि गवय में गो-सादृश्य है" इस अनुमान से गवय-पद तथा गवयत्व-विशिष्ट गवय-पदार्थ के बीच वर्त्तमान शक्ति का निर्णय हो जाता है। अतः शक्ति-निर्णय के लिए भी उपमान की प्रमाणान्तरता अनावश्यक है। इसके विरुद्ध नैयायिकाचार्य कह रहे हैं :—

[गो-सादृश्य तो गवय-पद का प्रवृत्ति-निमित्त हो नहीं सकता और जो प्रवृत्ति-निमित्त है—गवयत्व—वह शक्ति-ज्ञान के पूर्व ज्ञात ही नहीं है। एवञ्च उपमान के द्वारा शक्ति-ज्ञान से पूर्व अज्ञात गवय-पद-प्रवृत्ति-निमित्त गवयत्व के अतिदेश-वाक्य के द्वारा अप्रतिपादित होने के कारण शब्द-प्रमाण से तो गवयत्व-विशिष्ट में गवय-पद का शक्ति-परिच्छेद हो नहीं सकता और गवयत्व के अज्ञात होने के कारण गवयत्व-विशिष्ट के साथ गो-सादृश्य की व्याप्ति के

समयः = गवयत्वादि-जाति-पुरस्कारेण शक्ति-रूपः सम्बन्धः, स च दुर्ग्रहः, शब्दादनुमानाद्वा न सम्भवति, गवयत्वस्य तेन पुंसा अगृहीतत्वात्। न च सादृश्यमेव प्रवृत्ति-निमित्ततया गृह्यताम्, तस्य गुरुत्वेन

शब्दादनुमानाद्वा शक्तिग्रहाऽभावे हेतुमाह—गवयत्वस्येति। शब्देन = अतिदेश-वाक्येन, गवय-पदस्य गोसदृश-वाचकत्व-ज्ञानं हि सम्भवति, परन्तु गवय-पदस्य गवयत्व-विशिष्टे या शक्तिः नातिदेश-वाक्यं तां ग्राहयितुं समर्थमिति बोध्यम्। अनुमानेनाऽपि न गवयत्व-विशिष्टे गवय-पद-वाच्यता-ग्रहः, उक्तानुमाने हि गवयत्व-विशिष्टो धर्मी पक्षः, स च शक्ति-ज्ञानमन्तरा अज्ञातः सन् कथं पक्षः स्यादिति भावः। शङ्कते—न चेति। अयमाशयः—सादृश्यस्य गवय-शब्द-प्रवृत्ति-निमित्तत्वे स्वीकृते शब्दादेव गो-सदृशो गवयः इत्याकारकात् संज्ञायाः गवय-पदस्य संज्ञिनश्च गो-सदृशस्य मध्ये वर्त्तमानायाः शक्तेः ज्ञानं सम्भवति इति न तदर्थम् उपमानस्य मानान्तरत्वमभ्युपेयम्। मूलोक्तानुमाने तु सादृश्यस्य प्रवृत्ति-निमित्तत्वे अभ्युपगतेऽपि न निर्वाहः, तेनानुमानेन गवय-सादृश्यस्याऽपि गवय-पद-वाच्यत्वाऽप्रतिपादनात्। अतः एतत्कारिकाऽनुरोधेन "गवय-पदं गो-सदृश-पिण्ड-वाचकम्, असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, गवि गो-शब्दवत्" इत्येव अनुमानं पूर्व-पक्षे प्रदर्शनीयम्। तथा च सति सादृश्यस्य प्रवृत्ति-निमित्तत्वेनाभ्युपगमे अनेनानुमानेनैवेष्ट-सिद्धिरिति नोपमानस्य प्रमाणान्तरत्वापादनाऽवकाश इत्यपि उपपन्नं भवति इति। तदेतदसहमानः सादृश्यस्य गवय-पद-प्रवृत्ति-निमित्तत्वं निराचष्टे—तस्येति। तत्र हेतुमाह—गुरुत्वेनेति। सादृश्यम् उपाधिः, गवयत्वं च जातिः, इति सादृश्यस्य प्रवृत्ति-निमित्तत्वे गौरवम् इत्यर्थः।

अज्ञान के कारण और शक्ति-परिच्छेद से पूर्व हेतु के अंश "असति वृत्त्यन्तरे" को असिद्धि के कारण अनुमान से भी गवयत्व-विशिष्ट में गवय-पद का शक्ति-ग्रह असम्भव है ॥ ११ ॥]

'समयः' का अर्थ है गवयत्वादि-जाति-विशिष्ट पदार्थों में गवयादि-पदों का शक्ति-रूप सम्बन्ध। यह सम्बन्ध शब्द-प्रमाण या अनुमान-प्रमाण से ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि शक्ति-ग्रह से पूर्व उस व्यक्ति को गवय-पद के प्रवृत्ति-निमित्त गवयत्व का ज्ञान होता ही नहीं है। गो-सादृश्य को तो गवय-पद का प्रवृत्ति-निमित्त माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि गवयत्व—जो जाति होने के

अप्रवृत्ति-निमित्तत्वात् ॥ ११ ॥

ननु प्रथमतः गवयत्वस्य अप्रतीतत्वेऽपि यदा गवयत्वं प्रत्यक्षं तदा गो-सदृशो गवय-पद-वाच्य इत्यतिदेशात् लक्षणया गवयत्व-परात्

अत्रेदं बोध्यम्—सादृश्यं न प्रवृत्ति-निमित्तम्, तथा सति गो-ज्ञानाऽभाववतां वनेचराणां गोः अप्रतीतौ तत्प्रतियोगिकस्य सादृश्यस्य गवयेऽवगन्तुम् अशक्तेः। नाप्युभयम्, उभयोः समुच्चये उक्त एव दोषः। नाऽपि विकल्पः, स्वयं यत्र प्रवृत्ति-निमित्ते व्युत्पत्तिर्गृहीता तत्र परस्याऽपि सा भवतु इतीच्छया हि आरण्यकः वाक्यं प्रयुङ्क्ते, तेन च सा गवयत्वे एव गृहीता इति कथम् स गवय-सादृश्याख्यं प्रवृत्ति-निमित्तं परस्मै प्रतिपादयितुं शक्नुयात्? तस्माद् गवयत्वस्य प्रवृत्ति-निमित्तस्य न शब्देन न वाऽनुमानेन ग्रहः सम्भवतीति ॥११॥

शब्दादेव शक्ति-ग्रहं शङ्कते—नन्विति। प्रथमतः = गवय-पिण्ड-दर्शनात्पूर्वम्। लक्षणयेति। अयमाशयः—यथा "गन्धवती पृथिवी" इति वाक्य-श्रवणानन्तरं गन्धवत्त्वं पृथिवी-पद-प्रवृत्ति-निमित्तम् तत्प्रवृत्ति-निमित्तोपलक्षणं वा इति सन्देहः, तथैव "गो-सदृशो गवयः" इति वाक्य-श्रवणानन्तरमपि किमिदं गोसादृश्यं गवय-शब्द-प्रवृत्ति-निमित्तम्, तत्प्रवृत्ति-निमित्तोपलक्षणं वेति सन्देहात् गवय-पिण्ड-दर्शनात्पूर्वं वाक्य-तात्पर्याऽनवगमः एव। सति च गवय-प्रत्यक्षे वनादौ गवयत्वस्यापि प्रत्यक्षं भवति, ततश्च सः अनुसन्धत्ते—सादृश्यस्य गवयत्वातिरेकिणः निमित्तत्वे क्लृप्त-कल्प्य-विरोधः, सादृश्य-मात्र-निमित्तत्वे पूर्वोक्तातिप्रसङ्गः, सादृश्यस्य निमित्तत्वे विशेषणी-भूतस्य गो-पदार्थस्यापि निमित्तत्वमिति गौरवञ्चेति। तदेनं लाघवापादकं तर्कं पुरस्कृत्य गो-सदृशपदं हि गवय-प्रवृत्ति-निमित्तो-पलक्षणम् इति निर्णीते स्मृति-विषयीभूतं गवय-सादृश्य-प्रतिपादकं

कारण लघु है—की अपेक्षा उपाधि-स्वरूप गो-सादृश्य को प्रवृत्ति-निमित्त मानना गौरव-पूर्ण है ॥ ११ ॥

पुनः वैशेपिकों का कथन है :—पहले गवयत्व का ज्ञान भले ही न हुआ हो परन्तु जब वन में गवय-पिण्ड के प्रत्यक्ष के समय गवयत्व का संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष हो जाता है उसके पश्चात् "गो-सदृशो गवय-पद-वाच्यः" इस अतिदेश-वाक्य में प्रयुक्त गो-सदृश शब्द ही लक्षणा से गवयत्वार्थक हो जायगा और गवयत्व-विशिष्ट में गवय-पद की शक्ति का ज्ञान उसी अतिदेश-

तेन रूपेण शक्ति-ग्रहोऽस्तु ? तत्राह—

श्रुताऽन्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थाऽन्वय-वैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥ १२ ॥

गो-सादृश्य-सामानाधिकरण्येन गवय-पद-वाच्यत्व-ज्ञान-जनकतया शब्दस्य गवयत्वादिना शक्ति-बोधे नाऽऽकांक्षा, अन्वयस्य पर्यवसानात्।

वाक्यमेव अनुपपन्न-तात्पर्यं गवयत्व-विशिष्टे गवय-शब्द-वाच्यतां ग्राहयेत्, अन्यथा वाक्य-तात्पर्यस्य अनवगम एव स्यात्, गो-सादृश्ये निमित्तत्वोपलक्षणत्वयोः सन्देहात्। तथा च तात्पर्यानुपपत्त्या तात्पर्य-ग्राहक-गोपदोपस्कृत-सदृश-पदे लक्षणया गवयत्वस्य गवयपद-वाच्यता-ज्ञानमिति नोपमानं मानान्तरम् इति । तेन रूपेण = गवयत्वेन रूपेण ।

शब्दस्य शक्ति-परिच्छेदकत्वाऽसामर्थ्यमाह—तत्राहेति । गो-सादृश्यस्य उपलक्षणत्वं प्रवृत्ति-निमित्तत्वं वा इत्यत्र सन्देहेऽपि यः गो-सदृशः स गवय-पद-वाच्यः इति सामानाधिकरण्य-रूप-यथा-श्रुतार्थान्वयेनैव वाक्ये पर्यवसिते निराकांक्षत्वात् लक्षणा नैव कल्प-यितुं शक्यते, यत्र तु अयोग्यतया मुख्यार्थान्वयाऽसम्भवः तत्रैव लक्षणेत्यभिप्रायेण कारिकां व्याचष्टे—गो-सादृश्येत्यादिना । गो-सादृश्य-सामानाधिकरण्येन गवय-पद-वाच्यत्व-ज्ञान-जनकतया अन्वयस्य पर्यवसानात् शब्दस्य गवयत्वादिना शक्ति-बोधे नाकांक्षेति वृत्ति-ग्रन्थान्वयः ।

अन्वयस्येत्यादि—तथा च अन्वयाऽनुपपत्तिरेव लक्षणायाः बीजं न

वाक्य से हो जायगा। एवञ्च उपमान का क्या प्रयोजन है ? उपर्युक्त कथन के समाधान में कह रहे हैं:—

[लक्षणा की उपस्थिति तथा लक्ष्यार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का उपपादन तो तब किया जाता है जब वाच्यार्थों मे परस्पर अन्वय उपपन्न नहीं होता है। परन्तु प्रकृत स्थल में तो 'गवय-पद-वाच्य' शब्द का जो मुख्यार्थ है उसका समन्वय 'गो-सदृश' पद के मुख्यार्थ से भी हो जाता है, तब फिर निराकांक्ष शब्दों में लक्षणा का अवसर कैसे आ सकता है ? अतः अतिदेश-वाक्य-स्थ गो-सदृश पद को गवयत्व अर्थ में लाक्षणिक मानकर शब्द-प्रमाण से शक्ति-परिच्छेद नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥]

गो-सादृश्य के अधिकरण में गवय-पद-वाच्यत्व के ज्ञापन से ही परस्पर मुख्यार्थ में अन्वय के उपपन्न हो जाने से निराकांक्ष शब्द गवयत्व-विशिष्ट गवय

यत्र पदार्था: एवान्वय-विधुरा: = केनाऽपि रूपेण अन्वयाऽयोग्या:, तदाक्षिप्तेन = तेन लक्षणीयेन अर्थेन, सङ्गति: अन्वय:, यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ ।

ननु "गवय-पदं स-प्रवृत्ति-निमित्तकम्, साधुपदत्वात्" इति सामान्यतो-दृष्टमनुमानम् इतर-प्रवृत्ति-निमित्तकत्व-बाधे गवयत्वस्य प्रवृत्ति-निमित्तत्वमवगाहतामिति चेत् ? न, व्यापकताऽवच्छेदक-रूपेणैव अनुमितेः

तात्पर्यानुपपत्तिरिति सिद्ध्यति । यष्टीः प्रवेशय इत्यादावपि अन्वयानुपपत्तिरेव लक्षणा-बीजम् । येऽपि तात्पर्यानुपपत्तिं लक्षणाबीजमाहुः तेषामपि प्रकरणादेः तात्पर्य-ग्रहोपजीव्यत्वम्मतमेवेति प्रकरणादेव भोजनादि-प्रयोजनक-प्रवेशनस्य ज्ञानात् तथाविधे च प्रवेशने यष्टि-मात्रस्य अन्वयानुपपत्तेः यष्टि-धरे लक्षणेति विभावनीयम् । यदि तु अत्रापि प्रकरणादिनैव प्रवृत्ति-निमित्त-वाच्यत्व-ज्ञानमिति लक्षणाऽभावे अन्वयाऽनुपपत्तिरेवेति विभाव्यते तदा तु प्रकरणाद्यभावेऽपि गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्त-निश्चयः एव प्रकृते लक्षणायाः बाधक इति विवेचनीयम् ।

इतरेति—गवयत्वेतरेत्यर्थः । सादृश्यस्य पूर्वोक्त-युक्त्या अन्येषां च असम्बद्धतया बाध इत्यभिप्रायः । व्यापकतेत्यादि—व्यापकं साध्यम्, तच्च प्रकृते प्रवृत्ति-निमित्तम्, तदवच्छेदकश्च धर्मः प्रवृत्ति-निमित्तत्वम् इति तेन प्रवृत्ति-निमित्तत्वेन रूपेणैव प्रवृत्ति-निमित्तस्यानुमितिः

के बोधन में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जब पदों के मुख्यार्थ 'अन्वय-विधुरा:' अर्थात् किसी भी रूप में परस्परान्वय के योग्य नहीं होते हैं तभी 'तदाक्षिप्तेन' अर्थात् मुख्यार्थ-सम्बन्ध से प्रतीयमान अर्थ के साथ 'सङ्गति:' अर्थात् अन्वय होता है। जैसे 'गङ्गायाम् घोष:' इस स्थल में घोष-पदार्थ का जब गङ्गा-पदार्थ—प्रवाह—से अन्वय की उपपत्ति नहीं होती है तब प्रवाहात्मक शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध से आक्षिप्त तीर-पदार्थ के साथ घोष-पद के मुख्यार्थ का अन्वय माना जाता है। अतः गवयत्व-विशिष्ट में गवय-पद की शक्ति के ज्ञान के लिए उपमान को पृथक् प्रमाण मानना ही चाहिए।

अच्छा तो 'गवय-पद प्रवृत्ति-निमित्तवान् है, साधु-पद होने के कारण' इस सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से गवय-पद के जिस प्रवृत्ति-निमित्त की सिद्धि होगी वह प्रवृत्ति-निमित्त गवयत्व ही हो सकता है, क्योंकि अन्य-धर्म में गवय-प्रवृत्ति-निमित्तत्व बाधित है। एवञ्च उपमान की प्रमाणान्तरता का प्रयोजन क्या बच जाता है? इस पूर्व-पक्ष के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि उक्त विधि से

व्यापक-विषयत्वात् ।

"गवय-पदं गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तकम्, इतराऽप्रवृत्ति-निमित्तकत्वे सति स-प्रवृत्ति-निमित्तकत्वात्" इति व्यतिरेकि च साध्याऽप्रसिद्धया न सम्भवति, व्यतिरेक - व्याप्त्यप्रतिसन्धानेऽपि गवयत्वाश्रयो गवय-पद-वाच्य इति धियः अनुभवसिद्धत्वाच्च उपमानं प्रमाणान्तरम् ।

न गवयत्वेन रूपेण गवय-पद-वाच्यता-ज्ञानमनुमिति-लभ्यमित्य-भिप्रायः । व्यतिरेकि = व्यतिरेकानुमानम् । "यत्र-यत्र गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तकत्वे सति सप्रवृत्ति-निमित्तकत्वाभावः" इत्येव हि व्यतिरेक-व्याप्तिः सम्पादनीया, परन्तु गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तकत्वस्य प्रकृता-नुमानात्पूर्वमज्ञातस्य न तदभाव-प्रतियोगित्वम् , अज्ञातस्य अप्रति-योगित्वात् , अभावग्रहस्य च प्रतियोगि-ग्रहण-सापेक्षत्व-नियमा-दित्याह—साध्याऽप्रसिद्धचेति । अन्यथाऽपि प्रवृत्ति-निमित्त-परिच्छेद-मुद्भावयति—व्याप्त्यप्रतिसन्धानेऽपीति । तथा च यत्र अप्रसिद्धमपि गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तकत्वम् विधेयतया प्रतिपादयत् व्यतिरेकानु-मानं न भवति तत्रापि गवयत्वस्य गवय-पद-वाच्यता-ग्रहणाय प्रमाणान्तरस्योपमानस्यावश्यकत्वे न विप्रतिपत्त्या भाव्यमित्युप-संहरति—प्रमाणान्तरमिति ।

गवयत्व-रूप प्रवृत्ति-निमित्त की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि व्यापकता, अर्थात् साध्यता, के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न साध्य को ही अनुमिति अपना विषय बनाती है । इस लिए प्रकृत में भी प्रवृत्ति-निमित्तत्वेन रूपेण प्रवृत्ति-निमित्त की अनुमिति होगी, गवयत्वेन रूपेण नहीं ।

'गवय-पद गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तक है, क्योंकि (गवयत्व से) इतर-प्रवृत्ति-निमित्त से रहित होते हुए भी प्रवृत्ति-निमित्तवान् है' इस व्यतिरेक-व्याप्ति-मूलक अनुमान से भी गवयत्व-प्रवृत्ति-निमित्तकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि जब साध्यान्तर्गत गवयत्व ही अज्ञात है तो फिर उसके अभाव के आधार पर व्यतिरेक-व्याप्ति कैसे बन सकती है ? दूसरी बात यह है कि जहाँ व्यतिरेक-व्याप्ति का अनुसन्धान नहीं भी होता है वहाँ भी सादृश्य-ज्ञान-मात्र के आधार पर जब गवयत्व-विशिष्ट में गवय-पद-वाच्यत्व की प्रतीति आनुभविक है तब यह सिद्ध है कि उपमान पृथक् प्रमाण है ।

एवम् "धिक् करभमति-दीर्घ-ग्रीवम् अति-कठोर-कण्टकाशिनम् अपसदं पशूनाम्" इत्यादि-वाच्यार्थ-ज्ञानानन्तरम् तादृश-पिण्ड-दर्शने करभ-पद-वाच्यता-ग्रहोऽपि उपमानादेव।

उपमानन्तु शक्ति-मात्र-परिच्छेदकतया नेश्वरे बाधकमिति भावः॥ १२॥

शब्दस्तु न ईश्वरे बाधकत्वेन शङ्कनीयः, अनुमानाऽनतिरेकादिति वैशेषिकाः। पद-श्रवणानन्तरम् पदार्थ-स्मरणे "एते पदार्थाः परस्परं

सादृश्य-ज्ञानस्योपमानत्वमिव वैधर्म्य-ज्ञानमपि क्वचिदुपमानमिति प्रतिपादयति—एवम् इत्यादिना। करभः = उष्ट्रः। तथा च साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञानयोः तत्तदुपमितौ विशिष्यैव कारणत्वम् मन्तव्यम्। उभय-साधारणम् उपमान-लक्षणन्तु—उपमिति-करणत्वमुपमानत्वम्। उपमितित्वञ्च उपमिनोमि इत्यनुव्यवसाय-सिद्धम्।

तदेवं सिद्धेऽपि उपमाने तस्य नेश्वर-बाधकत्वम्, उपमानस्य पदार्थ-साधकत्वाभावात् संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-मात्र-प्रतिपादकत्वादिति प्रतिपादयति—उपमानन्तु इति। शक्तीति—उपमानस्य शक्ति-परिच्छेदकत्ववत् कारणता-परिच्छेदकत्वमपि मुद्गपर्णसदृशौषधिः ज्वरं हन्तीत्यादौ मन्तव्यमिति॥१२॥

ननु मा भूत् उपमानमीश्वर-बाधकम्, शब्द एव तद्बाधकः स्यादित्याशङ्कायां वैशेषिक-समाधानं तावदाह—शब्दस्तु इति। अबाधकत्वे हेतुमाह-अनुमानाऽनतिरेकादिति। यद्यपि शब्दस्य ईश्वराऽबाधकत्वे अनुमानाऽनतिरेकित्वं न हेतुः, अनुमानात्मक-शब्दस्यैव ईश्वर-बाधकत्व-सम्भवात्; तथाप्यनुमानस्य ईश्वर-बाधकत्व-निरासेनैव शब्दस्यापीश्वरबाधकत्वं निरस्तमित्यर्थ इति वर्धमानोपाध्यायाः।

इसी प्रकार, "बहुत लम्बी गर्दन वाले कठोर काँटों को खानेवाले पशुओं में अधम ऊँट को धिक्कार है" इत्यादि वाक्यार्थ-ज्ञान के बाद लम्बी गर्दन आदि उपर्युक्त धर्मों से युक्त पिण्ड के दर्शन होने पर उसमें करभ-पद-वाच्यता का ज्ञान भी उपमान-प्रमाण से ही होता है।

फिर भी उपमान का काम है केवल संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-निर्धारण न कि पदार्थ के भाव या अभाव का निर्धारण। अतः उपमान में ईश्वर-बाधकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है॥ १२॥

शब्द-प्रमाण में ईश्वर-बाधकत्व की आशङ्का तो करनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि शब्द भी अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है—यह वैशेषिक आदि का मत

संसर्गवन्तः, आकांक्षा-योग्यताऽऽसत्तिमत्पद-स्मारितत्वात्, दण्डेन गाम् अभ्याज इति-पद-स्मारित-पदार्थवत्" इत्यनुमानात् संसर्ग-प्रसिद्धेः। किम्वा "एतानि पदानि स्मारित-पदार्थ-संसर्ग-प्रमा-पूर्वकाणि, आकांक्षा-दिमत्पदत्वात्" इत्यनुमानात् तत्प्रसिद्धेः, ज्ञान-ज्ञानस्य तद्विषय-विषय-कत्व-नियमात्, इत्यत्राह—

ये हि शब्दस्य पृथक्-प्रमाणत्वम् आस्थिषत तेषां पदार्थान्वयः एव शब्द-प्रमाण-फलम्, स चान्वयः अनुमानेनैव सिद्ध्यतीति किं प्रयोजनम् शब्दस्य पृथक्-प्रमाणत्वे इत्यभिप्रेत्य पदार्थ-संसर्ग-प्रतिपादक-मनुमानमाह—एते पदार्थाः इति। परस्पर-संसर्गेति—तात्पर्य-विषयीभूतपर-स्पर-संसर्गेत्यर्थः। संसर्ग-प्रसिद्धेः = पदार्थानां तात्पर्य-विषय-परस्पर-संसर्ग-प्रसिद्धेरित्यर्थः। यद्यप्यनेनानुमानेन संसर्गमात्र-सिद्धावपि व्यवहारो-पयोगी तद्विशेषः न सिद्धयति, तथाऽपि पद-स्मारितान् पदार्थ-विशेषान् पक्षीकृत्य तेषां संसर्गे साध्यमाने संसर्ग-विशेष एव प्रतिफलति इति भावः। पद-पक्षकमनुमानान्तरमाह—किम्वेति। नन्वनेनानुमानेन संसर्ग-ज्ञानस्य ज्ञानम् न तु संसर्गस्य, संसर्गस्यैव ज्ञानं तु प्रकृतोपयोगि इति कथमनेनानुमानेनेष्ट-सिद्धिरित्यत आह—ज्ञान-ज्ञानस्येति। ज्ञानस्य यत् ज्ञानं तत् स्व-विषयीभूत-प्रथम-ज्ञानस्य विषयमपि स्व-विषयी-भूत-प्रथम-ज्ञानावच्छेदकतया अवगाहते इत्यर्थः। तथा च संसर्ग-ज्ञानस्य ज्ञानमपि स्वविषयीभूत-प्रथम-ज्ञानस्य (संसर्ग-ज्ञानस्य) विषयीभूतं संसर्गमपि स्व-विषयतया अवगाहत एवेति संसर्ग-ज्ञान-ज्ञापकानुमानेनाऽपि संसर्ग-ज्ञान-सिद्धिरिति तात्पर्यम्।

है। उनका कहना है कि पद सुनने के बाद जब पदार्थों का स्मरण होता है तब यह अनुमान होता है कि "ये पदार्थ परस्पर-संसृष्ट हैं, क्योंकि ये पदार्थ आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्तिसे सम्पन्न पदों के द्वारा स्मारित हैं, जैसे 'दण्डेन गाम् अभ्याज (=आनय)' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों से स्मारित पदार्थ परस्पर-संसृष्ट हैं', और अनुमान से पदोपस्थापित पदार्थों के संसर्ग का भी प्रतिपादन हो जाता हैं। अथवा यह अनुमान होता है कि ये पद स्व-स्मारित-पदार्थों के परस्पर-संसर्ग के प्रमात्मक-ज्ञान-पूर्वक उच्चारित हुए हैं, आकांक्षा आदि से सम्पन्न पद होने के कारण' और इस अनुमान से संसर्ग-ज्ञान-ज्ञान तथा ज्ञान-ज्ञान में स्व-विषयीभूत-प्रथम-ज्ञान के विषय के अवगाहन के स्वभाव के होने के कारण संसर्ग का भी ज्ञान हो जाता है। अतः पदोपस्थित-पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान के लिए शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानना चाहिए। अब नैयायिकाचार्य कह रहे हैं:—

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे[1] च न निर्णयः।
आकांक्षा सत्तया हेतुर्योग्याऽऽसत्तिरबन्धना ॥ १३ ॥

अत्र पदार्थ-पक्षकानुमाने संसृष्टा एवेति संसर्गवत्त्वं साध्यते, सम्भावित-संसर्गकाः इति संसर्ग-स्वरूप-योग्यत्वम्वा ? आद्ये "पयसा सिञ्चति" इत्यादावनैकान्तः। द्वितीये न संसर्ग-निर्णयः, अन्वय-प्रयोजक-रूपवत्त्व-

परिच्छेदः = नियमः, निश्चय इत्यर्थः। संसृष्टा एवेति संसर्ग-वत्त्वमिति—संसृष्टा एवेति नियमेन संसर्गवत्त्वमिति साध्यते इत्यर्थः। आद्ये = नियमेन संसर्गवत्त्व-साधने। व्यभिचारमाह—पयसा सिञ्चतीति। येन पयसा कदापि न किमपि सिक्तम् तत्र पयः-पदार्थस्य सेक-पदार्थस्य च संसर्गाऽभावात् संसृष्टा एवेति नियमस्य व्यभिचारः। तथा च आकांक्षा-योग्यताऽऽसत्तिमत्पदत्वस्य हेतोः साध्याभाववति पदार्थेऽपि सत्त्वेन साधारणाऽनैकान्तिकत्वमित्याह–अनैकान्तः इति। अथ सम्भवः = संसर्ग-स्वरूपयोग्यत्वम्, एव साध्यते तदा तु वाक्य-फलं निश्चयः न सिद्ध्यतीत्याह—द्वितीये इति। दोषान्तरमाह—अन्वयेति।

[यदि उपर्युक्त अनुमान के द्वारा पदार्थ-संसर्ग का निर्णय हो जाता है—यह कहा जाय तव तो व्यभिचार होगा; यदि अनुमान के द्वारा पदार्थों के परस्पर-संसर्ग की सम्भावना होती है—यह कहा जाय तव तो यह निश्चित हो चुका है कि अनुमान से पदार्थ-संसर्ग का निर्णय नहीं हो पाता है। आकांक्षा शाब्द - बोध के प्रति स्वरूप-सती हो कारण है, उसका ज्ञान आवश्यक नहीं होता है। परन्तु अनुमान-वाक्य में हेतु के वर्ग में प्रविष्ट आकांक्षा-ज्ञान है अतः हेतु में व्यर्थ-विशेषणत्व है। केवल योग्यता तथा आसत्ति को ही पदार्थ-संसर्ग का बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि आकांक्षा के अभाव में पदार्थ-संसर्ग-बोध अप्रामाणिक होता है ॥ १३ ॥]

उपर्युक्त पदार्थ-पक्षक अनुमान में 'संसृष्ट ही होते हैं' यह साध्य है अथवा 'सम्भावित-संसर्गकाः' का उपन्यास कर पदार्थों में परस्पर-संसर्ग की स्वरूप-योग्यता साध्य है? यदि प्रथम पक्ष माना जाय तव 'पयसा सिञ्चति' यहाँ हेतु का व्यभिचार हो जायगा, क्योंकि जिस जल से सेक हुआ ही नहीं है उस जल के साथ 'सिञ्चति' पद के अर्थ का संसर्ग है नहीं; परन्तु आकांक्षादि-सम्पन्न-

१. 'निश्चयश्च न सम्भवे' इति ग. पुस्तके पाठः।
'सम्भवे च न निश्चयः' इति क. पुस्तके पाठः।

योग्यतायाः हेतु-विशेषणीकृतत्वेन सिद्ध-साधनाच्च ।

द्वितीये प्रयोगे आकांक्षा सत्तया इति। आकांक्षा च समभिव्याहृत-

अयमाशयः—उपर्युक्तानुमाने यः हेतुः स योग्यता-घटितः उपात्तः। हेतोश्च ज्ञानं साध्य-साधनात् पूर्वमेवापेक्षितमिति तु निर्विवादम्। एवं च पदार्थानां संसर्ग-योग्यत्वावगमे एव योग्यता-घटित-हेतूपन्यासः सम्भवति। सति चैवम् हेतु-ज्ञानेन एव पदार्थानां परस्पर-संसर्ग-योग्यत्वस्य सिद्धौ पुनः तदेव संसर्गवत्त्वं यदि साध्यते पदार्थेषु तदा सिद्ध-साधनम् । अथ चेत् पूर्वं योग्यताऽनवगमः तदा हेतोः स्वरूपस्यैवासिद्धिरिति उभयथा दोषः अनुमाने इति नानुमानं संसर्ग-योग्यत्व-प्रतिपादकमपि। अतः न शब्द-प्रमाणस्य कार्यं कर्तुमलम्। इदं पुनरिहाऽववेयम्—अन्वयेत्यादिना वृत्तिकृदुक्तं दोषान्तरञ्च सम्भव इति मूलस्य हेतु-घटक-योग्यताऽर्थकत्वे उपपन्नम् , यदि तु सम्भव इति मूलं सन्दिग्धार्थकं तदा तु संसर्गाऽनिश्चय इति प्रथम-दूषणमेवानुमानमपसारयितुं क्षममिति। अत्रानुमाने अग्रे अकांक्षा सत्तयेत्यादिना प्रतिपादयिष्यमाणोपि दोषः अनुसन्धेयः।

आकांक्षा सत्तयेति। अयम्भावः—द्विविधो हि हेतुः। कश्चित् पदार्थः अस्तीत्येव कार्य-कारी न तु तज्ज्ञानमप्यपेक्षितम् , यथा मार्गस्थः वह्निः ज्ञातः अज्ञातो वा भवतु परन्तु यदि कश्चित् पदं तत्र भ्रमादपि धत्ते तर्हि स वह्निः अस्तीत्येतावतैव दाहं करोति। अन्यश्च पदार्थः

पद-स्मारितत्व हेतु वर्त्तमान है। स्वरूप-योग्यता-प्रतिपादक पक्ष में तो पदार्थ-संसर्ग का निर्णय नहीं हो पाता है। दूसरी वात यह भी है कि अन्वय-प्रयोजक-रूपवत्व-स्वरूप-योग्यता हेतु में प्रविष्ट है ही और अनुमिति में हेतु-ज्ञान पूर्वापेक्षित होता है। एवञ्च अनुमिति से पूर्व ही हेतु-ज्ञान के क्षण में अन्वय-प्रयोजक-रूपवत्त्व-स्वरूप-योग्यता के निर्णय हो जाने के वाद पुनः उसी के साधन में सिद्ध-साधन नाम का दोष आ जाता है। अतः न तो संसर्ग का निर्णय ही अनुमान से हो सकता है और न संसर्ग की स्वरूप-योग्यता ही।

पद-पक्षक अनुमान में दोष यही है कि आकांक्षा संसर्ग-बोध के प्रति सत्ता-मात्र से कारण है, उसके ज्ञान की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु हेतु के वर्ग में उसके प्रवेश का अर्थ है आकांक्षा का ज्ञान होना चाहिए। अतः जो आकांक्षा स्वरूप-सती ही संसर्ग-वोधिका है उसके हेत्वंश में प्रवेश से हेतु में व्यर्थ-विशेषणता आ जाती है। आकांक्षा का अर्थ है समीपस्थ-पद-स्मारित

पदस्मारित-पदार्थ-जिज्ञासा। घटमित्युक्ते आनय, पश्येति, आनय इत्युक्ते घटं पटं वेति जिज्ञासादयः।

ननु योग्यता-सहिताऽऽसत्तिरेव हेतुरस्तु, तत्राह—योग्याऽऽसत्तिर-बन्धना इति। व्याप्ति-शून्या। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषः अपसार्यताम्

ज्ञातः सन्नेव हेतुत्वं भजते, यथा धूमः पर्वतवृत्तित्वेन ज्ञात एव तत्र वह्निमनुपापयति। अनुमाने च सर्वत्र ज्ञात एव पदार्थः हेतुत्वं भजते इति सम्प्रतिपन्नमेव। प्रकृतानुमाने च आकांक्षाऽपि हेतु-गर्भ-प्रविष्टेति तस्या अपि ज्ञानमावश्यकम्। परन्तु पदार्थ-संसर्गा-वगमः आकांक्षायाः सत्त्वमेवापेक्षते न ज्ञानम्। अत एव योग्यताऽऽ-सत्तिमात्रं प्रतिसन्दधानस्य पुंसः आकांक्षायां स्वरूप-सत्यामेव बोधः स्वाभाविकः। एवञ्च उक्तहेतौ आकांक्षा-प्रवेशस्य पदार्थ-संसर्ग-बोध-कत्वे अप्रयोजकत्वमिति असमर्थ-विशेषणाऽसिद्धो हेतुरिति कथमुक्ता-नुमानं पदार्थ-संसर्गं गमयेत्? तथा च संसर्गबोधार्थम् शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वमवश्यमेवाभ्युपेयम्।

यदि हेतु-गर्भाऽऽगतायाः आकांक्षायाः व्यर्थ-विशेषणत्वम् तर्हि योग्यताऽऽसत्तिमत्पदत्वादित्येव हेतुः संसर्गं बोधयेत् इति न शब्दस्य प्रमाणत्वमङ्गीकरणीयम् इति पूर्व-पक्षमाह—नन्विति। उत्तरमुपसंह-रति—व्यभिचारादिति। अयमाशयः—यत्र शिष्याकांक्षानन्तरं गुरुः राज्ञः पुत्रः आगच्छति इति पुरुषः इतः अपसार्यतामिति तात्पर्येण, अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् इति वक्ति तत्र योग्यताऽऽसत्ति-सत्त्वात् राज्ञः इत्यस्य पदस्यार्थस्य पुरुषपदार्थेन समं तात्पर्याविषयोऽपि संसर्गः प्रसज्येत इति न निराकांक्षस्य संसर्ग-निर्णयो निर्दुष्टः। तथा च आकांक्षायाः स्वरूप-सत्याः एव शब्दबोध-प्रयोजकतया पदार्थ-

पदार्थ की जिज्ञासा। यथा—'घटम्' कहने के बाद 'आनय' या 'पश्य' की अथवा 'आनय' कहने पर 'घटम्' अथवा 'पटम्' की जिज्ञासा होती है।

अच्छा तो योग्यता-सहित आसत्ति का ही हेतु में निवेश करेंगे, आकांक्षा का नहीं। एवञ्च उपर्युक्त आपत्ति नहीं होती है—इस अभ्युपगम के विरोध में कह रहे हैं:—'योग्यासत्तिरबन्धना'। योग्यता तथा आसत्ति की संसर्ग-प्रमा के साथ व्याप्ति नहीं है कि जहाँ जहाँ योग्यता तथा आसत्ति से युक्त पद या तथाविध पदोपस्थापित पदार्थ हों वहाँ पदार्थ-संसर्ग-प्रमा होती ही है। इस व्याप्त्यभाव का कारण यह है कि 'राज्ञः पुत्रः एति, पुरुषः अपसार्यताम्' इस तात्पर्य से

इत्यत्र निराकांक्षयोः राज-पद-पुरुष-पदयोः व्यभिचारात् ॥ १३ ॥

प्राभाकरास्तु वेदस्य अपौरुषेयत्वतया तत्र वक्तृज्ञानानुमानाऽसम्भवात् शब्दः प्रमाणम्, लोके तु आप्तोक्तत्व-ज्ञानमपेक्षितम् । तथा च "अयं वक्ता स्व-प्रयुक्त-वाक्यार्थ-यथार्थ-ज्ञानवान्, भ्रमाद्यजन्य-वाक्यार्थ-ज्ञान-

संसर्ग-प्रतिपादनाय प्रयुक्तेऽनुमाने आकांक्षा-ज्ञानस्योपयोगित्वे व्यर्थ-विशेषणत्वम्, आकांक्षा-रहितस्यैव हेतुत्वे तु व्यभिचार इति नोक्तानुमानं पदार्थ-संसर्ग-ग्राहकमिति तदर्थं शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वमवश्यमेवाभ्युपेयमिति निष्कर्षः ॥१३॥

प्राभाकरास्तु वेदस्य स्वतः प्रमाणत्वमङ्गीकृत्यापि लौकिक-शब्दानामनुमानान्तर्भावमाचक्षते, तेषां मतं तावदाह—प्राभाकरास्त्विति। अपौरुषेयतयेति—अपौरुषेयत्व-निश्चयेनेत्यर्थः। वक्तृ-ज्ञानानुमानाऽसम्भवात् इति—अपौरुषेयत्व-निश्चयेन पौरुषेयत्वस्य बाधात् वक्तृ-ज्ञानानुमानाऽसम्भव इति भावः। शब्दः = वैदिकः शब्दः, प्रमाणम् = स्वतः प्रमाणम्। वेदे कर्त्तुरभावेन ज्ञानावच्छेदकतया संसर्ग-विषयक-कर्तृ-ज्ञानाऽनुमानाऽसम्भवेन वाक्यार्थस्य संसर्गस्य प्रमाणान्तराऽगृहीततया अनधिगतार्थगन्तृत्वेन वेदस्य प्रामाण्यमिति भावः। आप्तोक्तत्व-ज्ञानमपेक्षितम् इति—लौकिक-वाक्याऽऽनुपूर्व्याः अनित्यत्वेन तन्निष्ठं प्रामाण्यं वक्तृ-ज्ञानाधीनमेवेति प्रामाण्य-निर्णयाय आप्तोक्तत्व-ज्ञानमावश्यकमिति तात्पर्यम्। पर-प्रयुक्त-वाक्ये व्यभिचार-वारणाय साध्ये स्वेति। भ्रान्तादिषु व्यभिचार-परिहाराय हेतौ भ्रमाद्यजन्येति। शुकादिषु अतिप्रसङ्गभङ्गाय वाक्यार्थ-ज्ञान-जन्येति। शुकादेः वाक्य-प्रयोक्तृत्वं न वाक्यार्थ-ज्ञान-जन्यमिति तद्व्युदासः। ननु प्रकृतानुमानेन वाक्यार्थ-

प्रयुक्त "अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्" इस स्थल में निराकांक्ष 'राज्ञः' और 'पुरुषः' में भी आसत्ति तथा योग्यता के रहने पर भी संसर्ग-प्रमा का अभाव ॥ १३ ॥

प्रभाकर के अनुयायिओं का कथन है कि वेद के अपौरुषेय होने के कारण उसके विषय में उसके वक्ता में वैदिक-वाक्य-ज्ञान के अनुमान के असम्भव होने से वैदिक-वाक्य तो प्रमाण हैं, परन्तु लौकिक वाक्य के प्रसङ्ग में उस वाक्य का उच्चारण किसी आप्त पुरुष के द्वारा किया गया है इतना जानना आवश्यक है। एवञ्च—यह वक्ता अपने द्वारा उच्चरित वाक्य के अर्थ के यथार्थ-ज्ञान

जन्य-वाक्य-प्रयोक्तृत्वात्" इत्यनुमानात् वक्तृ-ज्ञानावच्छेदकतया, उत्तर-कालं वा "एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टाः, वक्तृ-यथार्थ-ज्ञान-विषयत्वात्" इत्यनुमानात् साक्षात् वाक्यार्थ-सिद्धेः क्लृप्त-सामर्थ्यात् शब्दात् पुनरन्वय-धीरिति अनुवादको लौकिकः शब्दो न प्रमाणम् इति प्राहुः। तत्राह—

निर्णीत-शक्तेः वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये।
व्याप्ति-स्मृति-विलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥

वेदेऽवधारित - सामर्थ्यात् शब्दात् लोक-स्थलेऽपि प्रागर्थ-निर्णये

ज्ञानं साध्यते न तु वाक्यार्थ इत्यत आह—वक्तृज्ञानेति। अनुमिति-विषयीभूत-वक्तृ-ज्ञानस्य विषयतया अवच्छेदको वाक्यार्थ इति सोऽपि प्रकृतानुमान-विषय इत्युपपादितम् प्राक्। वक्तृ-ज्ञानाऽवच्छेद-कतयेत्यनन्तरम् परम्परयेति शेषः, तस्य च अग्रे वाक्यार्थ-सिद्धेः इत्यनेन अन्वयः।

साक्षाद्वाक्यार्थ-साधकमनुमानान्तरमाह—एते पदार्था इत्यादिना। लौकिक-शब्दस्याप्रमाणत्वे हेतुमाह—अनुवादक इति। यतः अनुवादकः = अनुमान-ज्ञातार्थज्ञापकः, अतः न प्रमाणम्, अज्ञातार्थ-ज्ञापकस्यैव प्रमाणत्वादिति अभिप्रायः। तदेतन्मतं खण्डयति—तत्राहेति।

लोकस्थलेऽपीति। अयमाशयः—आकांक्षादिमत्प्रतियोग्यन्वितस्वार्था-भिधान-शक्ति-प्रतिसन्धानमेव हि वेदे वाक्यार्थ-प्रतिपादनसामग्री-

से सम्पन्न हैं, क्योंकि वह भ्रमादि-शून्य वाक्यार्थ-ज्ञान से जन्य वाक्य के प्रयोक्तृत्व से सम्पन्न है—इस अनुमान से सिद्ध वक्तृ-यथार्थ-ज्ञान के (विषय-विधया) अवच्छेदक के रूप में, अथवा इसके बाद—ये पदार्थ परस्पर-संसृष्ट हैं, क्योंकि वक्ता के यथार्थ-ज्ञान के विषय हैं—इस अनुमान-प्रयोग से वाक्यार्थ की साक्षात् ही सिद्धि हो जाती है और पश्चात् अर्थ-बोधन-सामर्थ्य-सम्पन्न शब्द से भी अन्वय-बोध हो जाता है। अतः अनुवादक लौकिक शब्द अनुमान-प्रमाणा-वगत वाक्यार्थ के ज्ञापक होने के कारण प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि अनवगत अर्थ के ज्ञापक को ही प्रमाण माना जाता है।

इस प्राभाकर-मत के विरोध में न्यायाचार्य कह रहे हैं:—

[वेद-स्थल में वाक्यार्थ-बोध में अवधृत-सामार्थ्य शब्दों से ही लौकिक-व्यवहार में भी पहले ही वाक्यार्थ-बोध हो जायगा और इसलिए व्याप्ति-स्मरण के लिए एक क्षण के विलम्ब के बाद होनेवाला अनुमान ही अनुवादक होगा न कि शब्द ॥१४॥]

वेद में वाक्यार्थ-बोधन में अवधृत-सामर्थ्य शब्द ही लोक में भी व्यवहृत

लिङ्गस्यैवानुवादकत्वम्, व्याप्ति-स्मृति-विलम्बेन अनुमानस्य शब्दापेक्षया विलम्बित-धी-जनकत्वात् ॥ १४ ॥

ननु आप्तोक्तत्वस्य संशये व्यतिरेके च शाब्द-ज्ञानाऽनुत्पत्त्या निर्णयो हेतुर्वाच्यः, आप्तोक्तत्वञ्च प्रकृत-वाक्यार्थ-गोचर-यथार्थ-धी-जन्यत्वम् इति वाक्यार्थ-धीः प्रथमतोऽनुमानादेव वाच्या इत्यत्राह—

त्वेन अभिमतम्, सा च सामग्री लोक-वेद-साधारणी इति प्रामाण्येपि साधारण्यमास्थेयमेव, अन्यथा वेदस्यापि अप्रामाण्यं स्यात्। वैजात्यं च सामग्र्यां प्रमाणाभावादेव कल्पयितुमशक्यमिति न लौकिक-शब्दस्यानुवादकत्वम् उचितम्, अनुवादकत्वमपि पूर्वोक्तानुमानस्यैवेत्याह—व्याप्ति-स्मृति-विलम्बेनेति। व्याप्ति-स्मरणायापेक्षितेन क्षणेन आधिक्यात् अनुमान-विलम्ब इत्यर्थः ॥१४॥

आप्तोक्तत्वस्य संशयः दास्यादि-वाक्ये, व्यतिरेकश्च उन्मत्तादि-वाक्ये दृष्ट इति तत्र शाब्द-ज्ञानानुत्पत्तिरानुभाविकी इति आप्तोक्तत्व-निश्चयस्य शाब्द-बोध-कारणत्वमावश्यकमित्याह—नन्विति। निर्णयः= आप्तोक्तत्व-निर्णयः, हेतुः = शाब्द-बोध-हेतुः। ननु आप्तोक्तत्व-संशयाऽभावः तद्व्यतिरेकाऽभाव एव वा तद्धेतुरस्तु इति चेत्? न, लाघवेन आप्तोक्तत्व-निश्चयस्यैव एकस्य कारणत्वौचित्यात्। एवञ्च आप्तोक्तत्व-निश्चयादेव पूर्वं संसर्ग-बोध-सम्भवे लौकिक-शब्दस्यानुवादकत्वमेवेत्याह—प्रथमत इति। अत्र प्रतिबन्धिमाह—इत्यत्राहेति।

होते हैं। अतः लोक में भी शब्द से ही पहले अर्थबोध हो जायगा और व्याप्ति-स्मृति-सापेक्ष अनुमान की पश्चादुपस्थिति के कारण अनुमान ही अनुवादक होगा ॥ १४ ॥

पुनः प्रभाकर-सम्प्रदाय का प्रतिपादन है कि जब तक वाक्य में आप्तोक्तत्व का संशय बना रहता है या आप्तोक्तत्वाभाव का निश्चय न हो जाता है तब तक शाब्द-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि आप्तोक्तत्व का निर्णय शाब्द-बोध का कारण है। इस आप्तोक्तत्व का अर्थ यही है कि वाक्य को उसके अर्थ के यथार्थ-ज्ञान से जन्य होना चाहिए। एवञ्च आप्तोक्तत्व हेतु से अनुमान के द्वारा ही वाक्यार्थ-ज्ञान पहले हो जाता है, अतः लौकिक शब्द अनुवादक ही है। अब इस मत के खण्डन के लिए कह रहे हैं :—

व्यस्त-पुंदूषणाऽऽशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैः अमी।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्याऽपि न तत् कुतः ॥ १५ ॥

आप्तोक्तत्व-निश्चयस्य हेतुत्वे मानाऽभावः, बाधक-प्रमा-विरह-रूप-योग्यता-ज्ञान-विलम्बादेव अयोग्ये अन्वय-धी-विलम्ब-सम्भवात्। अन्यथा वेदेऽपि अपौरुषेयत्व-धीर्हेतुरस्तु। तथा च तत्राऽपि अमी वैदिकाः अर्थाः अन्विताः = परस्परं संसृष्टाः, व्यस्त-पुंदूषणाशङ्कैः पदैः स्मारितत्वादिति

आप्तोक्तत्व-निश्चयस्य शाब्द-बोध-हेतुत्वमेव न, कुतः तन्मूलमनुमानं संसर्ग-ज्ञापकमित्याह—आप्तोक्तत्वेति। ननु यदि आप्तोक्तत्व-निश्चयः न शाब्द-बोध-हेतुः तर्हि कथमनाप्त-वाक्येऽन्वयधी-विलम्बः? इत्यत्र समाधानमाह—बाधेति। तथा च योग्यता-ज्ञान-स्वरूप-शाब्दबोधकारणाभावादेव तत्र शाब्द-बोधाऽभावः, न तु आप्तोक्तत्व-निश्चयाभावात् इति आप्तोक्तत्व-निश्चयस्य शाब्द-बोध-हेतुत्वमसिद्धमिति भावः। अन्यथा = लौकिक-वाक्य-जन्य-बोधे आप्तोक्तत्व - निश्चयस्य हेतुत्वाऽभ्युपगमे। प्रतिबन्धिमाह—हेतुः = वैदिक-वाक्य-जन्य-बोध-हेतुः। कुतः इति—अपौरुषेयत्व-निश्चयेन दोषाभावे निर्णीते अनुमान-सामग्री पूर्णेत्यनुमानादेव संसर्ग-सिद्धेः वेदस्याप्यनुवादकत्वमेवास्थेयम् इति भावः। अन्विताभिधाने वेदस्याऽपौरुषेयत्वे च सत्यपि लोक-वेदयोरेतावानेव विशेषः—वेदे वक्तुरभावात् पदार्थानेव पक्षी-कृत्य तत्संसर्गः व्यस्त-पुंदूषणा-

[यदि लौकिक-वाक्य को अनुवादक मानने में इतना अभिनिवेश है तब वैदिक्य-वाक्य को भी अनुवादक मानने में क्या आपत्ति है? पुरुष-सुलभ-भ्रमादि-दोषाशङ्का से रहित पदों के द्वारा स्मारित होने के कारण 'अग्निमीले पुरोहितम्' आदि वाक्य-घटक पदों से उपस्थापित पदार्थ परस्पर-संसृष्ट हैं, इस प्रकार के अनुमान से तो वैदिक-वाक्य का भी अर्थ प्रतीत हो ही जाता है ॥ १५ ॥]

आप्तोक्तत्वनिर्णय को शाब्द-बोध का हेतु मानने मे कोई प्रमाण नहीं है। आप्तो-अनाप्त-वाक्य-घटक पदों से उपस्थापित पदार्थों में अन्वय-बोधाभाव तो आप्तोक्तत्वाभाव-प्रयुक्त नही अपि तु बाधक-प्रमाऽभावात्मक योग्यता के अभाव के कारण ही होता है। अन्यथा वैदिक वाक्यों के अर्थ-बोध में भी अपौरुषेयत्व-ज्ञान (निश्चय) को हेतु माना जा सकता है और इस तरह—ये वैदिक-वाक्य-घटक पदों से उपस्थापित पदार्थ 'अन्विताः' अर्थात् परस्पर-संसृष्ट हैं, क्योंकि

अनुमानात् संसर्गे निर्णीते, तत् = अनुवादकत्वम् वेदस्याऽपि न कुतः ?

यत्तु "पदं न करणम्, किन्तु पदार्थ एव, अत एव पदार्थ-करणक-वाक्यार्थ-ज्ञानात् कवि-काव्यादिकम्; द्वारमित्यत्र द्वारोपस्थितावपि पदार्थ-शङ्कैः पदैः स्मारितत्वादित्यनेन हेतुना साध्यः, लोके तु वक्तृ-ज्ञानावच्छेदकतयेत्युक्तम्पूर्व-कारिका-व्याख्यायाम्। परन्तु अनुमाना-त्संसर्ग-सिद्धिरित्यत्राऽविशेष एव। तथा च स्वीक्रियताम्वा वेदस्या-प्यनुवादकत्वम् तिरस्क्रियताम्वा लौकिकस्याप्यनुवादकत्वम् इति स्थितिरिति तात्पर्यम्। पदार्थस्य शाब्द-बोध-करणत्वमिति भाट्ट-मतं खण्डयितुकामः प्रथमम् तन्मतमाह—यत्त्विति। अयं हि भाट्टा-नामभिप्रायः—शाब्द-बोधे पद-ज्ञानं न करणम्, अपि तु पदार्थ एव। अन्यथा असन्निकृष्ट-विषयकतया प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तेः, व्याप्ति-ज्ञाना-भावेन च अनुमित्यप्रवृत्तेः, पदाभावेन पद-करणक-शाब्द-बोधा-भावाच्च संसर्गज्ञानाभावे अभिनव-काव्य-रचना नैव स्यात्, अपूर्व-वाक्यार्थ-ज्ञानाभावे अभिनव-काव्य-रचनाऽसम्भवात्। अतः तत्र चिन्ता-वशोपस्थिताः पदार्था एव अन्वय-बोधं जनयतीति अवश्यमेव स्वीकर्त्तव्यमिति यत्रापि पदादेव पदार्थोपस्थितिः तत्रापि पदार्थाना-मेवान्वय-बोधकत्वमभ्युपेयम्, पदानि तु तत्र पदार्थस्मरणं सम्पाद-यितुं समुपपुज्यन्ते, पदार्थजन्यान्वय-बोधं प्रति तु पदानामन्यथा-सिद्धत्वमेव। अतएव—

"पश्यतः श्वेतिमा-रूपं हेषा-शब्दं च शृण्वतः :
क्षुर-विक्षेप-शब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥"

अपि शब्दं विनैव उपपन्ना भवति। ज्ञानस्य शाब्दत्वं तु न शब्द-हेतुकत्वम् अपि तु शब्द-प्रयोज्यत्वमेव, तच्च नास्माकं मते क्षतम्। तथा चाहुर्मीमांसक-वृद्धाः—

पुरुष-दोष-सम्भावना-विनिर्मुक्त पदों के द्वारा उपस्थापित हैं—इस अनुमान से वाक्य-जन्य-ज्ञान से पूर्व हो वाक्यार्थ-बोध हो जाने से वैदिक-वाक्यों की भी 'तत्' अर्थात् अनुवादकता क्यों नहीं मान ली जाय ?

अब भाट्ट-सम्प्रदाय का मत है—पद शाब्द-बोध का करण नहीं है अपि तु पदार्थ को ही शाब्द-बोध का करण मानना चाहिए। अत एव अभिनव कवि के वाक्य-विन्यास से पूर्व अपेक्षित संसर्ग-ज्ञान की उपपत्ति हो जाती है, क्योंकि

निष्ठाकांक्षा-विरहेण अन्वयाऽबोधः, "शाब्दी हि आकांक्षा शब्देन एव पूर्यते" इति न्यायात्। अत एव पदानामवच्छेदकत्वम्, पद-जन्योपस्थितिं विना पदार्थाऽन्वयाऽबोधात्। तदुक्तम्—

"प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।"

"न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
यज्ज्वलन्ति हि काष्ठानि तत्किं पाकं न कुर्वते ?"

अत्र सामर्थ्यमित्यस्य प्रयोजकत्वं पदार्थोपस्थिति-जन-कतयेत्यर्थः इति।

ननु पदार्थस्यैव अन्वय-जनकत्वे द्वारमित्यस्य श्रवणानन्तरं प्रकरणादिना यत्र पिधेहीत्याद्यर्थस्य उपस्थितिः तत्रापि पदोपस्थित-प्रकरणाद्युपस्थितपदार्थयोः परस्परं संसर्ग-बोधः स्यात् इत्यत आह— द्वारमित्यत्रेति। द्वारोपस्थितावपि = द्वार-शब्द-श्रवणानन्तरम् पिधेहीत्याद्यर्थस्य प्रकरणादिना उपस्थितावपि इत्यर्थः। पिधेहीत्याद्युपस्थितावपीति पाठस्तु सुगमः। पदार्थ-निष्ठेति। अयमाशयः—शब्दोपस्थितस्य अर्थस्य शब्दोपस्थित-पदार्थान्तरेणैव आकांक्षा, स्वभावात्। अत एव श्रुतार्थापत्ति-स्थलेऽपि शब्द एव कल्प्यते इति द्वारमित्यादौ दोषो न इति। अवच्छेदकत्वम्=अन्वय-जनकत्वम्। अप्तानामिति-प्रक्षेपेणापीति। अयम्भावः— पदार्थेभ्यः पदानां प्रथमोपस्थितेः तेषामभिधातृत्वस्य च सम्प्रतिपन्नत्वात् अभिहितान्वय-वादिभिर्भाट्टैरपि तेषां पदानां वाक्यार्थ-हेतुभूत-तात्पर्यग्राहकत्वस्य च अभ्युपगमादन्वयम् प्रति पदानामेव

स्मृत पदार्थ-स्वरूप करण के द्वारा उस कवि को काव्य-रचना के पूर्व उत्प्रेक्षित पदार्थों के संसर्ग का शाब्द-ज्ञान हो जाता है। 'द्वारम्' कहने के बाद प्रकरणादि से 'पिधेहि' पदार्थ की उपस्थिति होती है, क्योंकि "शाब्दी आकांक्षा की पूर्त्ति शब्द से ही होती है अर्थ से नहीं" इस नियम के कारण 'द्वारम्' पदार्थ में अशाब्द 'पिधेहि' पदार्थ की आकांक्षा ही नहीं है। अतः प्राभाकर का यह मत— पद-जन्योपस्थिति के विना पदार्थों के अन्वयबोध नहीं होने से पद को ही शाब्द-बोध का कारण मानना चाहिए। यही बात आचार्य शालिकनाथ ने कही है:—

"पदार्थों की अपेक्षा पद की प्रथमोपस्थिति होने से, पदार्थ के अभिधायक होने से तथा वाक्यार्थ-हेतु-भूत-तात्पर्य-ग्राहक होने से पदार्थों को छोड़ कर पदों में ही शाब्द-बोध-जनकता मानना अच्छा है।"

अभिधातृत्वात् = पदार्थोपस्थापकत्वात्" इति गुरु-मतमप्यपास्तम्, पदानामित्यत्र आप्तानामिति-प्रक्षेपेणापि आप्तोक्तत्वस्य अच्छेद कत्वा-पातात्। तथा च अवश्य-स्वीकार्य-पदार्थोपस्थितौ पदमन्यथा-सिद्धं न करणम् इति, तन्न; पदार्थानामतीतादिरूपतया अकारणत्वात्, पदार्थ-स्मरणस्यापि निर्व्यापारतया अकरणत्वात्, पद-ज्ञानस्यैव करणत्वात्,

शक्तिः अभ्युपगम्यताम् न तु पदार्थानामिति हि श्लोकेन प्रतिपाद्यते, परन्तु यदि प्राथम्यादित्यादि-हेतुभिरेव पदानामन्वय-जनकत्वं तर्हि ततोऽपि उच्चारयितृत्वेन प्राथम्यात् आप्तोक्त-पद-ज्ञानस्य पदार्थोपस्थापकत्वात् आप्त-वक्तृक-तात्पर्य-ज्ञान-हेतुतया च आप्तानामेव अन्वय-बोधकता-शक्तिः अङ्गी-क्रियताम् किमर्थं पदस्येति भाट्टानाम् आशयः। भाट्ट-मुखेन गुरु-मतं निराकृत्य सम्प्रति पदार्थ-कारणता-वादि-भाट्ट-मतमपि खण्डयति—तन्नेति। तत्र हेतुमाह—पदार्थानामतीतेत्यादिना। कार्योत्पत्ति-पूर्व-वर्त्तिनः कारणत्वम्, तच्च अतीतस्य नास्तीति भावः। निर्व्यापारतयेति—व्यापारवदसाधारणं कारणं हि करणं नान्यदित्यर्थः। पद-ज्ञानस्य करणत्वे हेतुमाह—पदार्थ-स्मृतेरित्यादिना। तथा च पदस्यानित्यस्य अतीतत्वेऽपि स्व-व्यापार-द्वारा कार्याव्यवहित-प्राक्-क्षणावच्छेदेन वर्त्तमानतया करणत्वोपपत्तिः भवति।

'अभिधातृत्वात्' अर्थात् पदार्थोपस्थापक होने के कारण—समाप्त हो जाता है. क्योंकि इस दृष्टि से तो पद से प्रथमोपस्थित, पदार्थोपस्थापक-पद-प्रयोक्तृत्व के कारण पदार्थोपस्थापक तथा आप्त-वक्तृक-तात्पर्य-ज्ञान के हेतु 'आप्त' पुरुष को ही पदार्थान्वय-बोध का कारण मानना चाहिए और इस दृष्टि से प्राभाकर के श्लोक में पठित 'पदानाम्' के स्थान से 'आप्तानाम्' शब्द का प्रक्षेप कर प्राभाकर के प्रति अनिष्टापादन करना चाहिए। अतः उक्त-स्थल में भी पदार्थोपस्थिति के अत्यावश्यक होने के कारण पदार्थोपस्थापक पद अन्यथा-सिद्ध है, उसे कारण नहीं माना जा सकता है (यहाँ तक भाट्ट-सम्प्रदाय का मत प्रस्तुत किया गया है)। अब न्यायाचार्य उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि पदार्थ को शाब्द-बोध का करण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पदार्थ तो अतीत तथा अनागत भी हो सकते हैं और ऐसे पदार्थों में कार्य-नियत-पूर्व-वृत्तित्व-रूप शाब्द-बोध-निरूपित कारणत्व कैसे माना जा सकता है? पदार्थ-स्मरण भी करण नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यापार-रहित है। अतः पद-ज्ञान को ही शाब्द-बोध का करण मानना उचित है और उस पद-ज्ञान का व्यापार होगा पदार्थ-स्मरण जो

पदार्थ-स्मृतेर्व्यापारत्वात्। कवि-काव्यादि-स्थले च मानस - ज्ञानं हेतुरिति ॥ १५ ॥

ननु शब्दोऽतिरिच्यतां प्रमाणम्, स एव वाधकोऽस्तु। तथा हि—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार-विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।"

इति गीतां पठन्ति। प्रकृतेः = बुद्धितत्त्वस्य, गुणैः = सत्त्वादिभिः, क्रियमाणानि कर्माणि मोहात् अहं कर्त्तेति चेतनो मन्यते। तेन

यत्र तु पदं विनैव पदार्थ-ज्ञानात् संसर्ग-ज्ञानम् वाक्य-प्रयोग-मूल-भूतम् वक्तृ-निष्ठम् तत्रापि पदार्थाः न संसर्ग-ज्ञान-करणम् अपि तु मानान्तरमेव करणम् इत्याह—मानस-ज्ञानमिति। पदार्थ-ज्ञान-व्यापारकेण उत्प्रेक्षादि-सहकृतेन मनसैव अलौकिकं संसर्ग-ज्ञानं जातं सत् वाक्य-रचना-हेतुरिति तात्पर्यम् ॥१५॥

नास्तिकः पुनः शङ्कते—न न्विति। बाधकः = ईश्वर-बाधकः। अयमाशयः—जगत्कर्तृत्वेन ईश्वरः साधनीयः, तच्च न सम्भवति, जगत्कर्तृत्वस्य प्रकृतावेव प्रतिपत्तेः। उक्तार्थे आस्तिकानामेव वचनं प्रमाणयति—तथा हीति। न पारमार्थिकमिति—चेतनस्य आत्मनो निर्विकारत्वात् कृति-रूप-परिणामाऽसम्भवात् इत्यर्थः। विशेषदर्शनादिति—अभिमानो नाम भ्रान्तिः, सा च विशेषाऽदर्शनजन्या, सर्वज्ञस्य हि विशेषाऽदर्शनमनुपपन्नं सत् आभिमानिकत्वमपि व्यावर्त्तयतीति

शब्द-बोध से अव्यवहित पूर्व-क्षण में अवश्य ही रहता है। जहाँ पद-ज्ञान नहीं है—जैसे:—अभिनव-कवि के द्वारा बनाए जानेवाले काव्य के पूर्व अपेक्षित उत्प्रेक्षित पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान के प्रसङ्ग में—वैसे स्थलों में पदार्थ-व्यापारक उत्प्रेक्षादिसहकृत मन आदि को ही पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान का करण मानना चाहिए न कि पदार्थ या पदार्थ-स्मरण को ॥ १५ ॥

अस्तु, शब्द स्वतन्त्र प्रमाण है, परन्तु वह भी तो ईश्वर का वाधक है। अत एव—

"सभी कर्म तो परमार्थतः प्रकृति के परिणाम—बुद्धि—के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अहङ्कार से विमूढ़ आत्मा अपने को कर्ता समझता है—"

ऐसा गीता का कथन है। 'प्रकृतेः' अर्थात् बुद्धि-तत्त्व के, 'गुणैः' अर्थात् सत्वादि-गुण-त्रय के द्वारा किए जानेवाले कर्मों के कर्त्ता के रूप में, मोह के कारण, पुरुष अपने को समझता है। अतः यह सिद्ध है कि पुरुष में कर्तृत्व

आभिमानिकं कर्तृत्वम् न पारमार्थिकम्। न च सर्वज्ञस्याऽभिमानः, विशेष-दर्शनात्। कर्त्तेति तृन् इति न षष्ठी। अत्राह—

न प्रमाणमनाप्तोक्तिः नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्य-दृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥ १६ ॥

अयं हि सर्व-कर्तृत्वाभावाऽऽवेदकः शब्दः अनाप्तोक्तः चेत् न प्रमाणम्,

भावः। ननु अस्तु ईश्वरः असर्वज्ञ एव जगत्कर्त्ता इति चेत्? न, असर्वज्ञस्य जगत्कर्तृत्वाऽसम्भवात्, तथा सति अस्मदादिभिरन्यथा-सिद्धेश्च। न षष्ठीति—कर्त्ता इति यदि तृजन्तः स्यात् तर्हि "उभय-प्राप्तौ कर्मणि" इत्यनुशासनेन 'कर्माणि' इत्यत्र 'कर्मणाम्' इति स्यात्, तृन्नन्तत्वे तु 'न लोकाव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम्' इति सूत्रेण 'उभय-प्राप्तौ कर्मणि' इत्यस्य प्रतिषेधे द्वितीयोपपद्यते इत्यर्थः।

तदेतत् खण्डयितुमुपक्रमते—इत्यत्राहेति। अस्योत्तर-ग्रन्थस्याय-माशयः—यदि ईश्वराभाव-साधकम् आगमादि-वाक्यम् अनाप्त-

धर्म पारमार्थिक नहीं है अपि तु आभिमानिक है। यदि ईश्वर—जगत्कर्त्ता—सर्वज्ञ होता तो उसे अभिमान कैसे हो सकता था? अभिमान का अर्थ है भ्रम। यह भ्रम विशेषज्ञ ईश्वर को नहीं हो सकता है। अतः आत्म-मात्र में अभिमान एवम् अवास्तविक कर्तृत्व-मात्र का प्रतिपादन करनेवाला उपर्युक्त गीता-वचन यही सिद्ध करता है कि कोई आत्मा ऐसा नहीं है जो अभिमान-शून्य तथा वास्तव-कर्तृत्व-सम्पन्न हो। अतः अभिमानादि- रहित सर्वज्ञ आत्म-विशेष (परमात्मा ईश्वर) अप्रामाणिक है। गीता-वचन में 'कर्त्ता' शब्द 'तृन्' प्रत्यय से बना हुआ है, अत एव 'कर्म' शब्द से षष्ठी नहीं हुई है।

अब शब्द की ईश्वर-बाधकता का निरास कर रहे हैं:—

[अनाप्त व्यक्ति का कथन कभी प्रमाण नहीं होता और जिसे पदार्थ-संसर्ग का ज्ञान नहीं है उस व्यक्ति को आप्त भी नहीं कहा जा सकता है। अतः वेदादि आगम-निगम के प्रामाण्य के लिए उसके वक्ता मे आप्तत्व और उस आप्तत्व के उपपादन के लिए उस वक्ता में वेद-वाक्यावगम्यमान सेन्द्रियातीन्द्रिय-पदार्थ-मात्र को देखने की शक्ति से सम्पन्न होने की स्थिति जब आवश्यक है तब सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि तो निर्बाध है। वेद को नित्य मानकर तद्वक्ता के अभाव-साधन की तो कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि वाक्यत्वादि हेतु से वेद की अनित्यता सिद्ध है ॥ १६ ॥]

यदि सर्व-कर्तृत्वाभावावेदक शब्द अनाप्तोक्त है तब तो वह प्रमाण ही

आप्तोक्तश्चेत् एतदर्थ-गोचर-ज्ञानवतो नित्य-सर्व-विषयक-ज्ञानवत्त्वम्, इन्द्रियाद्यभावात्। आगमस्य च नित्यत्वम् दूषितमेव प्राक् इति वेदकारो नित्यः सर्वज्ञः सिद्धयति ॥ १६ ॥

न न्वसत्त्व-बोधकानामागमानां का गतिः ? तत्राह—

न चाऽसौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरञ्जनाऽवबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥१७॥

प्रणीतम् तर्हि तस्य न प्रामाण्यमिति त तद्बलादीश्वरासिद्धिः। अदृष्टे = वाक्यार्थ-ज्ञान-विरहवति पुरुषे वेदादि-कर्त्तृत्वेन स्वीकृते अपि तस्य कर्त्तुः न आप्ततेति पूर्ववदेव अप्रामाण्यम् तथाविध-वाक्यस्येति नेश्वर-बाधः। अथ वेदप्रामाण्योपपादनाय तत्प्रणेतुः आप्तत्व-सिद्धये अदृष्टस्य अतीन्द्रियार्थस्य (वाक्यार्थस्य) द्रष्टृत्वमभ्युपेयते तर्हि सर्वज्ञः वेदादि-कर्त्ता सिद्धयतीति स एवेश्वरः अस्माकम्। वेदस्य प्रामाण्यमन्तरा तद्बलेन पदार्थ-सिद्धयसिद्धयभावः, तत्प्रामाण्यं च आप्त-प्रणीतत्वेनैव सम्भवति, आप्तत्वं च अतीन्द्रियार्थ-ज्ञान-विरहवति नैव सम्भवतीति कश्चन अतीन्द्रियार्थ-दर्शी पुरुष-विशेषः अङ्गीकार्यः इतीश्वर-सिद्धिरिति तु सारम्। वेदस्य च प्रवाहनित्यतया प्रामाण्यं नाभ्युपगन्तुं शक्यम्, प्रलयस्य पूर्वं साधितत्वादिति न शब्दः ईश्वरे बाधक इति। एतदेव विवृणोति वृत्ति-कृत्—अयं हीत्यादीना। नित्यत्वम् = प्रवाह-नित्यत्वम्। प्राक् = द्वितीयस्तबके इत्यर्थः ॥१६॥

नहीं है फिर उससे ईश्वराभाव-साधन की बात तो दूर रही। यदि वह आगम-निगम आप्तोक्त है तब उसके वक्ता में वाक्य-प्रतिपादित-सकल-पदार्थ-ज्ञान-युक्तत्व मानना पड़ेगा और इससे इन्द्रियादि-रहित ईश्वरात्मक वेदादि-वक्ता में नित्य-सर्व-विषयक-ज्ञानवत्त्व सिद्ध हो जाता है। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि आगम नित्य नहीं हो सकता। अतः वेद-कर्तृत्व-सम्पन्न नित्य सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि में आगम-प्रमाण बाधक नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

तो ईश्वराभाव-साधक आगम की क्या दशा होगी ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं:—

[यह आगम आत्मा में केवल कर्तृत्व के असत्व का प्रतिपादन करता है, ऐसी बात तो नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व के सत्त्व का भी प्रतिपादन मिलता है। इस लिए उत्पत्ति के आधार पर यही सिद्ध होता है कि असत्त्व-प्रतिपादक आगम का तात्पर्य विशेष-गुण-शून्य आत्म-स्वरूप में ध्येयत्व के अवबोधन में है न कि उसमें कर्तृत्व के अभाव के बोधन में ॥ १७ ॥]

असौ = आगमः, न असत्त्व-मात्र-पक्ष एव, सत्त्वस्यापि बहुशः "मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यादिभिः प्रतिपादनात् । द्वयोश्च न मुख्यार्थत्वम्, विरोधात् । विनिगमक-चिन्तायां विशेष-गुण-शून्यात्म-स्वरूपस्य ध्येयत्व-तात्पर्यकत्वम् बाधक-श्रुतीनाम्, साधक-श्रुतीनाञ्च कार्य-कारण-भावादि-तर्क-मूलकानुमान-साचिव्येन मुख्यार्थकत्वात् ॥ १७ ॥

ननु यद्यसौ सर्वज्ञः स्यात्, अनुपदिश्यापि प्रवर्त्तयेत् इत्युपदेशानु-

न चासावित्यादि । असौ = आगमः, क्वचित् = अकर्त्तृकत्व-पक्षे एव, एकान्तः = नियतः न, कथमित्यत आह—सत्त्वस्यापि = कर्त्तृत्वस्याऽपि, प्रवेदनात् = आगमे प्रतिपादनात् । अतः सन्नपि असत्त्व-प्रतिपादक आगमः, तत्परः = कर्तृत्वाऽभाव-साधनपरः, परमार्थतः न, अपि तु निरञ्जनस्य = निर्विशेषगुणस्य, अवबोधने पर्यवसन्न इत्यर्थः । तदेत-त्संगृह्णाति वृत्ति-कृत्—असावित्यादिना । विरोधादिति—विरोध-स्वीकारे उभयोरप्रामाण्यापत्तिः इति भावः । बाधक-श्रुतीनां गौणार्थकत्वे विनिगमकमाह—विनिगमकेति । कार्य-कारणेत्यादि—एतच्च पञ्चमे उपपादयिष्यते ॥१७॥

अर्थापत्तेरीश्वर-बाधकत्वमाशङ्कते—नन्विति । अयमाशयः—सर्व-ज्ञत्वस्य मध्ये उपदेशमदत्त्वैव प्रवर्त्तनोपाय-ज्ञानमपि वर्तते इति सर्व-ज्ञत्वेन अभिमते ईश्वरे तदावश्यकम् । तथा च असौ सर्वज्ञः सर्व-कर्त्ता वेदाननुपदिश्यैव ज्योतिष्टोमादौ पुरुषान् प्रवर्त्तयितुं शक्य-

'असौ' अर्थात् यह आगम-प्रमाण, आत्मा में केवल कर्तृत्व के अभाव के साधन में ही नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व का भी प्रतिपादन "मत्तः सर्वम् प्रवर्त्तते" इत्यादि वाक्यों में मिलता है । कर्तृत्वाभाव-प्रतिपादक तथा कर्तृत्व-प्रतिपादक इन दोनों प्रकार के आगमों की मुख्यार्थता, परस्पर-विरोध के कारण, उपपन्न नहीं है । किस प्रकार का आगम मुख्यार्थ-पर्यवसन्न है—इस पर विचार तथा युक्ति-प्रत्यय करने पर यही सिद्ध होता है कि कार्य-कारण-भावात्मक तर्क पर निर्भर अनुमान से सहकृत कर्तृत्व-साधक श्रुति मुख्यार्थ-पर्यवसायिनी है और कर्तृत्वाभाव-प्रतिपादक श्रुति उपचरितार्थक—विशेष-गुण-शून्य आत्मा के ध्येयत्व का प्रतिपादक—है । एवञ्च आगम-प्रमाण से आत्मा में कर्तृत्वाभाव सिद्ध नहीं है । अतः जगत्कर्तृत्वेन आत्म-विशेष नित्य-सर्वज्ञ ईश्वर का अनुमान निर्दुष्ट है ॥ १७ ॥

अब पूर्व-पक्ष है:—यदि ईश्वर में वेद के द्वारा यज्ञादि को कर्त्तव्यता के

पपत्तिरेव अस्तु ईश्वरे बाधिका। न ह्ययम् अनुपदिश्य स्वयं प्रवर्तयितुं न जानाति, असार्वज्ञ्यापत्तेः; अर्थापत्तिश्च मानान्तरम्। तत्राह—

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न[1] कर्म-वादेऽप्ययं विधिः ॥ १८ ॥

त्येवेति वेदोपदेश न तेन कृत स्यात्। परन्तु वेदोपदेशः कृत इति तदुपदेष्टुः उपदेशं विनापि यः प्रवृत्ति-निवृत्त्युपायस्तस्याऽज्ञानादेव सर्वज्ञत्वाभावे सिद्धे तस्य वेद-निर्मातृत्वे वेदस्याप्रामाण्यं स्यात् इति अगत्या नित्यत्वेनैव वेदस्य प्रामाण्यमास्थेयमिति न वेदकर्तृत्वेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सिद्धिरिति। सर्वज्ञत्वे उपदेशाऽनुपपत्तिः, परन्तु उपदेशः कृतः, स च ईश्वरस्य असार्वज्ञमन्तराऽनुपपद्यमानः ईश्वरस्याऽसार्वज्ञं कल्पयतीति नापि वेद-कर्त्तृत्वेन नाऽपि जगत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिरिति तु पूर्व-पक्षस्य परमार्थः। उत्तरमाह—तत्राहेति। यतः हेत्वभावे फलाभावः इति सामान्य-नियमः अतः प्रवृत्ति-प्रयोजकेष्ट-साधनत्व-ज्ञापके "अग्निष्टोमेन स्वर्ग-कामः यजेत" इत्यादि-प्रमाणे असति अग्निष्टोमादि मदिष्ट-साधनमिति-रूपा प्रमा न भवितु-

प्रतिपादन के विना ही यज्ञादि मे लोगों को प्रवृत्त कराने का ज्ञान नहीं है तब तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, इस लिए उसमें कर्त्तव्योपदेश के विना ही प्रवृत्त कराने का परिज्ञान मानना होगा। एवञ्च 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतम् व्रजेत् ''इस न्याय से यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसे वेद-निर्माण के विना ही लोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रयोजक होना चाहिए था, परन्तु वस्तु-स्थिति तो यह है कि उसे वेदोपदेशक मानते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वेदोपदेश की उपपत्ति उसके असर्वज्ञत्व के अभ्युपगम के विना नहीं हो सकती है। इस लिए उपदेशान्यथानुपपत्ति से आत्मा में सार्वज्ञ्य-प्रतिषेध हो जाने पर तथाविध आत्म-विशेष ईश्वर की सत्ता अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतिपिद्ध हो जाती है। अब इस पूर्व-पक्ष का उत्तर दे रहे हैं:—

['कारणाभावे कार्याभावः' इस सामान्य-नियम के अनुसार यह सिद्ध है कि यदि प्रमात्मक कार्य का कारण, प्रमाण, न हो तो प्रमात्मक कार्य की उपपत्ति नही हो सकती है। अतः यदि वेदात्मक प्रमाण नहीं रहेगा तो यज्ञादि में इष्ट-साधनता-प्रमा के अभाव होने से उसमें किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि इष्ट-साधनता-ज्ञान के विना प्रवृत्ति-मात्र नहीं होता है। यदि ऐसा नही माना

१. प्रवृत्तिर्नो इति पाठः क-पुस्तके।

प्रमाणेऽसति = प्रमाण-रूप-हेत्वभावे, न प्रमा, फलाऽभावात् = प्रमा-विरहात्। प्रमा-विरहे च न प्रवृत्तिः, कारणाभावात्। प्रमा-कारणं च अग्निष्टोमेनेत्यादि-विधिरेव इति नोपदेशव्यर्थता। अन्यथा, कर्म-

मर्हति इति तत्फलस्य अग्निष्टोमादि-विषयक-प्रवृत्तेः अभाव एव, अस्मदादीनाम्प्रवृत्तेरिष्ट-साधनता-ज्ञान-जन्यत्व-नियमात्। तदेतदर्थतः संगृह्णाति—प्रमाण-रूप-हेत्वभाव इत्यादिना। तथा च उपदेशाभावे अस्मदादीनाम्प्रवृत्तेः खपुष्पायिततया उपदेशान्यथानुपपत्त्या उपदेशम्विनैव यः प्रवर्त्तनोपायः तस्याज्ञानम् असिद्धं सत् न सर्वज्ञत्व-व्याघातकमिति नेश्वरे अनुपपत्तिरिति फलतीत्याह—प्रमा-कारणमित्यादिना। एवञ्च प्रवृत्त्यै उपदेशस्यावश्यकत्वम्, तदुपपत्तये च सर्वज्ञस्य ईश्वरस्याप्युपदेष्टुः सिद्धिः, प्रवाह-नित्यत्वं च वेदस्य निराकृतमेवेति न किमपि बाधकमीश्वरे इति बोध्यम्।

अन्यथा = इष्ट-साधनत्वोपदेशाऽभावेऽपि प्रवृत्तौ सत्याम् इत्यर्थः। अत्र पक्षे दोषमाह—कर्म-वादेऽपीति। कर्म-जन्यादृष्टादेव जगदुत्पद्यते न तु ईश्वरादिति मीमांसक-मतेपीत्यर्थः। अयं विधिरिति मूलस्य व्याख्यानम्—अदृष्टादेवेत्यादि। आनर्थक्यापत्तिः इति—उपदेशस्य प्रवर्त्तकत्वाभावे अभ्युपगते अदृष्टेनैव सर्वत्र प्रवृत्ति-सम्भवे इष्ट-साधनत्व-बोधक-वेदस्यानर्थक्यापत्तिः। वस्तुतः "अग्निष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादौ कामनाया अपि स्वर्ग-साधनत्वश्रुतिः, कामना च नेष्ट-साधनत्व-ज्ञानमन्तरा, इष्ट-साधनत्व-ज्ञानं च नाप्तोपदेशं विना इति प्रवृत्तावुपदेशापेक्षणमागतमेवेति स्थितौ तदर्थस्य अलौकिक-

जाय तब तो मीमांसा के सिद्धान्त के अनुसार भी अदृष्ट से ही प्रवृत्ति हो जायगी फिर वेद तो निरर्थक ही हो जायगा॥ १८॥]

'प्रमाणेऽसति' अर्थात् प्रमाण-स्वरूप हेतु के अभाव में, प्रमा नहीं हो सकती है। 'फलाभावात्' का अर्थ है प्रमा के अभाव होने से। प्रमा के अभाव में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि (इष्ट-साधनत्व-) प्रमा ही प्रवृत्ति का कारण है। उस इष्ट-साधनत्व-प्रमा का कारण तो "अग्निष्टोमेन यजेत" इत्यादि वैदिक-विधियाँ ही हैं, अतः वेदोपदेश अनर्थक नहीं होता है। यदि ऐसा न मानें तब तो मीमांसा के कर्म-वाद के प्रसङ्ग में भी यही आपत्ति दी जा सकती है कि अदृष्ट से ही लोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति हो जाएगी, और प्रवर्तक तथा अनिष्ट-

वादेपि, अयं विधिः = अदृष्टादेव प्रवृत्तेरुपपत्तेः वेदस्यानर्थक्यापत्तिः ॥१८॥

न वा अर्थापत्तिर्मानान्तरम्, तदेवाह—

अनियम्यस्य नाऽयुक्तिः नाऽनियन्तोपपादकः ।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाऽप्यसौ समः ॥ १९ ॥

जीवी देवदत्तः गृहे नास्तीति ज्ञानानन्तरम् बहिरस्तीति धीः उदा-

त्वेन च अस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वान्नोपदेशकत्वमस्मदादीनाम् इति उपदेशकस्य सर्वज्ञस्य सिद्धौ न किमपि वाधकमिति बोध्यम् ॥१८॥

पूर्वमर्थापत्तिमभ्युपगम्य तस्याः ईश्वरे बाधकत्वम् उदस्तम्, सम्प्रति अर्थापत्तेः प्रमाणत्वमेव निरसयितुमाह—न वा इति ।

अत्रेदं बोध्यम्—अर्थापत्तिः पृथक्प्रमाणमिति मीमांसकाः । तत्र "अर्थापत्तिरपि यत्र दृष्टः श्रुतो वा अर्थोऽन्यथा न उपपद्यते इत्यर्थ-कल्पना" इति शाबर-भाष्यम् । अत्र चायं निष्कर्षः—अर्थापत्ति-शब्दः अर्थस्य = रात्रि-भोजनादिरूपस्य, आपत्तिः = कल्पनम्, इति तत्पुरुष-व्युत्पन्नः प्रमाण-फलप्रतिपादकः, अर्थस्य = रात्रि-भोजनादेः, आपत्तिः = कल्पनं यस्याः इति बहुव्रीहि-निष्पन्नश्च प्रमाण-परः । उपर्युक्त-भाष्यानुसारेण उपपाद्य-ज्ञानम् उपपादक-ज्ञान-कल्पन-हेतु-भूतम् अर्थापत्तिः प्रमा (= प्रमाण-फलम्) इति लभ्यते । योऽर्थः अन्येन केनचित् कल्पनीयेन विना न सम्पद्यते स उपपाद्यः, यथा

निवर्त्तक वेद निरर्थक है ॥ १८ ॥

दूसरी बात यह भी है कि अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण भी नहीं है—यही बात इस कारिका में बतला रहे हैं:—

[अव्याप्य पदार्थ की ही व्यापक के विना अनुपपत्ति नहीं होती है और जो अनुपपद्यमान का व्यापक नहीं है वह उस अनुपपद्यमान का उपपादक भी नहीं हो सकता है । अतः उपपाद्यज्ञान-कल्प्य उपपादक-ज्ञान तो व्याप्य-ज्ञान-जन्य-व्यापक-ज्ञानात्मक अनुमान ही है । यह भी कहना उचित नहीं है कि प्रमाणद्वय में आपन्न विरोध का परिहार अर्थापत्ति प्रमाण का कृत्य है, क्योंकि प्रमाणों में परस्पर-विरोध हो नहीं सकता । फिर भी यदि अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना ही है तब अनुमान के विषय में भी यह कहना अनुचित न होगा कि पर्वत में वह्नि के न होने पर अनुपपद्यमान धूम से तदुपपादक-वह्नि का ज्ञान भी अर्थापत्ति-लभ्य है और अनुमान निरर्थक है ॥ १९ ॥]

'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस ज्ञान के बाद उपपाद्य—'जीवित्वे सति

हरणम्। तत्र अनियम्यस्य = अव्याप्यस्य, न अयुक्तिः = न अनुपपत्तिः। अनियन्ता = अव्यापकः, नोपपादकः, व्यापक-व्यतिरेकेण व्याप्यस्यैव

दिवाऽभुञ्जानस्य देवदत्तस्य स्थूलत्व-रूपोर्थः रात्रि-भोजन-कल्पनमन्तरा नोपपद्यते इति स्थूलत्वमुपपाद्यम्। यस्य च कल्पनीयस्य अर्थस्य अभावे सति उपपाद्यस्य उपपत्तिः न, स कल्पनीयोऽर्थः उपपादकः, यथा रात्रि-भोजनस्य कल्पनं विना उपपाद्यं दिवाऽभुञ्जाने देवदत्ते स्थूलत्वं न उपपद्यते इति रात्रि-भोजन-ज्ञानमुपपादकम्। तत्र उपपाद्येन दिवाऽभुञ्जाने देवदत्ते दृश्यमानेन स्थूलत्वेन उपपादकस्य रात्रि-भोजनस्य कल्पनमर्थापत्ति-प्रमाणस्य उपपाद्य-स्थूलत्व-ज्ञानस्य फलम् अर्थापत्ति-प्रमेति। सा चेयमर्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टाऽर्थापत्तिः, श्रुताऽर्थापत्तिश्च। यत्रोपपाद्य-ज्ञानं दृष्टम् = शब्दातिरिक्त-प्रमाण-पञ्चकाऽन्यतमावगतम्, सा दृष्टार्थापत्तिः, यत्र च उपपाद्य-ज्ञानं शाब्दम् सा श्रुतार्थापत्तिरिति भेदः। यद्यपि—

"प्रमाण-षट्क-विज्ञातो यत्रार्थो नाऽन्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यम् सार्थापत्तिरुदाहृता॥"

इति-श्लोक-वार्त्तिकानुरोधेन एक-विधैव अर्थापत्तिरिति प्रतीयते तथाऽपि शाब्दस्योपपाद्य-ज्ञानस्य गो-बलीवर्दन्यायेन ब्राह्मण-वशिष्ठन्यायेन वा पृथग्गणनमभिप्रेत्य द्विधा विभागः कृतः। अतः श्लोकवार्त्तिकेऽपि तथैव व्याख्यानम्। एक-विधा षड्विधा वाऽर्थापत्तिरिति तु परमार्थः। तदेतन्मतं खण्डयितुं प्रथमं तत्सम्मतामर्थापत्तिं निदर्शनमुखेन प्रतिपादयति वृत्ति-कृत्—जीवीत्यादिना। उदाहरणम्—अर्थापत्तेः सम्मतं मीमांसक-वृद्धानामिति शेषः। खण्डयति—तत्रेत्यादिना। अनियम्यस्येति—नियमो व्याप्तिः, तत्प्रतियोगी नियम्यः व्याप्यः उपपाद्यः इति पर्यायः, तद्भिन्नः अनियम्यः इत्याशयेन व्याचष्टे—अव्याप्यस्येति। नायुक्तिरित्यतः पूर्वम् अनियामकं विना इति पूरणीयम्। व्यतिरेकादिति—तथा च येन विना यदनुपपन्नं तत्तस्य व्याप्यम्

गृहाऽसत्वम्'—के ज्ञान से उपपादक—बहिःसत्त्व—का ज्ञान ही अर्थापत्ति प्रमाण के फल का उदाहरण है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि 'अनियम्यस्य' अर्थात् जो उपपादक का व्याप्य नहीं है उसको 'न अयुक्तिः' अर्थात् अनुपपत्ति नहीं होती है, और जो 'अनियन्ता' अर्थात् उपपाद्य का व्यापक नहीं है वह उस उपपाद्यत्वेन अभिमत पदार्थ का उपपादक नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यापका-

व्यतिरेकात्। तादृशानुपपत्ति-ज्ञाने व्यतिरेक-व्याप्ति-धीरेव।

यदपि क्वचिदस्ति गेहे नास्तीति ज्ञानानन्तरम् विरोध-ज्ञानेऽविरोधाय गेहान्य-विषयता क्वचिदस्तीत्यस्य इत्यर्थापत्तिः इति; तदपि न, न हि मानयोः वास्तवो विरोधः, तथा सति एकं मानं भज्येत। विरोध-

इति न्यायः प्रदर्शितः। व्यतिरेक-व्याप्तिधीः एवेति। तथा चायं प्रयोगः—देवदत्तः बहिर्वर्त्तमानः जीवित्वे सति गृहासत्वात्, यत्र-यत्र बहिः-सत्वाभावः तत्र तत्र जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वाभावः, यथा अहम्, न चायं देवदत्तः जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वाभाववान्, तस्मात् बहिः-सत्त्ववानिति व्यतिरेकानुमानेन देवदत्तस्य बहिः-सत्त्वे प्रमिते न प्रमेयान्तरमस्ति यदर्थम् अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वमाद्रियेतेत्यर्थः।

अत्रापरे अर्थापत्ति-प्रामाण्य-वादिनः प्रतिपादयन्ति—देवदत्तस्य सत्त्वं शब्द-प्रमाण-सिद्धम्, तस्य गृहाऽसत्त्वं च प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्धम्। तत्र सत्त्वस्य प्रामाण्ये असत्त्वस्य प्रत्यक्ष-प्रमाणसिद्धस्य प्रामाण्यं विरुद्ध्यते, असत्त्वस्य च प्रामाण्ये सत्त्वस्य प्रामाण्यं विरुद्ध्यते इत्येकतरप्रमाणेनाऽपि प्रमोत्पत्त्यसम्भवात् अर्थापत्तेः पृथक्प्रमाणत्वाभ्युपगम आवश्यकः। अनेन च प्रमाणेन आगम-प्रमाण-सिद्धस्य सत्त्वस्य बहिर्विषय-कत्वम् प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्धस्य च असत्त्वस्य गृह-विषयकत्वं व्यवस्थापयता उभयोः प्रदर्शितो विरोधः परिहृतो भवतीति, तन्मतमाह वृत्ति-कृत्—यदपीत्यारम्भ अर्थापत्तिरित्यनेन ग्रन्थेन। ज्ञानानन्तरम् = परस्पर-विरुद्ध-विषय-ज्ञान-द्वयानन्तरत्। अत्र क्वचिदस्तीति ज्ञानानन्तरम् गेहे नास्तीति विरोध-ज्ञाने इति पाठस्तु सुकरः। अर्थापत्तिः = अर्थापत्ति-प्रमाण-कृत्यम् इत्यर्थः। एतन्मतमपि खण्डयति—तदपि

भाव से ही व्याप्याभाव की स्थिति होती है। एवञ्च उपर्युक्त अनुपपत्ति-ज्ञान में व्यतिरेक-व्याप्ति—यत्र यत्र बहिः-सत्त्वाभावः तत्र तत्र जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वाभावः—पर निर्भर अनुमान प्रमाण ही पर्याप्त है।

यह जो अर्थापत्ति के विषय में मतान्तर है—प्रमाणसिद्ध सत्त्व तथा प्रमाणान्तर-सिद्ध गृहासत्त्व में परस्पर-विरोध से आपन्न सत्त्वाऽसत्त्व-साधक-प्रमाणद्वय-विरोध का अर्थापत्ति-प्रमाण प्रमाण-द्वय-के विषय, प्रदेश—सत्त्व का बहिःप्रदेश तथा असत्त्व का गृह-प्रदेश—के निर्धारण के द्वारा निरास करता है—उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण-द्वय में यथार्थ विरोध की कोई सम्भावना ही नहीं है। जहाँ प्रमाण-द्वय में वास्तव विरोध दीखता है वहाँ यह समझना

ज्ञानस्य विषय-भेद-व्यवस्थापकत्वमनुमानविधयैव। तथा हि विरोधो भिन्न-विषयकः, एक-विषयतायाम् विरुद्धत्वे सति प्रमाण-सिद्धत्वादिति। अन्यथा धूमोऽप्यनुपपद्यमानो वह्निं गमयेदित्यर्थापत्तिरिति प्रसिद्धमनुमानं न स्यात्। अर्वाग्भागावच्छेदेन वह्न्यनुपलम्भः, धूमश्च वह्नि-साधनमिति विरोधेऽपर-भागावच्छेदेन वह्नि-व्यवस्थापनमप्यर्थापत्तेरेव स्यात्। अनुमानाऽभावेऽपि व्याप्ति-ग्राहक-मानस्य वह्नि-साधकत्वमप्यर्थापत्तेरित्यनुमान-विलोपः स्यात् ॥ १९ ॥

नेत्यादिना। वास्तव इति—गृहावच्छिन्नेन देवदत्ताभावेन गृहसत्त्वमेव समान-विषयतया प्रतिक्षिप्यते न तु सत्त्वमात्रम्, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोर्विषयभेदेन विरोधाऽभावात्। तथा च यदुक्तं पूर्वम् सत्त्वावेदकस्य आगमस्य प्रमाणस्य असत्त्वावेदकेन प्रत्यक्ष-प्रमाणेन विरोध इति तत् निरस्तम् इति विवेचनीयम्। अत्र वृत्तौ विरोध-ज्ञानस्येति ग्रन्थस्तु आपाततः इति चिन्त्यम्। शेषश्च ग्रन्थः स्पष्टार्थः। तथा च अर्थापत्तेरनुमान-विधयैव प्रामाण्ये स्वतन्त्र-प्रमाणत्वाऽभावेन अनुमानस्य ईश्वरे बाधकत्वाभाव-प्रतिपादनेनैव अर्थापत्तेरपि बाधकत्वं निरस्तम् इति ईश्वर-सिद्धौ न किमपि बाधकमिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

चाहिए कि उन दोनों में एक प्रमाणाभास ही है। परस्पर विरुद्ध ज्ञान-द्वय में प्रदेश-निर्धारण के द्वारा विरोध-परिहार भी अनुमान-प्रमाण से ही साध्य है। जैसे—प्रमाण-द्वय में आपन्न विरोध भिन्न-विषयक है, क्योंकि दोनों में एक-विषयत्व मानने पर दोनों में विरोध बने रहने से तथा दोनों के प्रमाण-सिद्ध होने से। यदि इतना होने पर भी अर्थापत्ति के प्रति अभिनिवेश है तब तो वह्नि की सत्ता माने बिना पर्वत में अनुपपन्न धूम भी (अर्थापत्ति-प्रमाण से ही) वह्नि का प्रतिपादन कर देगा, फिर प्रसिद्ध अनुमान को ही क्यों आप (मीमांसक) मानते? इसी प्रकार, पर्वत के नीचे के हिस्से में वह्नि नहीं है—यह प्रमाण सिद्ध है और पर्वत में धूम है—यह भी प्रमाण-सिद्ध है, अब इन दोनों में आपन्न विरोध का समाधान भी अर्थापत्ति प्रमाण से ही हो जायगा कि नीचे के हिस्से से भिन्न हिस्से में वह्नि है। अनुमान के न मान पर भी व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण का वह्नि-साधकत्व अर्थापत्ति प्रमाण से ही सिद्ध हो जा सकता है। इस प्रकार अर्थापत्ति-प्रमाण से ही सारे कृत्य के सम्पादन हो जाने से प्रसिद्ध अनुमान प्रमाण का लोप ही हो जायगा। अतः बहु-वादि-सम्मत अत एव प्रसिद्ध अनुमान-प्रमाण के विलोप की अपेक्षा अल्प-वादि-सम्मत अर्थापत्ति का विलोप ही उचित है ॥ १९ ॥

अनुपलब्धिश्च न ईश्वरे बाधिका इति योग्याऽदृष्टिः इत्यादिना उक्तम् । वस्तुतः अनुपलब्धिर्मानान्तरमेव न इत्याह—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात् इन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञात-करणत्वाच्च भावाऽऽवेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥

यत्राऽज्ञातानुपलब्धिः कारणम् तत् प्रत्यक्षम्, ज्ञाताऽनुपलब्धि-जन्याऽ-

यत्रेत्यादि । अयमाशयः—द्वयी हि ज्ञानत्वाऽवान्तर-जाती—अपरोक्षत्वं परोक्षत्वं च । तत्र यदपरोक्षत्व-रहितं तत्परोक्षम् यच्च परोक्षत्व-रहितं तदपरोक्षम् इति व्यवस्था । तत्र ज्ञाने परोक्षत्वस्य प्रयोजकम् ज्ञात-करण-जन्यत्वम्, अनुमाने ज्ञायमान-लिङ्गस्य, शाब्दे ज्ञायमान-पदस्य, उपमितौ ज्ञायमान-सादृश्यस्य च करणत्वात् । एवं च यत्र ज्ञाता अनुपलब्धिः कारणम् (यथा विद्यालयादागतं चैत्रं मैत्रः पृच्छति—किम्भोः, अपि उपलब्धः देवदत्तः तत्र ? चैत्रः कथयति—न हि तत्र देवदत्तः । अनन्तरं श्रोता अनुपलब्धिं ज्ञात्वा अनुमिनोति—नूनं नासीदेव तत्र देवदत्तः इति । नहि देशान्तरस्थस्य श्रोतुः योग्यानुपलब्धिरस्ति किन्तु आप्त-वाक्यावगतयाऽनुपलब्ध्याऽनुमिनोत्येव देवदत्ताभावम्) । तत् ज्ञानम् अनुमित्याद्यात्मकं सत् परोक्षमिति स्थितौ यत्र स्वरूप-सती अनुपलब्धिः कारणं तज्ज्ञानम् अवश्यमेवापरोक्षात्मकमभ्युपेयमिति, तदाह—अज्ञातानुपलब्धिरिति । अवश्यं च स्वरूप-सत्याः अनुपलब्धेः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा अनुपलब्धेरपि ज्ञाताऽनुपलब्ध्यन्तर - जन्यत्वेन अनवस्थानाद-

अनुपलब्धि से ईश्वर का बाध तो हो नहीं सकता है—यह विषय 'योग्याऽदृष्टिः कुतोऽयोग्ये' इस कारिका की व्याख्या में कहा जा चुका है। सत्य तो यह है कि अनुपलब्धि कोई स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं है। यही बात कारिका में कह रहे हैं:—

[अभाव-ज्ञान के अपरोक्षात्मक होने से, अभावाधिकरण-ग्रहण मात्र में इन्द्रिय के क्षीण-सामर्थ्य न होने से, अज्ञात-करणक, अर्थात् स्वरूप-सत्-कारण-जन्य, ज्ञान होने और वाह्येन्द्रिय के विना बाह्य-पदार्थ-ज्ञान में मन के असमर्थ होने से यह सिद्ध है कि अभाव-ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य है ॥ २० ॥]

तात्पर्य यह है जिस ज्ञान में अज्ञात अनुपलब्धि कारण है वह तो प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है और जिस ज्ञान में ज्ञात अनुपलब्धि कारण हो वह ज्ञान अनुमिति के

भाव-ज्ञानस्याऽनुमानत्वात्। जन्याऽपरोक्ष-ज्ञानस्य च इन्द्रिय-जन्यत्वात्। अपरोक्षत्वञ्च ज्ञान-करणकान्यत्वम्।

घटादि-प्रत्यक्ष इव घटाभावाध्यक्षेऽपि इन्द्रियस्य अनुपक्षीणत्वात्

व्यवस्था स्यात्। न च ज्ञाताऽज्ञातोभय-विध - जन्यत्वस्य अपरोक्षत्व-प्रयोजकत्वं परोक्षत्व-प्रयोजकत्वमेव वा शक्यं निर्वक्तुम्, तथा सति कारण-वैचित्र्यानुपपत्तेः, परोक्षज्ञान-जनकस्य लिङ्गादेरपि कदाचित् सत्तया हेतुत्वम् अपरोक्ष-ज्ञान-हेतोरपि इन्द्रियादेः कदाचित् ज्ञायमानतया ज्ञान-जनकत्वं च प्रसज्येत। तथा च परोक्षत्वस्य ज्ञायमान-करण-जन्यत्व-व्याप्तेः यत्र स्वरूपसती अनुपलब्धिः कारणम् तत्र परोक्षत्व-व्यापकस्य ज्ञायमान-करणजन्यत्वस्य निवृत्तौ व्याप्यस्य परोक्षत्वस्य सुतरां निवृत्तिरिति ज्ञानत्वावान्तरजातेः अपरोक्षत्वस्यैव सिद्धिरिति अधिकं मूले ज्ञेयम्। तदेवम् अज्ञातानुपलब्धि-कारणस्य ज्ञानस्य अपरोक्षत्व-सिद्धौ तस्य च जन्यत्वेन इन्द्रिय-करणकत्वमनायास-लब्धमित्याह—जन्यापरोक्षेति। इन्द्रिय-जन्यत्वम् = इन्द्रियत्वावच्छिन्न-जनकता-निरूपित-जन्यतावत्त्वम्। ज्ञान-करणकान्यत्वमिति तु नव्य-नैयायिक-मतेन। आचार्य-मतानुसारी पाठस्तु—ज्ञात-करणकान्यत्वम् = ज्ञातकरणकान्यत् = स्वरूप-सत् करणम्, तज्जन्यत्वम् इत्यर्थः। तथा च विप्रतिपन्नं मीमांसकम्प्रति ज्ञातकरणकान्य-कारण-जन्यत्वेन अपरोक्षत्व-सिद्धिः तेन च इन्द्रियजन्यत्व-सिद्धिरिति न स्वरूपासिद्ध्यवसरः इति बोध्यम्। तथा चायं निष्कर्षः—(१) अज्ञातानुपलब्धि-जन्या अभाव-प्रतीतिः इन्द्रियकरण-जन्या, अपरोक्षत्वात्, घटादिप्रत्यक्षवदिति। इन्द्रियस्यानुपक्षयादित्यनेन प्रतिपादितं द्वितीय-हेतुं विवृणोति—घटादीति। इन्द्रिस्यानुपक्षयादिति तु तात्पर्य-वर्णनमात्रम्, हेतु-स्वरूपन्तु अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियाऽन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वमिति न स्वरूपाऽसिद्धिः। तथा चायम्प्रयोगः—(२) अज्ञातानुपलब्धि-जन्या अभाव-प्रतीतिः इन्द्रिय-करणिका, अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वात् इति। ननु यथा धूम-ग्रहणोपक्षीणेन्द्रियव्यापारानन्तरभाविनः

अन्तर्गत आ जाता है। और जितने भी जन्य अपरोक्ष ज्ञान होते हैं वे सब इन्द्रिय से ही जन्य होते हैं। अपरोक्षत्व का अर्थ है ज्ञान-भिन्न-करण-जन्यत्व। जिस प्रकार इन्द्रिय घट आदि के प्रत्यक्ष में समर्थ है उसी प्रकार घट आदि के

करणत्वम् । अधिकरण-प्रत्यक्षाभावेऽपि शब्दादिप्रध्वंसस्य, वायौ रूपाऽभावस्य च ग्रहात्, अधिकरण-ग्रहेपि अनुपक्षयात् । अज्ञात-करण-जन्य-ज्ञानत्वेन इन्द्रिय-जन्यत्वानुमानाच्च ।

भावावेशाच्च चेतसः = **मनसः** । अस्मदादि-बाह्यानुभवस्य भाव-

वह्नि-ज्ञानस्य नेन्द्रिय-जन्यत्वम् तथैव अभाव-ज्ञान-हेतुभूतस्य अभावाधिकरणस्य ग्रहणे एव उपक्षीणस्य इन्द्रिय-व्यापारस्य अनन्तरं जायमानम् अभाव-ज्ञानम् नेन्द्रिय-जन्यमित्यत आह—अधिकरण-प्रत्यक्षाभाव इति । प्रत्यक्षं चात्र लौकिकं विवक्षितम् । तथा च आकाशे शब्दाभावस्य ग्रहणे आकाशम् उपनीतभान-विषयमवेति न तत्र इन्द्रिय-व्यापारस्योपक्षयः इति तत्र शब्दाभाव-ग्रहे श्रोत्रेण मन्यमाने नाधिकरण-ग्रहणे इन्द्रिय-व्यापारस्योपक्षीणत्वम् इति नोक्त-शङ्कावसरः। यत्रापि अधिकरणस्य लौकिक-प्रत्यक्षम् तत्रापि भूतलादौ घटाभाव-प्रत्यक्षे अधिकरण-ग्रहणमवान्तर-व्यापार एवेति न तद्ग्रहणे एव इन्द्रियव्यापारस्योपक्षीणत्वमाशङ्कनीयमित्याह—अधिकरणग्रहेऽपि इति। इतरथा हि अर्थ-सन्निकर्षोपक्षीणमिन्द्रियं घटादि-ग्राहकमपि न स्यादिति भावः । मूलोक्ते अज्ञात-करणत्वाच्चेत्यत्र बहुव्रीहिरित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—अज्ञातेत्यादिना । तथा च अनुमान-प्रयोगः—(३) अज्ञाताऽनुपलब्धि-जन्या अभाव-बुद्धिः इन्द्रिय-करणिका, अज्ञात-करण-जन्यत्वात् इति । पूर्वं हि वृत्तौ अपरोक्षत्वानु-माने एष हेतुरुपात्तः अधुना तु इन्द्रिय-जन्यत्वानुमाने इति विशेषः ।

अस्मदादि-बाह्यानुभवस्येति । अयमाशयः—स्मरणात् अन्तः सुखाद्यनु-भवाच्च अन्यत्र सर्वत्र बाह्यानुभवे इन्द्रिय-लिङ्गादि-भावात्मक-करण-सहकृतस्यैव मनसः प्रवृत्तिः दृश्यते इति सर्वत्रैव बाह्ये मनसो

अभाव के प्रत्यक्ष में भी अवधृत-सामर्थ्य है । अभावाधिकरण-प्रत्यक्ष तो अभाव-प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय के सामर्थ्य का विनाश नहीं कर पाता है, और जहाँ शब्दाभावाधिकरण आकाश तथा रूपात्यन्ताभावाधिकरण वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता केवल आकाश-स्थित शब्द-ध्वंस का तथा वायु-स्थित रूपाभाव का ही ग्रहण होता है वहाँ तो अधिकरण-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के सामर्थ्य के उपक्षीण होने की स्थिति भी नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि अज्ञात-करण-जन्यत्व हेतु से अज्ञातानुपलब्धि-कारणक ज्ञान में इन्द्रिय-जन्यत्व का अनुमान भी हो जायगा ।

'चेतसः' अर्थात् मन का 'भावावेशात्' अर्थात् भावात्मक करण की सहायता

भूत-करण-सचिव-मनो-जन्यत्व-नियमात् नाऽनुपलब्धिः करणम् किन्तु इन्द्रियमेवेति ॥ २० ॥

साधकान्तरमाह—

प्रतियोगिनि-सामर्थ्यात् व्यापाराव्यवधानतः ।
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणाम् इन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥ २१ ॥

इन्द्रियाणि करणम् साध्यम् । प्रतियोगि-ग्राहकत्वात् । यथाऽनुमानम् घटस्येव तदभावस्यापि ग्राहकम् तद्वत् इन्द्रियमपि । ननु प्रतियोगि-ग्राह-

भाव-रूप-करण-साचिव्य व्याप्तेः अभावानुभवेऽपि मनसः तथैव प्रवृत्तिरिति भावरूप-करण-सापेक्षत्वं स्फुटम् । तच्च अज्ञातानुपलब्धि-जन्ये अभाव-ज्ञाने इन्द्रियमेवेति सिद्ध्यति इन्द्रिय-करणकत्वमभावानुभवस्येति । तथा चायम् प्रयोगः—(४) अज्ञातानुपलब्धि-जन्या अभाव-प्रतीतिः भाव-भूताऽसाधारण-करण-सहकृत-मनो-जन्या, अस्मदादि-बाह्यानुभत्वात् इति । तच्च करणमिन्द्रियमेव परिशिष्यते । अत्र सर्वत्र अन्वय-व्यतिरेकितया योग्यानुपलब्धेः अभाव-प्रत्यक्ष-सहकारित्वमिष्टमेवेति नाऽऽश्रयाऽसिद्धिरिति बोध्यम् ॥२०॥

अपरानपि अभाव-प्रत्यक्ष-साधकान् चतुरः हेतून् प्रतिपादयन्तीं कारिकामवतारयति—साधकेति । इन्द्रियाणि इति पक्षः । करणमिति—लिङ्गाद्यजन्याभाव-प्रतिपत्ति-करणमित्यर्थः । एतच्च साध्यम् कारिकायामनुपन्यस्तमपि प्रकरण-लभ्यम् । अत्र हेतुमाह—प्रतियोगि-ग्राहकेति । एतदेव दृष्टा-

से ही, बाह्य-पदार्थ-ग्राहकत्व होने से। अभिप्राय यह है कि हम लोगों की जो बाह्य अनुभूतियाँ हैं वे नियमतः भावात्मक-इन्द्रिय-स्वरूप-करण-सहकृत मन से ही जन्य होती हैं न कि भाव-निरपेक्ष मन से। अतः यह सिद्ध है कि अभाव ज्ञान में अनुपलब्धि करण नहीं है अपि तु इन्द्रिय ही उसका करण है ॥ २० ॥

अभाव के प्रत्यक्ष-वेद्यत्व में दूसरे प्रमाण भी दे रहे हैं :—

[अभाव-प्रतियोगी घट आदि के ग्रहण में इन्द्रिय के समर्थ होने से, अधिकरणादि-प्रत्यक्ष के व्यापार अत एव करणत्वाऽविघटक होने से, अभाव-भ्रम में दुष्टेन्द्रिय-जन्यत्व होने से तथा 'घटाभाववद्भूतलम्' इस ज्ञान के विशिष्ट ज्ञान होने से भी यह सिद्ध है कि इन्द्रियाँ ही अभाव-ज्ञान में करण हैं ॥२१॥]

इन्द्रियाँ ही करण हैं, क्योंकि इन्द्रियों में ही अभाव-प्रतियोगि-ग्राहकत्व है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुमान घट-ग्राहक होने के साथ-साथ घटाभाव

कत्वम् अतन्त्रम्, अनन्यथासिद्धत्वस्य उपाधित्वात्, आश्रय-ग्रहणे च इन्द्रियस्य अन्यथा-सिद्धेरित्यत आह—व्यापाराऽव्यवधानतः इति। व्यापारेण अधिकरण-प्रत्यक्षेण इन्द्रियस्य अन्यथासिद्ध्यभावात्, अन्यथा संयोगेन चक्षुरादिकमन्यथा-सिद्धम् भाव-ग्रहेऽपि स्यात्।

किञ्च अभाव-भ्रमस्य दुष्ट-करण-जन्यत्वमवश्यं वाच्यम्। दोषश्च

न्तेन स्फोरयति—यथेति। द्वितीयं हेतुं व्याख्यातु-कामः पातनिकामाह—
नन्विति। उपाधित्वात् = अभावग्राहकत्वे तन्त्रत्वात्। भूतलानुयोगिक-
घटादि-प्रतियोगिकाभाव-प्रत्यक्षे इन्द्रियस्य नियमतः अनुयोगि-
ग्राहकत्वेऽपि तेनैव अभाव प्रत्यक्षे न अन्यथा-सिद्धत्वमित्याह—
व्यापारेणेति। एतेन व्यापारेण व्यापारिणः अन्यथा-सिद्धत्वं नेति
नियमो दर्शितः। अत्रैव प्रतिबन्धिमाह—अन्यथेति। संयोगेनेति। एतच्चो-
पलक्षणम् समवायादेरपि। नन्वेवं वह्न्यनुमिति-स्थलेऽपि धूमोपल-
म्भस्य चक्षुषो व्यापारत्वं कल्प्यतामिति वह्नि-ज्ञानस्यापि इन्द्रिय-
जन्यत्वमेवेति गतमनुमानादिनेति चेत्? न, न हि यत् येन जन्यते
तत्सर्वं तस्य व्यापार एवेति नियमः, किन्तु येन विना यस्य यदुत्पादनं
न निर्वहति स तस्य कारणस्य तस्मिन् कार्ये जननीयेऽवान्तरव्यापारो
भवति इति नियमः। न हि यथा वह्नि-संयोगमन्तरेण चक्षुः वह्नि-
ज्ञानं नोत्पादयति तथा धूमोपलम्भमन्तरेणाऽपि, पुरोवर्तिनि वह्नौ
धूमोपलम्भमन्तरेणैव चक्षुषो वह्निज्ञान-जनकत्वस्य अनुभव-
सिद्धत्वात् इति न धूमोपलम्भस्य व्यापारत्वमिति नोक्त-दोषः।
अभाव-भ्रमेति—अभाव-विषयको भ्रम इत्यर्थः। यथा शङ्खे श्वैत्या-
भाव-विषयकज्ञानम् व्यधिकरणप्रकारकत्वेन भ्रमः। दोषः = पित्त-दूर-

का भी ग्राहक होता है उसी प्रकार इन्द्रियां भी घट-ग्राहक होने के साथ-साथ
घटाभाव की भी ग्राहिका हैं। इस पर एक प्रश्न है :—अभाव-ग्रहण का प्रयोजक
तो अनन्यथा-सिद्धत्व है, अभाव-प्रतियोगि-ग्राहकत्व नहीं, और अभाव के अधि-
करण में ही इन्द्रियाँ उपक्षीण हो जाती हैं, इस लिए अभाव-ग्रहण में तो इन्द्रियाँ
अन्यथा-सिद्ध हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—'व्यापाराऽव्यवधानतः'।
व्यापार, अर्थात्, अभावाधिकरण के प्रत्यक्ष, से इन्द्रियाँ अभाव-प्रत्यक्ष में अन्यथा-
सिद्ध नहीं हो सकती हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर तो विषयेन्द्रिय-संयोगादि में ही
इन्द्रियाँ उपक्षीण होकर घटादि-प्रत्यक्ष के लिए भी अन्यथा-सिद्ध हो जाएँगी।
दूसरी बात यह भी है कि अभाव-भ्रम को दुष्ट कारण से ही जन्य मानना

इन्द्रियादिनिष्ठ एव, अनुपलब्धेः दोषवत्वाभावात्, पित्तादिना इन्द्रियस्यैव दुष्टत्वात्; तदिदमुक्तम्—अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणाम् इति।

अधिकरणाभावयोर्विशिष्ट-धीः न इन्द्रियजा, अभाव-धीत्वात्; नानुपलब्धिकरणजा, भाव-धीत्वात्। अतः विशिष्ट-ग्राहीन्द्रियं स्वीकार्यम्;

त्वादिः। उक्ताभाव-भ्रमस्य लिङ्गाभासाद्यजन्यत्वेन इन्द्रिय-निष्ठ-पित्तादिदोष-प्रयुक्तत्वमेवेति अभाव-भ्रमस्य दुष्टेन्द्रिय-करणत्व-सिद्धिरिति तात्पर्यम्। अनुपलब्धेः अभावात्मकत्वेन स्वरूपतो दोषवत्त्वं न सम्भवतीत्याह—अनुपलब्धेरित्यादिना। अक्षाश्रयत्वादिति—तथा च इदम् प्रतिफलति—इन्द्रियमभाव-प्रमा-करणम्, अभाव-भ्रम-करणत्वात्, यस्मिन् दुष्टे सति यद्विषयको भ्रमः तदेवाऽदुष्टं तद्विषयक-प्रमा-करणम् अपि, यथा रूपाभाव-भ्रम-करणं चक्षुः रूप-प्रमायाः अपि करणमिति।

अन्त्यं हेतुं विवृणोति—अधिकरणेत्यादि। विशिष्ट-धीः - घटाभाववद्भूतलम् इत्याकारा धीः। न इन्द्रियजेत्यत्र हेतुमाह—अभाव-धीत्वादिति। मिथो-विरुद्धयोः इन्द्रियजन्यापरोक्ष-निष्ठापरोक्षत्वानुपलब्धि-जन्य-परोक्षनिष्ठपरोक्षत्वयोः साङ्कर्यप्रसङ्गाच्च नोभयोः समाहारेण अपि अधिकरणाभावयोर्विशिष्ट-धीरुपपादयितुं शक्या इत्यादि बोध्यम्। इन्द्रियमिति—अनुपलब्धि-सहकृतमिन्द्रियमित्यर्थः। न चान्य-सहकृतत्वेन अभाव-ज्ञानस्यैन्द्रियकत्व-विरोधः, प्रत्यभिज्ञानादिषु तथा (अविरोधस्य) दृष्टत्वात्। मीमांसकः पुनरपि शङ्कते—नन्विति।

होगा। यह भ्रमत्व-प्रयोजक दोष अनुपलब्धि में नहीं माना जा सकता है अपि तु इन्द्रिय में ही पित्तादि दोष मानने पड़ेंगे, और जो दोष-युक्त कारण किसी पदार्थ की अप्रमा का जनक होता है वही दोष-विमुक्त होकर उस पदार्थ की प्रमा का भी जनक होता है। फलतः अभाव-भ्रम-जनक दोष-युक्त इन्द्रिय ही दोष-विमुक्त रहने पर अभाव-प्रमा का जनक है। यही बात कारिकाकार ने कही है :—'अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणाम्' शब्द से।

अधिकरण तथा अभाव का ज्ञान इन्द्रिय-मात्र-जन्य नहीं हो सकता है, (पूर्व-पक्षी के अनुसार यह कहा गया है), क्योंकि यह अभाव-विषयक ज्ञान है, और अनुपलब्धि-जन्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि यह भाव-विषयक भी है जबकि भाव-ग्रहण में अनुपलब्धि असमर्थ है। अतः अभाव-विशिष्ट-भूतल-ज्ञान

तदिदमुक्तम्—विकल्पनात् इति । विशिष्ट-विषयक-ज्ञानात् ॥ २१ ॥

न त्वनुपलब्ध्या घटाभावस्य ज्ञानम् ततश्च घटाभाववद्भूतलमिति ज्ञानम् घ्राणज सौरभोपनयनानन्तरम् सुरभि चन्दनमिति चाक्षुषवत् इति अभाव-ग्राहिका अनुपलब्धिः करणतया वाच्या; निर्विकल्पक-विषयीकृत एव इन्द्रियेण सविकल्पकतया गृह्यते तथा दर्शनात्; अभावेन इन्द्रिय-

अयमर्थः—विशिष्ट-ज्ञानस्य विशेषण-ज्ञान-पूर्वकत्वात् घटाभाववद्भू-तलमिति स्थलेऽपि विशेषणीभूतस्य अभावस्य ज्ञानं पूर्वमावश्यकम् इति तदर्थमनुपलब्धेः करणत्वमावश्यकम् । न चैवं विशिष्ट-ज्ञानानु-पपत्तिः, अनुपलब्धि-प्रतिपन्नस्यापि अभावस्य विशिष्ट-बुद्धौ ज्ञान-लक्षणया घ्राणविषयसौरभांशस्य सुरभि चन्दनमिति चाक्षुषत्ववत् प्रतिपत्तिसम्भवादिति अनुपलब्धि-करणकत्वाभावे विशिष्ट-ज्ञानत्वादिति पूर्वकारिकोक्तो हेतुरप्रयोजकः इति सिद्धमनुपलब्धेरभावग्राहक-त्वम् इति । किञ्च अभावस्य ऐन्द्रियकत्वे सविकल्पकविषयत्वमायाति, सविकल्पकं च निर्विकल्पक-पूर्वकमिति पूर्वमभावग्रहणाय अपि अनुपलब्धेः करणत्वमवश्यं मन्तव्यमिति शङ्कते—निर्विकल्पक इत्यादिना । तथा दर्शनादिति—घटादि-प्रत्यक्षे इति शेषः । न चायं दोषः मीमांसक-मतेपीति, तैरिन्द्रियजन्य-सविकल्पकस्यैव निर्विकल्पक-पूर्वकत्वाभ्यु-पगमादिति भाव । किञ्च इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वस्य शास्त्रेषु व्यव-स्थापनेन सम्बद्धमेव पदार्थमिन्द्रियं प्रकाशयेत्, न चाभावेन सह चक्षुषः संयोग-समवायादिः प्रसिद्धः सम्बन्धः, नाऽपि विशेषण-विशेष्यभावः, तस्य संयोगादिसम्बन्धान्तर-पूर्वकस्यैव दण्डी पुरुषः

के लिए इन्द्रियों को करण मानना ही पड़ेगा । अन्यथा उक्त विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो पाएगी । यही बात कारिका में कही गई है 'विकल्पनात्' शब्द से । शब्दार्थ है—विशेषण-विशेष्य एवम् तदुभय-सम्बन्धावगाही ज्ञान होने से ।

अब मीमांसक का पूर्व-पक्ष हैः—विशिष्ट ज्ञान के पूर्व विशेषण-ज्ञान की आवश्यकता होती ही है । अतः 'घटाभाववत् भूतलम्' इस ज्ञान में 'सुरभि-चन्दनम्' इस ज्ञान की तरह ज्ञानलक्षण-पद-वाच्य सम्बन्ध इन्द्रिय का भले ही हो परन्तु विशिष्ट-ज्ञान-पूर्वकालीन विशेषण-ज्ञानात्मक अभाव ज्ञान के करण के रूप में अनुपलब्धि को मानना ही होगा । दूसरी बात यह भी है कि अभाव को इन्द्रिय-वेद्य मानने पर उस इन्द्रिय से सविकल्पक-ज्ञान की उपपत्ति तभी हो

प्रत्यासत्तेरभावात् कथं वा प्रत्यक्षत्वम्, विशेषणतायाः सम्बन्धान्तर-गर्भत्वात् ? अवश्य-क्लृप्तकारणताकानुपलब्धेरेव करणत्वं नेन्द्रियस्येत्यत्राह—

अवच्छेद-ग्रह-ध्रौव्यात् अध्रौव्ये सिद्धसाधनात् ।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानात् न चेत् ? अन्योऽपि दुर्घटः॥ २२ ॥

इत्यादौ दृष्टत्वात् । न चेह संयोगादेः सम्भवः, अद्रव्यत्वात् अयुतसिद्धत्वाभावाच्चेति असम्बद्ध-ग्रहणापत्तिभियाऽपि अभावस्यैन्द्रियकत्वं नोचितमित्याशङ्कते—अभावेनेत्यादिना । किञ्च अभाव-प्रत्यक्षत्ववादिनाऽपि प्रतियोग्यनुपलब्धेरिन्द्रिय-सहकारित्वमवश्यं कल्पनीयमिति उभयसिद्धाऽनुपलब्धिरेव अभाव-ज्ञान-करणमस्तु न त्विन्द्रियमिति शङ्कते—अवश्य-क्लृप्तेत्यादिना ।

सकती है जब उससे पहले अनुपलब्धि-प्रमाण के द्वारा अभाव का निर्विकल्पक हो जायगा । इसके अतिरिक्त यह भी है कि इन्द्रियाँ असम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण नहीं करती हैं । अतः उन्हें अभाव-ग्राहिका मानने पर अभाव के साथ भी चक्षुरादि का सम्बन्ध होना चाहिए, परन्तु यहाँ अभाव के साथ चक्षुरादि का कोई भी (संयोग, समवाय) सम्बन्ध नहीं बन पाता है । भूतलादि के साथ अभाव का विशेषणता सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्यत्र विशेषणता संयोगादि-सम्बन्ध-गर्भित होती है, परन्तु यहाँ भूतल तथा घटाभाव के बीच संयोगादि नहीं है । अत एव चक्षुः-संयुक्त-भूतल-विशेषणता आदि सम्बन्ध की भी उपपत्ति नहीं हो सकती है । और भी, प्रत्यक्ष मानने पर भी अनुपलब्धि को अभाव-प्रत्यक्ष का कारण तो मानना ही है, अतः उसी से अभाव का ग्रहण हो जाएगा, फिर उसके करण के रूप में इन्द्रिय का अभ्युपगम अनावश्यक है । इस पूर्व-पक्ष का समाधान कर रहे हैं :—

[अभाव-प्रत्यक्ष में अभाव-प्रतियोगी का भान नियत है अत एव विशिष्ट-ज्ञान से पूर्व न तो विशेषण-ज्ञान के लिए और न सविकल्पक-पूर्व-कालिक अभाव-निर्विकल्पक के लिए ही अनुपलब्धि को अभाव-ज्ञान का करण मानना आवश्यक है । यदि तु प्रतियोग्यनुपहित अभाव का भी ज्ञान इष्ट है तो इन्द्रिय ने क्या अपराध किया है जिससे वह अभाव-निर्विकल्पक इन्द्रिय से नहीं हो सकेगा ? अतः सिद्ध-साधन दोष ही है । अभाव की भूतल के साथ विशेषणता भी स्वरूपतः सम्बद्ध है न कि 'दण्डी पुरुषः' आदि स्थलों की तरह सम्बन्धान्तर-गर्भित, क्योंकि वैसा मानने पर यहाँ अनवस्था आ पड़ेगी । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो मीमांसक के वैशिष्ट्य सम्बन्ध की भी उपपत्ति असम्भावित हो जाएगी ॥२२॥]

अवच्छेदग्रहस्य = प्रतियोगि-ग्रहस्य, अभाव-प्रत्यक्ष-हेतुत्वात् नियमतः सविकल्पक-सामग्री-सत्त्वान्न निर्विकल्पकत्वम्, घटादि-ग्रहे तु निर्विकल्पकमेव प्रथमतः, विशिष्ट-ज्ञान-हेतु-विशेषण-ज्ञानाभावात्।

प्रतियोग्यनुपहितस्य अभावस्य भानाभ्युपगमे तु अभावस्यापि निर्वि-

अधुना उत्तरं वक्तुमुपक्रमते—अवच्छेदेति। अवच्छिद्यते अनेन इति व्युत्पत्त्या अवच्छेद-शब्दः प्रतियोगिपर इत्याशयेन वृत्तावुच्यते प्रतियोगीति। न निर्विकल्पकम् इति। अयमाशयः—यत्र विशेषण-ज्ञानाभावेन विशिष्ट-ज्ञान-सामग्री-विरहेऽपि ज्ञान-सामान्य-सामग्री तत्रैव निर्विकल्पकम् ततः सविकल्पकमिति व्यवस्था, यथा घटादिषु; यत्र तु ज्ञानादौ प्रतियोगि-ज्ञान-पुरःसरमेव ज्ञायमानत्वम् तेषु निर्विकल्पक-वेद्यत्वाऽसम्भवात् न निर्विकल्पक-पूर्वकत्वम्। अत एव विशिष्ट-ग्रहणं नेष्टमगृहीत-विशेषणमितिनियमेन अभाव-विशिष्ट-धी-प्रयोजकतया पूर्वं विशेषणीभूतस्य अभावस्य ग्रहणाय अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमास्थेयमेवेत्यपि समाहितम्, ये हि किल दण्ड-घटादयोऽर्थाः अर्थान्तर-ज्ञान-निरपेक्षैः स्व-विषयक-ज्ञानैरेव इतरेतर-व्यवच्छेदकास्ते एव विशेषणीभवन्तः केवलाः अपि ज्ञातव्याः, ये तु ज्ञान-समवायाभावादयः पदार्थाः प्रतियोगि-ज्ञान-सापेक्षा एव स्व-स्व-विषयक-ज्ञानैः स्व-स्वेतर-व्यवच्छेदकाः भवन्ति तेषां केवल-ज्ञानमन्तरैव विशिष्ट-ज्ञान-विषयत्वमिति; तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—घटादि-ग्रहे त्वित्यादि। प्रथमतः इत्यनन्तरं 'न तु सविकल्पकम्' इति पूरणीयम्। प्रथमतः एव सविकल्पकाभावे हेतुमाह—विशिष्ट-ज्ञानेत्यादि।

तदेवमवच्छेद-ग्रह-ध्रौव्येण विशिष्ट-ज्ञानस्य विशेषण-ज्ञान-पूर्वकत्व-नियमेन अभावात्मक-विशेषण-ज्ञानाय, सविकल्पकस्य निर्विकल्पक-पूर्वकत्वमिति नियमेन अभावस्य निर्विकल्पक-ज्ञानाय अनुपलब्धेः प्रमाणत्वमावश्यकमिति निरस्ते अवच्छेद-ग्रहस्य अभावग्रहे अनिय-

'अवच्छेद-ग्रहस्य' अर्थात् प्रतियोगि-ज्ञान में अभाव-प्रत्यक्ष की हेतुता है। अतः अभाव-प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में नियमतः सविकल्प-ज्ञान की ही सामग्री रहती है। अतः उसका सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक नहीं। घट आदि के प्रत्यक्ष के प्रगङ्ग में तो प्रथमतः सविकल्पक नहीं होता है, क्योंकि वहाँ निर्विकल्पक-सामग्री है और इस लिए निर्विकल्पक से पूर्व विशेषण-ज्ञानाभाव होने से सविकल्पात्मक विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है।

यदि तु प्रतियोग्यनुपहित अभाव का ग्रहण इष्ट है तो वह कार्य भी इन्द्रिय

कल्पक-विषयतेति सिद्ध-साधनम्, सम्बन्धान्तरेऽनवस्थानात् स्वरूपमेवाभावस्याधिकरणेन सम्बन्धः, वैशिष्ट्यस्याऽभाव-सम्बन्धस्याङ्गीकृतस्याऽपि सम्बन्ध-धारायामनवस्थानात् स्वरूप-सम्बन्ध-स्वीकारस्यावश्यम्भावात्, इन्द्रिय-सम्बद्ध-विशेषणतायाः घटाभावादि-प्रत्यक्षे सन्निकर्षतया कल्पनात्। न चेदेवम्, तदाऽनुपलब्धि-करणता-पक्षेऽपि अन्य-प्रकारो दुर्घटः। तथा हि—सर्वैरेव प्रमाणैः परम्परया निर्विकल्पक-विषय एव गृह्यते,

तत्वे प्रतिवन्धिमाह—प्रतियोग्यनुपहितेत्यादि । निर्विकल्पक-विषयतेति—इन्द्रियजन्य-निर्विकल्पक-विषयत्वम् इत्यर्थः । यतः इन्द्रियेण न किमपि अपराद्धम् येन तत् अभावं ग्रहीतुम न शक्नुयात्। अत्र इन्द्रिय-जन्य-निर्विकल्प-विषयत्वे सिद्ध-साधनमिति भ्रमो न कार्यः। अभावसम्बन्धस्येति—अङ्गीकृतस्य मीमांसकैरिति शेषः। सम्बन्ध-धारायाम् = वैशिष्ट्य-मूल-सम्बन्ध-धारायाम्। अनवस्थानात् इति—स्वरूपस्य सम्बन्धत्वे तु नाऽनवस्था, तस्य स्वात्मकत्वादिति भावः। न चैवम् समवायोपि मास्तु, तत्रापि स्वरूपेणैव निर्वाहः इति वाच्यम्, रूपादिषु स्वाभाविके विशेषण-विशेष्य-भावे सत्यपि दृष्टत्वात्समवायस्य कल्पनम्, न चैवमभावस्थले इति स्वरूपमेवाभावस्याधिकरणेन सह सम्बन्ध इत्यलम्। परम्परयेति—एतदुपलक्षणम् साक्षादित्यस्यापीति। प्रत्यक्षस्य साक्षात् निर्विकल्पक-पूर्वकत्वम्। अनुमानादेस्तु परम्परयेति विवेकः। कदाचित्=व्याप्त्यादि-ग्रहण-काले। निर्विकल्पक-स्वीकारादिति। अयम्भावः-सर्वेषां प्रसिद्धप्रमाणानां साक्षात्परम्परया वा निर्विकल्पक-पूर्वकत्वस्य प्रामाणिकत्वेन अनुपलब्धेरपि प्रमाणत्वे तस्या अपि निर्विकल्पक-पूर्वकत्वमास्थेयमेव, न चैतत् अभावस्य सम्भवति अनुपलब्धि-

से ही होगा। अतः उसके लिए प्रमाणान्तर का अभ्युपगम पिष्ट-पेषण-मात्र होगा। विशेषणता-नियामक सम्बन्धान्तर की कल्पना में अनवस्था के कारण अभाव की स्वरूपत ही अभावाधिकरण में विशेषणतया सम्बद्ध है। मीमांसक लोग जो अभाव का अधिकरण के साथ वैशिष्ट्य सम्बन्ध मानते हैं उसमें भी इसी प्रकार अनवस्था के कारण स्वरूपः सम्बन्ध मानना ही है। अतः अभाव के साथ चक्षुरादि इन्द्रिय का यथा-स्थल स्व-संयुक्त-विशेषणता आदि सम्बन्ध मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। अत एव असम्बद्ध अभाव का ग्रहण भी नहीं मानना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तब तो अनुपलब्धि को अभाव-ज्ञान का करण मानने पर भी कोई प्रकारान्तर नहीं मिल पाएगा। तात्पर्य यह है कि सभी प्रमाणों के द्वारा किसी न किसी रीति से निर्विकल्प-ज्ञान-विषयीभूत पदार्थ

अनुमानादावपि वह्न्यादेः पूर्वं कदाचित् निर्विकल्पक-स्वीकारात्। घटाभाववद्भूतलमित्यादि-विशिष्ट-प्रत्ययबलात् अभावेन अधिकरणस्य प्राप्तेः भवताऽपि स्वीकारात् ॥ २२ ॥

स्तवकार्थ-संग्राहक-श्लोकमाह—

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः,
प्रायो यन्मुख-वीक्षणैक-विधुरैरात्माऽपि नासाद्यते।
तं सर्वानुविधेयमेकमसम-स्वच्छन्द-लीलोत्सवम्
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

प्रमाणेन, अभाव-ग्रहस्य प्रतियोगि-ग्रहसापेक्षतया तस्य निर्विकल्पक-विषयत्वाऽसम्भवात्, अनुपलब्धेरेव निर्विकल्पक-साधनत्वे तु इन्द्रियेणैव तदपि (= निर्विकल्पकमपि) स्यादेवेति नानुपलब्धेः मानान्तरत्वमावश्यकम् इति। न चाभावस्य अधिकरणेन कश्चन सम्बन्ध एव नास्ति येन असम्बद्धमभावं नेन्द्रियग्राह्यं स्यादिति स्पष्टयति—घटाभाववदित्यादिना। स्वीकारादिति—तथा च अभावस्य अधिकरणेन सम्बन्धः भवता मीमांसकेनापि स्वीकृत एव, स च स्वरूपं वैशिष्ट्यम्वेत्यन्यत्! वयं केवलमेतावत् एव मन्यामहे—प्रामाणिकत्वात्स्वरूपमेव सम्बन्धः न वैशिष्ट्यमिति नानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमिति दिक् ॥२२॥

ही गृहीत होते हैं अनिर्विकल्पित नहीं, क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों के प्रसङ्ग में भी पहले तो वह्न्यादि का निर्विकल्पक कभी न कभी अवश्य हुआ रहता है। एवञ्च 'घटाभाववद्भूतलम्' इस विशिष्ट-ज्ञान के बल से आप मीमांसकों को भी अभाव के साथ अभावाधिकरण का कोई न कोई सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा और उसके प्रसङ्ग में स्वरूप-सम्बन्ध की सहायता लिए विना किसी तरह निर्वाह नहीं होने से अन्ततः स्वरूप-सम्बन्ध की शरण लेनी ही पड़ेगी। अतः इस स्वरुप सम्बन्ध के आधार पर इन्द्रियों से ही संयुक्त-विशेषणता आदि सम्बन्धों से सम्बद्ध अभाव के ग्रहण मानने में एक नवीन प्रमाण को अनपेक्षा के कारण लाघव भी है। अतः अनुपलब्धि प्रमाणान्तर अनावश्यक एवम् अश्रद्धेय है ॥२२॥

अन्त में स्तबक के अर्थ का संग्राहक श्लोक लिख रहे हैं :—

[जिस सर्व-कार्य-साधारण-कारण ईश्वर की अपेक्षा किए विना प्रत्यक्ष आदि कार्य स्वरूप-लाभ भी नहीं कर सकते और इसलिए जिस ईश्वर का इन प्रत्यक्षादिकों द्वारा प्रस्तावित विरोध भी अधर, अर्थात् जनकच्छेदी, अतएव नीच, प्रत्यक्षादि से जन्य होने के कारण दूर ही रहते हैं, ऐसे सर्वाधिपति एवम् अद्वितीय एवम् स्वतन्त्र जगल्लीलात्मक आनन्द से सम्पन्न, देवाधिदेव परमेश्वर की शरण में हम अभ्युदित-श्रद्धातिशय-पूर्वक प्रपन्न हैं ॥२३॥]

यस्येश्वरस्य मुख-वीक्षणैक-विधुरैः धर्मि-ग्राहक-मान-बाधितैः प्रत्यक्षादिभिः आत्मैव नासाद्यते, विरोधोदयः यतोऽधरः अत एव दूरे; सर्वमनुविधेयं यस्येति, असमा = स्वच्छन्दा चेतनान्तराऽप्रयोज्या या लीला सैव उत्सवो यस्य स तथा, दुःखाभावैक-निदानत्वात्, अत एव उद्भूवदति-श्रद्धाः देवानामपि देवं स्तुत्यं प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

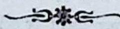
इति श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्तौ
तृतीयः स्तबकः ।



मुख-निरीक्षणम् = स्वरूप ग्रहः, स च परमेश्वरात्मक-धर्मि-ग्रह-स्वरूप एव, विधुर-पदं च बाधितार्थकमित्याशयेनाचष्टे—धर्मि-ग्राहक-मान-बाधितैरिति । आत्मा = स्वरूपम् इत्यर्थः । नासाद्यते इति–बाधकत्वेन शङ्कितानां सर्वेषां प्रमाणानां कार्यत्वेन ईश्वरायत्तात्मलाभत्वादित्यर्थः। मूले प्रायः पदं बाहुल्यार्थकम् , तथा च ईश्वराभावसाधकानि सर्वाणि प्रमाणानि धर्मिग्राहक-मान-बाधितानीत्यर्थ इति केचित्। प्रत्यक्षस्योत्पत्तौ तदपेक्षायामपि प्रामाण्ये तदनपेक्षत्वादुक्तं प्रायः इति परे। दूरे इति—यन्मुख-वीक्षण-विधुरैः प्रत्यक्षादिभिः स्वरूपमपि न लभ्यते तैः (प्रत्यक्षादिभिः) तस्य विरोधः तु दूरे एव इति तात्पर्यम् ॥२३॥

कृतमाख्यानवद्येन व्याख्यानं तर्क-शासने ।
लक्ष्मीनाथाय गुरवे तस्मै पित्रे नमो-नमः ॥

इति श्रीनारायण-मिश्र-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्ति-प्रभायां
तृतीयः स्तबकः ।



जिस ईश्वर के 'मुख-वीक्षणैक-विधुरैः' अर्थात् धर्मि-ग्राहक-मान से बाधित प्रत्यक्षादि के द्वारा, अपने स्वरूप का भी अधिगम असम्भव है; जिस लिए विरोध का उदय अधर है इसीलिए दूर ही रह जाता है न कि ईश्वर के बाध के लिए प्रस्तुत हो पाता है (यही है 'अधरो दूरे विरोधोदयः' का अर्थ)। ('सर्वानुविधेयम्' का अर्थ है) जिसके अधीन में सब हैं। ('असम-स्वच्छन्द-लीलोत्सवम्' का अर्थ है) अन्य चेतन आत्मा के द्वारा अशक्य अतएव असमान एवम् स्वतन्त्र जो संसार-लीला वही है उत्सव जिस ईश्वर का वह। ईश्वर को ऐसा इसलिए कहा गया है कि वह दुःखाभाव का एक-मात्र मूल है। इसलिए अत्यन्त श्रद्धावनत हम उस देव-बन्धु परमात्मा की शरण में प्रपन्न हैं ॥२३॥

तृतीय स्तबक समाप्त ।



अथ चतुर्थः स्तबकः

'सत्त्वेऽपि तस्याऽप्रमाणत्वात्' इति तुरीय-विप्रतिपत्तिः। ईश्वरो न प्रमाणम्, तज्ज्ञानस्य अगृहीत-ग्राहित्वाभावेन प्रमात्वाभावात्। ईश्वरस्य प्रमा-कर्तृत्वं प्रमा-करणत्वं च नास्तीति अप्रमाण - पुरुषस्य वचः कः श्रद्दध्यात्? इत्यत्राह—

दिगम्बर-कृतां विप्रतिपत्तिमपहर्तुकामः भूमिकामारचयति—सत्त्वेपीत्यादिना। अत्रेदमवधेयम्—प्रमाण-शब्दो हि करण-ल्युडन्तः प्रमासाधन-वाचकः। परन्तु भावे कर्त्तरि चापि ल्युटा एतत्प्रयोगो नानुचितः, "कृत्य-ल्युटो बहुलम्" इति पारमर्ष-सूत्रात्। तथा च भाव-निष्पन्न-प्रमाण-शब्दः प्रमाऽपर-पर्यायः, कर्तृनिष्पन्नश्च प्रमाश्रयार्थकः। प्रकृत-विप्रतिपत्तौ प्रयुक्तः अप्रमाण-घटक-प्रमाण-शब्दः कर्तृ-ल्युडन्त इति प्रमाश्रयार्थकः। तथा च "ईश्वरो न प्रमाणम्" इत्यस्य ईश्वर-ज्ञानं न प्रमा इत्यर्थः सम्पद्यते। यत्तु मूले आचार्येण 'ईश्वर-ज्ञानं न प्रमाणम्' इत्युक्तम्, तत्र तु भाव-व्युत्पन्नः प्रमाण-शब्दः अवगन्तव्यः। अत एव यथार्थानुभवो मानमित्यपि व्याख्यातम्। अभावेनेति—नित्य-सर्वज्ञस्य तस्य सर्वदैव सर्व-विषयक-ज्ञान-सत्त्वेन तस्य सर्वमेव ज्ञानं गृहीत-मेव गृह्णाति नागृहीतम्, तथोक्ते तेनैवाग्रहणेन सर्वज्ञत्व-व्याघात इति भावः। प्रमाकरणत्वमिति ग्रन्थस्तु न प्रकृतोपयोगी किन्तु सम्पातायातः। अस्य पूर्व-पक्षस्य तात्पर्यं च इत्थम्—क्षित्यङ्कुरादि-कर्तृत्वेन वेदोच्चारकत्वेन च ईश्वरस्य सिद्धिरभिमता नैयायिकानाम्। तत्र कार्योपादान-गोचराऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षाकृतिमत्त्वं हि कर्तृत्वं

"ईश्वर के सिद्ध होने पर भी उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता" यह चौथी विप्रतिपत्ति है। ईश्वर प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका ज्ञान अज्ञात वस्तु को विषय नहीं बनाने के कारण प्रमा नहीं है। अतः ईश्वर न तो प्रमा का कर्त्ता है और न उसका करण ही है, फिर उस अप्रमाणभूत ईश्वर के वचन—वेद—में कौन विश्वास कर सकता है? इस पूर्व-पक्ष के उत्तर में कह रहे हैं:—

अप्राप्तेरधिक[1]-प्राप्तेरलक्षणमपूर्व-दृक् ।
यथार्थाऽनुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

अपूर्व-दृक्त्वम् = अगृहीत-ग्राहित्वम् (अलक्षणम्) धारावहनबुद्धयव्याप्तेः इदं रजतमितिभ्रमेऽतिव्याप्तेश्च । स्वमते प्रमा-लक्षणमाह—यथार्थेति ।

प्रमाश्रयत्वाभाववति ईश्वरे न सम्भवति, तस्मिन् तदुपादान-गोचरा-परोक्ष-ज्ञानस्य अभावात्, ज्ञान-पदेन च तत्र प्रमाया एव ग्रहणात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । एतेनैव वेदार्थदर्शित्वेनापि तत्सिद्धिर्निराकृतेति । तत्र धर्मिणि न विप्रतिपत्तिरिति प्रथमे निरूपितम्, किन्तु ईश्वरीयधर्मे एव नैयायिकाभिमते । तथा च न नैयायिकाभिमत-रूपेण ईश्वरसिद्धिरिति ध्येयम् ।

'दृक्' इति मूले भाव-प्रधान-निर्देशमभिप्रेत्याह—दृक्त्वमिति । स्व-प्राक्कालीन-स्व-समानाधिकरण-ज्ञान-विषयत्वम् गृहीत-ग्राहित्वम्, तद्भिन्नत्वमगृहीत-ग्राहित्वम् इति भावः । धारावहनेति । अयमाशयः—अगृहीत-ग्राहित्वमिति प्रमालक्षणम् पराभिमतम् यथार्थत्वेन विशेषितं न वा ? यदि प्रथमः कल्पः तर्हि प्रमात्मके धारावहन-ज्ञाने 'घटोऽयम् घटोऽयम् घटोऽयम्' इत्यादौ लक्षणस्य अव्याप्तिः, तत्र पूर्व-पूर्व-ज्ञान-विषयीभूतस्यैव घटस्योत्तर-ज्ञान-विषयत्वात् गृहीत-ग्राहित्वात् । अथ न यथार्थत्वेन विशेषितम् इति द्वितीयः कल्पः तदा भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—इदं रजतमिति । शुक्तावित्यादि । किन्तर्हि निर्दुष्टं प्रमालक्षणम् ? इत्याह—यथार्थेति । नन्वेवमनुभव-पद-प्रक्षेपे

[अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से समाक्रान्त होने के कारण प्रमा-ज्ञान का यह लक्षण उचित नहीं है कि अज्ञात-वस्तु-विषयक ज्ञान प्रमा है । प्रमा-ज्ञान वस्तुतः वह अनुभवात्मक-ज्ञान है जिसकी यथार्थता किसी दूसरे ज्ञान की यथार्थता पर निर्भर न हो ॥ १ ॥

'अपूर्व-दृक्त्वम्' का अर्थ है अज्ञात-वस्तु का ग्रहण करना, यह लक्षण "अयं घटः अयं घटः अयं घटः" इस धारा-वाहि-ज्ञान के द्वितीयादि ज्ञानों में अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि पूर्व-पूर्व-ज्ञान के द्वारा ज्ञात विषय को ही उत्तरोत्तर ज्ञान विषय बनाते हैं, और शुक्ति में 'यह रजत है' इस भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त भी है ।

---

१. 'अव्याप्तेरधिक-व्याप्तेः' इति क-पुस्तके पाठः ।

अनपेक्षतयेति—स्मृतेः जनकाऽनुभव-समान-विषयकतया तत्प्रामाण्याधीन-प्रामाण्यकतया सापेक्षत्वात् तत्र न प्रमात्व-व्यवहारस्तान्त्रिकाणामिति ॥१॥

ननु धारावाहिके नाऽव्याप्तिः, ज्ञानेन हि विषयनिष्ठो धर्मः कश्चित् जननीयः, अन्यथा ज्ञानस्य विषयप्रतिनियमो न स्यात्। तथा च तमादाय

स्मृतेः प्रामाण्यं न स्यात् ? इत्यत्राह—अनपेक्षतयेति। स्मृतेः अप्रमात्वमिष्टमेवेति भावः। तथा च अनपेक्षं यथार्थ-ज्ञानं प्रमा इत्येव लक्षणम्, अनुभव-पदं च अनपेक्षत्व-दार्ढ्यायेति प्रतिफलितम्। अथवा अनपेक्षपदमेव दार्ढ्यार्थमित्यपि सम्भवति। स्मृतेः अप्रामाण्ये युक्तिमाह—स्मृतेरित्यादिना। स्मृत्यप्रामाण्ये वाचस्पति-मिश्राः—तान्त्रिक-व्यवहाराभावमेव शरणमाहुः तात्पर्यटीकायाम्। जयन्त-भट्टास्तु—अनर्थजत्वेन स्मृतेः प्रामाण्याभावः इत्याहुः न्याय-मञ्जर्याम्। श्रीधराचार्यास्तु पूर्वानुभव-पारतन्त्र्यम् तत्प्रामाण्याभावे हेतुमुक्तवन्तः न्याय-कन्दल्याम्। आचार्यास्तु उभयमपि समाजह्रुरिति व्यक्तं मूले। मया चैष विषयः सत्करी-मुकर्जीअभिनन्दन-ग्रन्थे उपनिबद्धे निबन्धे विवेचितः इति तत्रान्वेषणीयमधिकम् इति दिक् ॥१॥

पुनरपि शङ्कते—नन्विति। प्रतिनियमो व्यवस्था। न स्यादिति। अयमाशयः—पट-ज्ञानस्य विषयः पटः इत्यभिमतं सर्वेषाम्। परन्तु यदि कथं पट एव तज्ज्ञानस्य विषयो न घटादिरित्यत्र किं मूलमिति प्रश्नः क्रियते तदा किमुत्तरम् ? ज्ञान-विषययोः भेदे च सर्वजन-प्रसिद्धे 'पटेन ज्ञानस्य तादात्म्यमादाय विषय-प्रतिनियमः' इति सौगत-मतेन न निर्वाहः; आलोकादेरपि पट-चाक्षुषादि-जनकत्वे सर्वाभिमते 'पटेन तज्ज्ञानं जन्यते अतः पट एव तस्य विषयो नान्यः' इति तदुत्पत्तिपक्षेऽपि नोपपत्तिः। अतः पटे पटीयज्ञान-विषयत्व-प्रतिनियमार्थं पटीय-ज्ञानेन पटे कश्चित् धर्मः ज्ञातताऽऽख्यः जन्यते

अपने मत में प्रमा का लक्षण बतला रहे हैं—'यथार्थ····'इत्यदि शब्दों से। 'अनपेक्षतया' यह इस लिए कहा गया है कि स्मृति—जो पूर्वानुभव के विषय को ही विषय बनाती है और इस लिए जिसका प्रामाण्य भी पूर्वानुभव के प्रामाण्य पर ही निर्भर होता है—को आचार्यों ने प्रमा नहीं मानी है ॥ १ ॥

इस पर प्रश्न हो रहा है कि धारा-वाहिक ज्ञान के द्वितीयादि ज्ञानों में उक्त अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान के द्वारा उसके विषय में किसी धर्म—ज्ञातता—की उत्पत्ति माननी होगी, अन्यथा घट-ज्ञान का विषय घट ही होता

अगृहीतग्राहित्वमेव ।

किञ्च स धर्मः तदुपादान-ज्ञान-जन्यो न वा ? आद्ये उपादान-ज्ञानस्य उपादान-विषयतानियमार्थम् धर्मान्तर-स्वीकारे तत्रापि एवम् इत्यन-

इति अवश्यमङ्गीकार्यः इति। ज्ञातताख्य-धर्मोत्पत्ति-स्वीकारस्य विषयत्व-प्रतिनियमार्थमावश्यकत्वे च पूर्व-ज्ञान-जन्य-ज्ञातता स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणोत्पन्न-द्वितीयादि-ज्ञाने भासते इति पूर्वपक्षिणां सिद्धान्तात् धारावाहिक-स्थले द्वितीयादि-ज्ञानानां पूर्व-पूर्व-ज्ञातता-विषयकत्वमिति अगृहीत-ग्राहित्वमेवेति अगृहीत-ग्राहित्वस्य प्रमात्व-प्रयोजकत्वे न किञ्चिद्बाधकमित्याशयमाह—तथा चेत्यादिना। एवं च तज्ज्ञान-जन्य-ज्ञातताऽऽश्रयत्वमेव तद्विषयत्वमिति सिद्धयति।

ज्ञाततायाः नैयायिकैरपि विषयत्व-प्रतिनियमार्थमवश्याभ्युपेयत्वं मन्यमानः ईश्वरासिद्धिं शङ्कते—किञ्चेति। तदुपादानेति—ज्ञातताख्य-धर्मोपादानेत्यर्थः। ज्ञाततायाः उपादानं चात्र आश्रयः पटादिः ग्राह्यः। आद्ये ज्ञाततायाः तदुपादान-विषयक-ज्ञान-जन्यत्वे। अनवस्थेति। अत्रेदमवधेयम्—यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वमिति हि नैयायिकानामीश्वर-वादिनां मतम्। कर्तृत्वं च तदुपादान-विषयाऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमत्त्वमेव तेषाम्। तथा च कार्यस्य उपादान-विषयाऽपरोक्ष - ज्ञान - चिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वे विशेषणीभूतोपादान-विषयापरोक्ष-ज्ञान-जन्यत्वमपि सिद्ध्यत्येव। एवं च सति ज्ञान-जन्य-ज्ञाततायाः अपि कार्यभूतायाः तदुपादान-विषयापरोक्ष-ज्ञान-जन्यत्वमुचितम्। तच्चानुपपन्नम्, ज्ञाततायाः उत्पत्त्यर्थं तदुपादानभूत-पटादि-विषयक-ज्ञानमावश्यकम्, परन्तु तदुपादाने पटादौ ज्ञान-विषयत्वं तावन्न सम्भवति, विषयत्वस्य

है, पट नहीं इस प्रकार का विषय-विषयिभाव-नियम नहीं बन सकेगा। एवञ्च अवश्य-मन्तव्य ज्ञातता से विशिष्ट घट तथा उससे रहित घट में तथा एक-ज्ञान-जन्य ज्ञातता से विशिष्ट तथा अन्य-ज्ञान-जन्य ज्ञातता से विशिष्ट घटों में परस्पर भेद होने के कारण प्रत्येक ज्ञान का विषय भिन्न-भिन्न हो जाता है और इस प्रकार सभी धारा-वाहिक ज्ञान अज्ञात-विषयक ही हो जाते हैं।

अब यह प्रश्न है कि इस ज्ञाततात्मक कार्य की उत्पत्ति में इस ज्ञातता के उपादान—जिसमें ज्ञातता की उत्पत्ति होती है—का ज्ञान प्रयोजक है या नहीं ? यदि नैयायिक उत्तर दें कि है तो पुनः प्रश्न होगा कि ज्ञातता की उत्पत्ति में अपेक्षित उपादान-ज्ञान का विषय होगा उपादान, उसके साथ उसके ज्ञान के

वस्था। द्वितीये तु कार्यत्वं हेतुः तत्रैव व्यभिचारीति नेश्वरस्य क्षित्यादि-कर्तृतया सिद्धिः इति। अत्राह—

ज्ञातताधीनतया ज्ञाततोत्पत्तेः प्राक् पटादेः ज्ञान-विषयत्वासम्भात्। तथा च ज्ञाततोत्पत्त्यपेक्षं तदुपादाने ज्ञान-विषयत्वम्, तदुपादान-निष्ठ-ज्ञान-विषयत्वापेक्षा च ज्ञाततोत्पत्तिरिति अन्योन्याश्रयः, तृतीय-कल्पने चक्रकमधिके तु अनवस्थेति न ज्ञाततायाम् सत्यपि कार्यत्वे उपादान-ज्ञान-जन्यत्वमुपपद्यते। तथा च द्वितीयः कल्पोऽवशिष्यते इति तत्रानुपपत्तिमाह—द्वितीये तु इत्यादिना। व्यभिचारीति—ज्ञाततायां कार्यत्वमस्ति किन्तु सकर्तृकत्वं नास्ति यतः सकर्तृकत्वव्याप्यमुपादान-ज्ञान-जन्यत्वं नोपपद्यते इति यत्र यत्र कार्यत्वम् तत्र तत्र सकर्तृकत्वमिति व्याप्तेरेव ग्रहणं न सम्भवति, सहचार-दर्शन-व्यभिचाराऽदर्शनाभ्यां हि नैयायिकानां व्याप्ति-ग्रहः। प्रकृते च घटादौ सत्यपि सहचार-दर्शने सकर्तृकत्वाभाववत्यां ज्ञातता-याम् कार्यत्वस्य दर्शनेन व्यभिचारस्य दर्शनादिति कार्यत्व-सकर्तृ-कत्वयोः व्याप्तेः असिद्धौ न तामाश्रित्य क्षित्यादिकार्यस्य सकर्तृ-कत्वानुमानपरिशेषादीश्वरसिद्धिः इत्याह—नेश्वरस्येत्यादिना। कर्तृत्व-लक्षणे उपादान-विषय-ज्ञानाऽनिवेशे तु सर्वज्ञत्व-सन्देहादपि व्याघात इत्यपि बोध्यम्।

ज्ञाततैव नास्ति कुतः तत्र कार्यत्वस्य सकर्तृकत्व - व्याप्यत्व-व्यभिचार इति समाधानमुपस्थापयति—इत्यत्राहेत्यादिना।

विषय-विषयिभाव के उपपादन के लिए एक दूसरी ज्ञातता को ही माननी पड़ेगी, इस क्रम से अनवस्था-दोष आ जाता है। यदि उस ज्ञातता को उपादान-ज्ञान-जन्य नहीं मानते हैं तब तो यह बात आ गई कि कार्य कर्त्ता के बिना भी उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि ज्ञातता-रूप कार्य में उसके उपादान-ज्ञान के अप्रयोजक होने से उपादान-ज्ञान-व्याप्य सकर्तृत्व भी अप्रयोजक हो जायेगा, फलतः पृथिवी आदि में कार्यत्व के आधार पर सकर्तृकत्व तथा उसके कर्त्ता के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि कैसे हो पाती है? इसी पूर्व-पक्ष के समाधान के लिए ग्रन्थकार का कथन है:—

स्वभाव-नियमाऽभावादुपकारो[1] हि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

स्वभाव-विशेष एव विषयता-नियामकः, अन्यथा ज्ञातताऽऽधानेऽपि नियमानुपपत्तिः इति स्वभाव एव नियामकस्तत्रापि। किञ्च वर्त्तमान-विषये तदुत्पत्तावपि अविद्यमाने विषये ज्ञाततायाः उपादान-विरहात्

स्वभाव-नियमाभावात् इति मूलम्। स्वभावः स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषः। तदाश्रितः एव विषय-नियमः इत्यर्थः। अभावादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च स्वभाव-प्रयोज्यविषयतानियमाभावमाश्रित्य (अर्थात् ज्ञाततामाश्रित्य) जायमानः उपकारः दुर्घटः भवतीति कथञ्चिद्व्याख्येयम्। नियमानुपपत्तिरिति—घट ज्ञानं घटे एव ज्ञाततामुत्पादयति न पटे इति नियमानुपपत्तिः। ज्ञान-विषयीभूतत्वेन ज्ञाततायाः अपि-ज्ञाततान्तराश्रयतया अनवस्था चेत्यपि बोध्यम्। एवञ्च यदि उक्त-दोषद्वय-समाधानार्थम् स्वभावस्यैव नियामकत्वमभ्युपगम्यते तदा तेनैव विषय-नियमोऽप्यस्तु किमन्तर्गडुना ज्ञातताख्यधर्मेणेत्याह—इति स्वभाव एवेति। ज्ञाततायाः अस्वीकारे युक्त्यन्तरमाह—किञ्चेति।

[विषय-विषयिभाव के नियम को स्वाभाविक ही मानना चाहिए ज्ञातता के आधार पर नहीं, क्योंकि स्वाभाविक नियम नहीं मानने पर ज्ञातता के आधार पर भी उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि घट-ज्ञान घट में ही ज्ञातता का उत्पादन करता पट में नहीं—इसका उपपादन ज्ञातता के आधार पर कैसे होगा? और भी, यदि कथञ्चित् वर्त्तमान पदार्थों के साथ विषय-विषयि-भाव का उपपादन ज्ञातता के आधार पर मान भी लिया जाय तब भी अतीत तथा अनागत पदार्थों में, जहाँ धर्मिभूत पदार्थ के अभाव में ज्ञाततात्मक धर्म की उत्पत्ति असम्भव है, स्वाभाविकत्व माने विना किस आधार पर विषय-विषयिभाव का उपपादन होगा? ॥ २ ॥]

विषय-विषयि-भाव का नियामक स्वभाव ही हैं, नहीं तो ज्ञातता के मानने पर भी यह व्यवस्था नहीं हो सकती है कि घट-ज्ञान से घट में ही ज्ञातता उत्पन्न होती है पट में नहीं। अतः सर्वत्र स्वभाव को ही विषय-विषयि-भाव का नियामक मानना लाघवानुगत है। दूसरी बात यह भी है कि वर्त्तमान विषय में ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति यदि कथञ्चित् मान्य भी हो तथापि अवर्त्तमान

१. 'दुपकारोऽपि' इति क-ख-पुस्तकयोः पाठः।

अनुत्पत्तौ विषयतानियमानुपपत्तिरिति स्वभाव एव तत्र नियामकः इति ॥ २ ॥

ननु क्रियया कर्मणि किञ्चिज्जननीयम् इति व्याप्तेः ज्ञान-क्रिययाऽपि विषयनिष्ठो धर्मो जननीय इत्यत्राह—

अविद्यमाने इति तु मूलस्थस्य असति इत्यस्य विवरणम् । अन्यत् स्पष्टम् । तथा च नास्ति ज्ञातता इति न तत्र कार्यत्वस्य सकर्तृकत्वव्यभिचार इति क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वेन ईश्वरः सिद्ध्यत्येवेति स्थितम् ॥२॥

इदानीं ज्ञाततायाम्प्रमाणाभावमपि साधयितुं प्रथमम्पूर्वपक्षमारचयति—न नु इत्यादिना । जननीयमिति । अयमाशयः—पर-समवेत-क्रियाजन्य-फल-शालित्वं हि कर्मत्वम् नैयायिकाः सङ्गिरन्ते । तथा च देवत्तादि-समवेत-ज्ञान-क्रिययाऽपि कश्चिदतिशयः घटादौ कर्मणि अवश्यमेव जननीय इति अवश्यमङ्गीकार्यम्, इतरथा घटादेः कर्मत्वानुपपत्तेः इति ज्ञानम् घटादि-निष्ठ-किञ्चिज्जनकम् सकर्मक-क्रियात्वात् हन्त्यादिवदित्यनुमानेन ज्ञातता-सिद्धिरिति पुनरपि तस्यां कार्यत्वहेतोः सकर्तृकत्व-व्यभिचारः यथावस्थ एवेति । तदाह—ज्ञान-क्रिययाऽपीत्यादिना । अत्रोत्तरम्—अनैकान्त्यादिति । व्यभिचारादित्यर्थः । सकर्मिका क्रिया स्वकर्मणि कञ्चिदतिशयं जनयत्ये-

विषयों में ज्ञातता के उपादान—घट पट आदि विषय—के अभाव होने से ज्ञातता की उत्पत्ति असम्भावित हो जाएगी, फिर वहाँ विषय-विषयिभाव की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः अविद्यमान-विषयों में स्वभाव को ही उसका नियामक जब मानना ही है तो फिर सब जगह उसी से काम चलाना अच्छा है, व्यर्थ एक नवीन पदार्थ—ज्ञातता—की कल्पना का कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता ॥ २ ॥

फिर यह प्रश्न है कि क्रिया के द्वारा कर्म-कारक में किसी न किसी फल का उत्पादन अवश्य ही होना चाहिए—इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-विशेषात्मक दर्शन, स्पर्शन आदि क्रियाओं द्वारा भी उनके कर्म-कारक के स्थान में प्रतिपन्न घट-पट आदि विषयों में भी किसी न किसी धर्म की उत्पत्ति होगी ही और वही धर्म तो ज्ञातता है। एवञ्च कार्यत्व तथा सकर्तृकत्व के साहचर्य में पूर्वोक्त अनुपपत्ति यथावत् बनी रह जाती है, फिर ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है:—

अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया ।
तद्वैशिष्ट्य - प्रकाशत्वान्नाऽध्यक्षाऽनुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

क्रिया यदि धात्वर्थः तदा 'शरेण गगनं युनक्ति' इत्यत्र संयोगेन गगन-निष्ठ-किञ्चिदजननात् अनैकान्तः; यदि करण-व्यापारः क्रिया तदापीन्द्रियसंयोगादिना घटादिनिष्ठ-किञ्चिदजननात् व्यभिचारः। अथ क्रिया

वेति नियमे व्यभिचारम्प्रदर्शयितुम् प्रथमं क्रिया-पदार्थं विकल्पयन्नाह—क्रिया यदि इत्यादिना। इन्द्रिय-संयोगादिना = घटादि-प्रत्यक्षे जायमानेन इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षादिना। आदिपदात् परामर्शादि-व्यापारपरिग्रहः। मूलस्थासिद्धेरिति पदं विवृणोति—अथेत्यादिना। असिद्धिरिति—ज्ञाने पक्षे स्पन्दात्मकत्वस्य हेतोः असत्त्वेन स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः। तथा च ज्ञानं कर्मनिष्ठ-किञ्चिदतिशयाधायकं क्रियात्वादित्यनुमानं न सम्भवति, क्रियात्वस्य कर्म-निष्ठातिशय-जनकत्वा-

[क्रिया अपने कर्म-कारक में किसी न किसी धर्म—ज्ञातता—का उत्पादन अवश्य करती है—इस अनुमान में प्रयुज्यमान क्रियात्व-रूप हेतु व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास से युक्त होने के कारण सद्धेतु नहीं हो सकता है। फलतः उसके आधार पर उपर्युक्त अनुमान नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि विशिष्ट-ज्ञान विशेषण, विशेष्य तथा उन दोनों के सम्बन्ध को छोड़कर पदार्थान्तर को अपना विषय यतः नहीं बनाता है अतः 'ज्ञातो घटः' इत्यादि विशिष्ट-प्रत्यक्ष-ज्ञान से भी घटादि में ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः अप्रामाणिक ज्ञातता के आधार पर उपर्युक्त दोष निराधार है ॥३॥]

क्रिया शब्द धात्वर्थ-मात्र का यदि वाचक है तव तो 'शर से आकाश को संयुक्त करता है' यहाँ संयोग-रूप धात्वर्थ (= क्रिया) से अव्यय आकाश में किसी फल के अनुत्पादन के कारण—क्रिया के द्वारा कर्म-कारक में किसी न किसी फल का उत्पादन आवश्यक है—इस सिद्धान्त (व्याप्ति) में व्यभिचार दोष आ जाता है; यदि करण-कारक के व्यापार का वाचक क्रिया है तव भी व्यभिचार उद्धृत नहीं हो पाता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के करण चक्षु आदि इन्द्रिय के संयोग आदि व्यापार से कर्म-कारक-स्थानापन्न घट-पट आदि में किसी विशेष धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि क्रिया का अर्थ स्पन्द, अर्थात् ईषद्गति, हो तव तो क्रिया में कर्म-कारक-निष्ठ-फलोत्पादकत्व का साधक हेतु—क्रियात्व—ज्ञान में ज्ञान-विषय-निष्ठ-धर्म-विशेषोत्पादकत्व के साधन के लिए

स्पन्दः तदा ज्ञानस्य स्पन्दानात्मकत्वात् असिद्धिः ।

ननु ज्ञातो घटः, साक्षात्कृतो घटः इत्यादि, प्रत्यक्षमेव ज्ञाततायां मानमित्यत्राह—तद्वैशिष्ट्येति । सर्वत्र विशिष्ट-ज्ञाने विशेषण-विशेष्ये तदुभय-सम्बन्धो विषयः । स च सम्बन्धः क्वचित् संयोगादिः, क्वचित् स्वरूपम् । तदिह घटज्ञानमित्यत्रेव घट-ज्ञानयोः स्वरूप एव सन्बन्धः ज्ञातो घट

व्याप्यत्वादिति नानुमानेन कर्मणि घटादौ ज्ञान-जन्य-ज्ञातता-सिद्धिरिति भावः ।

प्रत्यक्षमेव ज्ञाततायाम् प्रमाणम् , अत एव ज्ञातो घटः इत्यादि-ज्ञाने ज्ञातत्व-विशिष्ट-घट-विषयके विशेषणांशस्य ज्ञातत्वस्यापि विषयतया प्रतीतिरित्याशयवान् शङ्कते—नन्विति । विशेषणेति—ज्ञातत्व-विशिष्ट इत्यर्थः, वैशिष्ट्यं चात्र विषयताऽऽख्यस्वरूपसम्बन्धेनेति ज्ञातो घट इति प्रतीतौ ज्ञानं विशेषणीभूतं घटः विशेष्यभूतः, विषयताऽऽख्यः च घटे ज्ञानस्य सम्बन्धः भासते इति अधिके ज्ञान-विषयताऽतिरिक्ते ज्ञातताऽऽख्ये पदार्थे प्रत्यक्षमप्रमाणमिति परमार्थः । क्वचित् = दण्डी पुरुष इत्यादौ । क्वचित् = घट-ज्ञानमित्यादौ । स्वरूपम् = विषयित्व - विषयत्वादिकम् । विषयित्वादि च स्वरूपं सत् सम्बन्धकार्यमपि करोतीति हेतोः स्वरूप-सम्बन्ध-शब्देन अभिधीयते इति बोध्यम् । एतदेव दृष्टान्तमुखेन स्फोरयति—घट-ज्ञानमित्यत्रेवेत्यादिना । यथा घट-ज्ञानमित्यत्र धर्मान्तरस्याभासनात् विषयित्वाख्य-स्वरूपसम्बन्धेनैव घटस्यैव विशेषणत्वम् , न त्वतिरिक्तस्य कस्यापि तथा सर्वत्रैव विशिष्ट-ज्ञाने विशेषण-विशेष्य-तदुभय-सम्बन्धानामेव प्रतीति-विषयत्वं

प्रयुज्यमान अनुमान में स्वरूपाऽसिद्ध हो जाता है, क्योंकि ज्ञानात्मक पक्ष में स्पन्दत्वापरपर्याय क्रियात्व नहीं रह सकता ।

'ज्ञातो घटः', 'साक्षात्कृतो घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष-ज्ञान हीं ज्ञातता को सिद्धि में प्रमाण है—इस पूर्व-पक्ष के समाधान के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं:—'तद्वैशिष्ट्य···' इत्यादि । सभी विशिष्ट-ज्ञानों में विशेषण, विशेष्य तथा विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध, इन तीन पदार्थों से भिन्न कोई पदार्थ विषय नहीं होता है । वह विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध 'दण्डी पुरुषः' आदि विशिष्ट-ज्ञानों में संयोग होता है और 'ज्ञातो घटः' आदि ज्ञानों में विषयताख्य स्वरूप-सम्बन्ध । परन्तु इससे अधिक ज्ञातता नाम के किसी पदार्थ का अवगाहन 'ज्ञातो घटः' यह ज्ञान

इत्यत्रापि भासते। अन्यथा इष्टो घटः कृतो घटः इत्यत्र इष्टता-कृततयोरपि आपत्तेः। स्वभाव-सम्बन्धादुपपत्तिस्तुल्या ॥ ३ ॥

तदुच्यते—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

यथा घटादिना ज्ञाने विशिष्टधीः, यथा च क्रिययैव कर्मणां घटादीनां

वाच्यम्। इयांस्तु विशेषः—घट-ज्ञानमित्यत्र विषयित्वाख्यः स्वरूप-सम्बन्धः घटस्य विशेषणीभूतस्य ज्ञाने, ज्ञातो घटः इत्यत्र तु विषयत्वाख्यः स्वरूप-सम्बन्धः ज्ञानस्य घटे इति। तदेतत् अर्थेनैव विशेषः इत्यत्रोपपादयिष्यते ; तथापि ज्ञातो घटः इत्यत्र ज्ञाततायाः प्रतीतिरिति स्वीकारे तु इष्टो घट इत्यादावपि इच्छा-विषयत्वाद्यतिरिक्तस्य भानमापद्येतेति प्रतिबन्धिमाह—अन्यथेति। तथा च यथा इष्टो घट इत्यादौ इच्छा-विषयत्वाद्यतिरिक्तं न किमपि मन्यते तथा ज्ञातो घट इत्यादौ अपि ज्ञान-विषयत्वातिरिक्तं नाधिकं किञ्चित् ज्ञातताख्यमङ्गीकार्यमिति भावः ॥ ३ ॥

तदुच्यते इत्यतः स्पष्टयितुमिति शेषः। मूले विशेषः इत्यस्य भेदः अर्थः। तथा च धियाम् स्वरूपतो निराकारतया परस्परं भेदाभावेऽपि

नहीं करता है। एवञ्च यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार उपर्युक्त नियम के अनुसार 'घट-ज्ञानम्' इस स्थान में विषयिताख्य स्वरूप-सम्बन्ध की प्रतीति ज्ञान में होती है उसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इस प्रसङ्ग में भी विषयताख्य-स्वरूप-सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय होता है ज्ञातता नाम का कोई पदार्थान्तर नहीं। अन्यथा 'इष्टो घटः' 'कृतो घटः' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर इष्टता तथा कृतता आदि धर्मों का भी स्वीकार घट आदि विषयों में करना पड़ेगा। यदि 'इष्टो घटः' इत्यादि ज्ञानों में इच्छा-विषयत्व से भिन्न इष्टता नहीं है तो ज्ञान-विषयत्व से भिन्न ज्ञातता भी नहीं हो सकती ॥ ३ ॥

उपर्युक्त रहस्य का ही उद्घाटन किया जा रहा है:—

[निराकार अत एव स्वरूपतः निर्विशेष होने पर भी भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध से ज्ञानों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है कि यह घट-ज्ञान है, वह पट-ज्ञान है इत्यादि और कर्म-कारक-स्थानापन्न एक ही घट में भी ज्ञान, इच्छा आदि क्रियाओं के भेद के आधार पर ही परस्पर भेद-प्रतीति होती है न कि ज्ञातता या इष्टता के आधार पर ॥ ४ ॥]

जिस प्रकार 'घट-ज्ञानम्', 'पट-ज्ञानम्' इत्यादि स्थल में घट आदि के सम्बन्ध

व्यवहारेषु विशिष्टबुद्ध्यादिषु विशेषः तथा ज्ञातो घटः इत्यादौ ज्ञानेनैव घटादौ विशिष्ट-धीः न धर्मान्तरादिति ॥ ४ ॥

ननु तथाऽपि ईश्वरज्ञानं न प्रमा, प्रमाणजन्यत्वाऽभावात् । एवमीश्वरो न प्रमाता, न वा प्रमाणम्, प्रमा-कर्तृत्व-करणत्वयोः अभावात् । अत्राह—

अर्थेन = घटादिना प्रयोजकेन एव भेदः क्रियते । विशेषणे एव तृतीयेति चिन्तामणि-कृतः । एवमेव कर्मणाम् कारकाणां घटादीनाम्, व्यवहारेषु इष्टो घटः, कृतो घटः इत्यादिषु कर्मत्वेन एकत्वेऽपि क्रियया इच्छा-कृत्यादिकया प्रयोजिकयैव परस्परं भेदः इति मूलकारिकाऽर्थः । अर्थेनैवेति मूलोक्तं स्पष्टयति—यथेति । घटे [illegible] —घटज्ञानमित्यादौ । विशिष्ट-बुद्ध्यादिषु = इष्टो घटः कृतो घट [illegible] दिषु । धर्मान्तरात् = ज्ञातताऽऽख्यात् इत्यर्थः । तथा च न कार्यत्व [illegible] यां सकर्तृकत्व-व्यभिचाराऽऽपादनेन क्षित्यादि-कर्तुरीश्वरस्य [illegible] ति तात्पर्यम् । एतेन करण-व्यापार-विषयत्वमेव कर्मत्वे [illegible] तु पर-समवेत-क्रिया-जन्य-फलाश्रयत्वमपीत्यपि ध्वनितमे [illegible] ॥४॥

अगृहीत-ग्राहित्वाभावेन ईश्वर-ज्ञानस्य अप्रमा [illegible] पक्षे विफलीभूतः पूर्व-पक्षी पक्षान्तरेणेश्वर-ज्ञाने प्रमात्वाभावं साधयितुमुपक्रमते—नन्वत्यादिना । जन्यत्वाभावादिति । अयमर्थः—प्रमा नाम क्रिया-विशेषः, क्रिया च जन्यैवेति तद्विशेषस्य प्रमाया अपि जन्यत्वम्, ईश्वरीय-ज्ञानस्य तु नित्यत्वेन जन्यत्वाभावात् क्रिया-विशेष-प्रमाऽऽत्मकत्वं न सम्भवतीति । प्रमा-कर्तृत्वेत्यादि—ईश्वरस्य स्वसमानाधिकरण-प्रमाऽनुकूल-व्यापार-राहित्येन प्रमां प्रत्यकारकतया कारक-विशेषात्मक-कर्तृत्वादि-राहित्यमिति भावः ।

से ही परस्पर-भिन्न विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति होती है और 'कृतो घटः', 'इष्टो घटः' इत्यादि विशिष्ट बुद्धियों के कर्म, घट, में भी कृति, इच्छा आदि क्रियाओं के सम्बन्ध से विशिष्ट बुद्धि की उपपत्ति तथा परस्पर भेद उपपन्न हो जाता है, उसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इस विशिष्ट-ज्ञान की उपपत्ति भी घट के साथ ज्ञान के सम्बन्ध-मात्र—विषयताख्य स्वरूप सम्बन्ध—से हो जाती है, न कि ज्ञातता नाम के किसी अन्य धर्म के आधार पर ॥ ४ ॥

अस्तु, तथापि ईश्वर के ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रमाण से जन्य ज्ञान ही प्रमा है, परन्तु ईश्वर का नित्य-ज्ञान जन्य नहीं है। एवञ्च प्रमा के कर्त्ता तथा उसके करण, इन दोनों से भिन्न ईश्वर को प्रमाता या प्रमाण नहीं कहा जा सकता है । इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं :—

मितिः सम्यक्-परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोग-व्यवच्छेदः प्रामाण्यम् गौतमे मते ॥ ५ ॥

यथार्थानुभवत्वमेव प्रमात्वम् अजन्यत्वेऽपि ईश्वर-ज्ञानस्य अविरुद्धम्। प्रमातृत्वं प्रमा-समवायित्वम्, तच्च अकारणत्वेऽपि प्रमायाः ईश्वरस्य अविरुद्धम्।

एवं प्रमया सह अयोग-व्यवच्छेदेन सम्बन्धितया ईश्वरस्य प्रमाणत्वम्,

सम्यक् परिच्छित्तिरित्यस्य विवरणम्—यथार्थेत्यादि। अविरुद्धमिति। अयम[illegible] प्रमा नाम क्रिया-विशेषः। स च धात्वर्थमात्रम न तु जन[illegible] नित्य-प्रमा-सिद्धौ तद्व्यवच्छेदस्य अनिष्टत्वात्, अ[illegible]वच्छेद्याभावात् जन्यत्व-विशेषणस्य नैरर्थक्यमिति ई[illegible] प्रमात्वे न किमपि बाधकम्।

[illegible] प्रमातृत्वमपि न प्रमा-समवायिकारणत्वम् अजन्य-प्रमा-[illegible]द्धिभ्यां व्याघातात्; अपि तु प्रमा-समवायित्वमेव, तच्च ईश्वरेऽपि सुलभमित्याह—प्रमातृत्वमित्यादिना। यद्यपि "मन्त्रायुर्वेदवत्" इत्यादि (न्या-सू० २।६८) सूत्रेण ईश्वरस्य-प्रामाण्य-मात्रम् प्रतिपाद्यते तथाऽपि प्रमा-समवायित्वस्य प्रमाऽयोग-व्यवच्छेद-सम्बन्धस्य चेश्वरे सत्त्वेन उभयथा व्यवहारः, निमित्त-समावेशे व्यवहार-समावेशाऽविरोधादित्यवधेयम्।

अधुना ईश्वरे मन्त्रायुर्वेदवदित्यादिनोक्तं प्रामाण्यमपि साधयति—एवमित्यादिना। अयोगव्यवच्छेदेनेति—काल - विशेषावच्छेदेन देश-विशेषावच्छेदेन वा यः प्रमाया अयोगः = अभावः, तद्व्यवच्छेदः =

[प्रमा का अर्थ है यथार्थ अनुभव और उसका समवाय-सम्बन्ध जिसके साथ हो वही प्रमाता होता है और उस प्रमा के कालिक तथा दैशिक अभाव के व्यतिरेक से सम्बन्ध रखनेवाले को ही गौतम के सिद्धान्त में प्रमाण कहा जाता है ॥ ५ ॥]

यथार्थ अनुभवत्व ही प्रमात्व है और इस तरह का प्रमात्व नित्य ईश्वर-ज्ञान में भी निर्विरोध माना जा सकता है। प्रमा के समवाय-सम्बन्ध का अनुयोगी होना ही तो प्रमातृत्व है और यह प्रमातृत्व तो ईश्वर—जो स्व-समवेत प्रमा का कारण नहीं है—में भी उपपन्न ही है।

इसी प्रकार प्रमा के दैशिक तथा कालिक अभाव के व्यवच्छेद के साथ

न तु कारणत्वमपि तत्र नियामकमिति "मन्त्रायुर्वेदवत् तत्प्रामाण्यम् आप्त-प्रामाण्यात्" इति सूत्रे (न्या. सू. २।६८) ईश्वरस्य प्रामाण्यमुक्तम्।

न चेश्वरस्य पञ्चम-प्रमाणत्वापत्त्या विभाग-व्याघातः, प्रमा-करणा-

तदभावः, तत्सम्बन्धितयेत्यर्थः। नियामकम् इति—स्व-समानाधिकरण-प्रमा-निरूपित-करणत्वाभाववतः ईश्वरस्य प्रमाणत्वे निर्णीते तदसङ्ग्रहापत्तिभिया प्रमा-करणत्वस्य प्रमाणपद-प्रवृत्ति-निमित्तत्वं दुर्घटम्, अथ चेत् अनभिमतमीश्वर-प्रामाण्यम् तर्हि व्यवच्छेद्याभावादेव करणत्व-निवेशो विफल इति प्रमाऽयोगव्यवच्छेद-सम्बन्धिन एव प्रमाणत्वमिति भावः। ईदृशमेव प्रमाणत्वं न्याय-सूत्रे उक्तमिति दर्शयति—मन्त्रायुर्वेदवदित्यादिना।

इदम्पुनरत्रावधेयम्—यद्यपि प्रमिणोति इति प्रमाता, प्रमीयते अनेन इति प्रमाणमिति कर्त्तरि करणे च विधीयमानाभ्याम्, तृज्ल्युड्भ्यां निष्पन्नौ प्रमातृ-प्रमाण-शब्दौ कारक-शब्दाविति स्फुटम्, तथापि तत् कर्तृत्वादि-व्युत्पत्ति-निमित्तमेव तयोः न तु प्रवृत्ति-निमित्तमपि। अस्ति च व्युत्पत्ति-निमित्त-प्रवृत्ति-निमित्तयोः भेदः, अत एव स्थिरायामपि गोत्व-विशिष्ट-व्यक्तौ गो-पद-प्रयोगः, अन्यथा गमनार्थक-गम्-धातोः डो-प्रत्यये व्युत्पन्नस्य तस्य स्थिरायां गवि प्रयोगः नैव स्यादिति अधिकम् अन्यतोऽवसेयम्।

ननु ईश्वरस्याऽपि प्रमाणत्वे "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इति न्यायसूत्रे प्रमाण-चातुर्विध्यमुक्तम्, तच्च विरुद्ध्येतेति शङ्कामपनेतुमाह- न चेत्यादि। प्रत्यक्षानुमानेत्यादि सूत्रं हि लौकिक-प्रमाणाभिप्रायम् लोक-व्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्येति। लौकिक-प्रमाणस्य च प्रमा-करणत्वं प्रसिद्धमिति तदभिप्रायेणैव तत्र प्रमाणस्य चातुर्विध्य-प्रतिपादनमिति न दोषः इत्याशयवानाह—प्रमा-करणेत्यादि। आचार्यास्तु प्राहुः—प्रत्यक्ष-प्रमाणे एव ईश्वरस्यान्तर्भावः, साक्षात्कारि-प्रमा-समवायित्वस्यैव प्रत्यक्ष - प्रमाण-प्रवृत्ति - निमित्तत्वात्।

सम्बद्ध होने के कारण ईश्वर में प्रमाणत्व भी माना जाता है और प्रमा का कारण होना ही प्रमाण होने का नियामक नहीं है। उपर्युक्त प्रकार का प्रमाणत्व ही महर्षि गौतम ने "मन्त्रायुर्वेदवत् तत्प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्यात्" इस सूत्र में बतलाया है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर को यदि पाँचवाँ प्रमाण मान

ऽभिप्रायेण विभाग-सम्भवात् ।

न चेश्वर-ज्ञानस्य भ्रम-विषयावगाहित्वेन भ्रमत्वापत्तिरिति वाच्यम्, व्यधिकरण-प्रकारकत्वाभावेन अप्रमात्वाभावात् । भ्रम-निष्ठं शुक्ति-विशेष्यकत्वं रजतत्व-प्रकारकत्वं च सदेवेति तदवगाहितया ईश्वर-

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नमित्यादिना प्रतिपादितायाः प्रत्यक्ष-प्रमायाः करणे इन्द्रियादौ प्रत्यक्ष-प्रमाण-पद-वाच्यत्वावगतिस्तु लौकिक-स्थित्यभिप्रायेणेति । यद्यपि वृत्ति-ग्रन्थोऽपि यथाकथञ्चि-दाचार्योऽविरोधेन व्याख्यातुं शक्यः, तथाऽपि क्लिष्टत्वा-दुपेक्षित इति स्वयमेवोहनीयं निपुणैरिति दिक् ।

नापि तृतीय-प्रकारेणेश्वर-ज्ञानस्याऽप्रमात्वमिति साधयितुं प्रति-पादयति न चेति । भ्रम-विषयावगाहित्वेनेति—भ्रमात्मक-ज्ञान-विषयक-ज्ञाने भ्रमात्मक-ज्ञान-विषय-विषयकत्वस्यापि सत्त्वादित्यर्थः । अयमर्थः—यदा हि ईश्वर-ज्ञानम् अस्मदादि-भ्रमज्ञानमालम्बते तदा तद्भ्रमस्य विषय-मस्पृशतो हि ईश्वरीय-ज्ञानस्य न भ्रमात्मक-ज्ञानावगाहन-सम्भव इति भ्रम-विषयस्यापि भ्रम-विषयक-ज्ञानालम्बनत्वमभ्युपेयम्, अन्यथा अस्मदादि-विभ्रमानविदुषः ईश्वरस्य असर्वज्ञत्वापात इति स्थितौ विपरीतार्थालम्बनत्वेन ईश्वर-ज्ञानस्य विपर्ययत्वमिति पूर्वपक्षः, सच अयुक्त इति न···वाच्यमित्युक्तम् वृत्तौ । तत्र हेतुं विवृणोति—व्यधिकरणेत्यादिना । शुक्तिर्हि न रजतत्वस्य अधिकरणम् अपि तु रजतम् इति शुक्तौ रजतत्व-प्रकारकं ज्ञानं व्यधिकरण-प्रकारकमिति भवति तस्य भ्रमत्वम् । रजतत्व-प्रकारक-शुक्ति-विशे-ष्यक-ज्ञानवानित्याकारके भ्रम-विषयके ज्ञाने तु रजतत्वं न प्रकारः

लिया जायगा तो गौतमोक्त प्रमाणचातुर्विध्य का खण्डन हो जायेगा, क्योंकि चातुर्विध्य तो प्रमा के करणों की दृष्टि से गौतम ने बतलाया है ।

यह भी आक्षेप नहीं किया जा सकता है कि ईश्वर के सर्वज्ञ होने से हमारे भ्रम-ज्ञान तथा उसका विषय शुक्ति-रजत आदि भी ईश्वर-ज्ञान के विषय बनेंगे ही और इस लिए ईश्वर-ज्ञान में भ्रमत्व आ जायेगा, क्योंकि ज्ञान भ्रम तभी होता है यदि उस ज्ञान के विषय में प्रकारीभूत धर्म उस ज्ञान के विषय में वर्त्तमान नहीं रहता है, परन्तु ईश्वर का ज्ञान ऐसा नहीं होता है इस लिए उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता है । कहना यही है कि हमारे भ्रम-ज्ञान—शुक्ति में 'यह रजत है' इस प्रकार के ज्ञान—में शुक्ति, जिसका उल्लेख भ्रम में 'यह'

ज्ञानस्य प्रमात्वोपपत्तिः ॥ ५ ॥

स्तबकार्थ-सङ्ग्राहक-श्लोकमाह—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्ष-स्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्ट-निखिल-प्रस्तावि-वस्तु-क्रमः ।
लेशाऽदृष्टि-निमित्त-दुष्टि-विगम-प्रभ्रष्ट-शङ्का-तुषः
शङ्कोन्मेष-कलङ्किभिः किमपरैः तन्मे प्रमाणं शिवः ॥६॥

भूतार्थानुभवे = यथार्थानुभवे, साक्षात्कारिणि = प्रत्यक्षे, निविष्टः = विषयीभूतः, निखिल-प्रस्तावि-वस्तूनाम् = नाना-पदार्थानाम्, क्रमः यस्य

अपि तु रजतत्व-प्रकारकत्वमेव, तच्च ईश्वरीय-ज्ञान-विषयीभूते भ्रमात्मकज्ञाने वर्तते एवेति भ्रम-विषयक-ज्ञानस्य न व्यधिकरण-प्रकारकत्वमिति नैव भ्रमत्वमित्यर्थवान् विवृणोति—भ्रम-निष्ठमित्यादिना। तथा च तदभाववति तत्प्रकारक-ज्ञानस्यैव भ्रमत्वमित्यर्थादायाति ॥ ५ ॥

यस्य प्रत्यक्षात्मके यथार्थानुभवे सकल-पदार्थानां सामान्य-विशेष-

शब्द से किया गया है, वही विशेष्य के रूप में उपात्त हुआ है और उसमें प्रकार के रूप में रजतत्व है और उस भ्रम-ज्ञान का जो ईश्वरीय ज्ञान है—अयं शुक्तौ रजतत्व-प्रकारक-ज्ञानवान्—उसमें रजतत्व नहीं अपि तु रजतत्व-प्रकारत्व ही प्रकार है जो यथार्थ ही है। इस लिए ईश्वर-ज्ञान में प्रमात्व उपपन्न है ॥ ५ ॥

पूरे स्तवक के विषयों को सङ्गृहीत करनेवाला श्लोक लिख रहे हैं—

[जिनके नित्य अत एव प्रमाणान्तरनिरपेक्ष प्रत्यक्षात्मक यथार्थानुभव की विषयता की परिधि में विश्व के सभी पदार्थों के सामान्य एवं विशेष स्वरूप प्रतिपन्न हैं और जिन्होंने विशेषाऽज्ञान के कारण होनेवाले राग-द्वेष आदि से कुछ भी संस्पृष्ट नहीं होने से स्व-निर्मित वेदों के प्रामाण्य के विषय में की जाने वाली आशङ्का को सर्वथा अप्रतिष्ठित कर दिया है और इस लिए जिनकी सिद्धि में शङ्का-रूपी कलङ्क से सम्पन्न नास्तिकवर्यों का कुछ भी चारा नहीं चल पाता है वही भगवान् शिव मेरे प्रमाण हैं ॥ ६ ॥]

'भूतार्थानुभवे' अर्थात् यथार्थ अनुभव में, 'साक्षात्कारिणि' अर्थात् प्रत्यक्षात्मक (जिनके प्रत्यक्षात्मक यथार्थानुभव में); 'निविष्ट' अर्थात् विषय के रूप में प्रस्तुत हो गए हैं, 'निखिल-प्रस्ताविवस्तूनाम्' अर्थात् सभी पदार्थों का

स तथा, अनुभव-विषय-सकल-विश्वकः इत्यर्थः। नित्य-योगिनि = सदातनत्व-युक्ते, अत एव इन्द्रियाणां द्वाराणामनपेक्षा स्थितिर्यस्य। लेशतोऽपि, अदृष्टिः = विशेषाऽदर्शनम्। तन्निमित्तका या दुष्टिः = राग-द्वेष-मोहात्मिका, तद्विगमेन प्रभ्रष्टः शङ्का-तुषः = वेदाऽप्रामाण्य-शङ्कालेशो यस्मादित्यर्थः। प्रमाणं शिवः। एवंभूते तत्राऽप्रामाण्य-शङ्का-रूप-कलङ्क-वर्द्धुः पाखण्डैः किं कर्त्तव्यमिति भावः॥ ६॥

इति श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलिवृत्तौ
चतुर्थः स्तबकः।



रूपे प्रतिभासेते स इति मूलतात्पर्यम् पदार्थाऽऽख्यानेन प्रतिपादयति—भूतार्थत्यादिना। क्रमः = सामान्य-विशेष-वैशिष्ट्यम्। इन्द्रियाणामिति—मूलस्थ-पर-शब्दस्य विवरणम्। किं कर्तव्यमिति—किमनिष्टं कर्त्तव्यमित्यर्थः॥६॥

शास्त्रमध्यापयत् क्रोडे कृत्वा यः स्निग्धया गिरा।
लक्ष्मीनाथ-गुरुः तस्य चरणं शरणं मम॥

इति श्रीनारायण-मिश्र-कृतायां न्याय-कुसुमाञ्जलि-
वृत्ति-प्रभायां चतुर्थः स्तवकः।



स्वरूप जिनके उपर्युक्त ज्ञान में वह, तात्पर्य यह है कि जिन्होंने समस्त संसार को अपने प्रत्यक्ष का विषय बना लिया है। 'नित्य-योगिनि' अर्थात् नित्यता से युक्त में; और इस लिए जिनके उपर्युक्त ज्ञान की स्थिति में इन्द्रिय आदि साधनों की अपेक्षा नहीं है। 'लेशतोऽपि' अर्थात् थोड़ा भी 'अदृष्टि' अर्थात् विशेष का अदर्शन, उसके कारण होने वाली जो 'दुष्टि' अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि त्रुटि, उसके अभाव होने से दूर कर दी है, 'शङ्का-तुषः' अर्थात् वेदों के विषय में अप्रामाण्य-शङ्का को जिन्होंने वे 'शिव' प्रमाण हैं। इस प्रकार के 'शिव' के विषय में अप्रामाण्य शङ्का-रूप कलङ्क लगाने में उद्यत पाखण्ड कर ही क्या सकते हैं? यही भावार्थ है॥ ६॥

चतुर्थ स्तवक समाप्त



अथ पञ्चमः स्तबकः

तत्साधक-प्रमाणाभावात् इति पञ्चम-विप्रतिपत्तिः।
ननु ईश्वरे साधक-प्रमाणमेव नास्ति इत्यत्राह—

कार्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्या-विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥१॥

(क) क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवत्। स-कर्तृकत्वं च उपादान-गोचराऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमज्जन्यत्वम्।

सन्ध्ययोः सन्निधायाङ्के यस्तातः तर्कमब्रवीत्।
कर्कशं स्निग्धया वाचा तद्वियोगे कथा वृथा!

पञ्चम-विप्रतिपत्तिरिति—सांख्याचार्याणाम् इति शेषः। तदेव विवृणोति—नन्वित्यादिना। अयं हि सांख्याचार्याणामभिप्रायः—यथा बाधक-प्रमाणाभावे सत्यपि साधक-प्रमाणाभावात् शश-शृंगादेरभावः तार्किकाणाम् अभिमतः तथैव ईश्वरस्यापि साधक-प्रमाणाभावादेवाभावः सेत्स्यतीति। अत्रोत्तरमवतारयति—अत्राहेत्यादिना।

कार्यत्वादिति—कार्यं चात्र प्रागभाव-प्रतियोगि ग्राह्यम्। पृथिव्यादि-कार्याणां कर्तृत्वं जीवात्मनि अल्पज्ञे न सम्भवतीत्युपपादनाय सकर्तृकत्वं विवृणोति—उपादानेत्यादिना। एतादृशापरोक्षज्ञान-चिकीर्षादीनां जीवात्मन्यभावात् नेश्वराऽसिद्धिरिति भावः।

ईश्वर के विरोध में सांख्यदर्शनवालों की पाँचवी विप्रतिपत्ति यह है कि ईश्वरसाधक प्रमाण के न होने से ईश्वर असिद्ध है।

सांख्य-दर्शन का पूर्व-पक्ष है :— ईश्वर के साधक प्रमाण नहीं होने से ईश्वर नहीं है। इस पूर्व-पक्ष के समाधान में कह रहे हैं :—

[कार्यत्व, आयोजन, धृति, विनाश, व्यवहार, प्रामाण्य, वेद, वाक्यत्व तथा संख्या-विशेष इन नौ हेतुओं से ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए ॥ १ ॥]

पृथिव्यादि-पदार्थ सकर्तृक हैं, कार्य होने के कारण। सकर्तृकत्व का अर्थ है कार्य के उपादान के प्रत्यक्ष-ज्ञान, कार्य करने की इच्छा एवम् तत्कार्यानुकूल-प्रयत्न से सम्पन्न पदार्थ से जन्य होना। जीवात्मा में इस तरह का कर्तृत्व बाधित है, अतः इस कर्त्ता के रूप में ईश्वर ही सिद्ध होता है।

(ख) आयोजनम् = कर्म। एवं च—सर्गाद्य-कालीन-द्वयणुकारम्भक-परमाणु-द्वय-संयोग-जनकं कर्म चेतनप्रयत्न-पूर्वकम् कर्मत्वात् अस्मदादि-कर्मवत्।

(ग) धृतीति—ब्रह्माण्डादि पतन-प्रतिबन्धकीभूत-प्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्त्वात्, वियति विहङ्गमधृत-काष्ठवत्। धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः।

'धृत्यादेः' इति आदिपदात् नाश-परिग्रहः। ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यम् विनाशित्वात्, पाट्यमान-पटवत्।

कर्मेति—परमाणु-समवेतमित्यर्थः।

पतन-प्रतिबन्धकीभूतेत्यादि :—एष एव प्रयत्नः वशेषिकैः विधारक-प्रयत्न इत्युच्यते। तस्य च अचेतने ब्रह्माण्डेऽसम्भवात् परम्परया तद्वत्त्वं वाच्यमिति ईश्वरः सिध्यति इति भावः। गुरुत्ववताम् इति—गुरुत्वं हि (आद्य-) पतनस्य असमवायि-कारणम् इति असति प्रतिबन्धे गुरुत्ववतः ब्रह्माण्डादेः पतनं नियतम्, न चात्र पतनं लभ्यते इति पतन-प्रतिबन्धकं वाच्यं ब्रह्माण्डादौ। तत्र 'संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे गुरुत्वात् पतनम्' इति कणभुक्सूत्र—प्रतिपादितेषु प्रतिबन्धक-त्रयेषु आद्य-द्वयाभावात् चरममेपितव्यम्। तदाश्रयश्चेश्वर इति भावः।

'आयोजनम्' का अर्थ है कर्म। इसके आधार पर यह अनुमान बनता है:—सृष्टि के प्रारम्भ में बननेवाले द्वयणुक के समवायि-कारण परमाणुओं में होनेवाला द्वयणुकारम्भक-संयोग-जनक कर्म किसी तद्योग्य चेतन पदार्थ के प्रयत्न से जन्य होता है, कर्मत्व-विशिष्ट होने के कारण, हम लोगों के प्रयत्न से जन्य कर्म के समान। धृति के आधार पर यह अनुमान होता है :—ब्रह्माण्ड आदि पतन के प्रतिबन्धक प्रयत्न (विधारक प्रयत्न) से सम्पन्न चेतन के द्वारा अधिष्ठित हैं, क्योंकि गुरुत्व-सम्पन्न होने पर भी उनका पतन नहीं होता है, जैसे—आकाश में पक्षी के विधारक प्रयत्न से विधृत काष्ठ-खण्ड। यह विधारक प्रयत्न साधारण जीवात्मा में असम्भव है। अतः इसके आश्रय (समवायी) के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त 'धृति' का अर्थ है गुरुत्ववद् द्रव्य का पतनाभाव।

कारिका में 'धृति' के बाद प्रयुक्त 'आदि' शब्द से नाश लिया जाता है। इसके आधार पर ईश्वर-साधक अनुमान इस प्रकार है:—जिस प्रकार फटने-

'पदात्' पद्यते अनेनेति पदम् व्यवहारः। पटादिसम्प्रदाय-व्यवहारः स्वतन्त्र-पुरुष-प्रयोज्यः, व्यवहारत्वात्, आधुनिक-लिप्यादि-व्यवहारवत्।

प्रत्ययतः = प्रामाण्यात्। वेदजन्य-ज्ञानं कारण-गुण-जन्यं प्रमात्वात्, प्रत्यक्षादि-प्रमावत्।

श्रुतेः = वेदात्। वेदः पौरुषेयः, वेदत्वात्, आयुर्वेदवत्।

प्रयत्नवदिति—ईदृशस्य प्रयत्नस्य अन्यत्र समवाय-बाधात् ईश्वर-सिद्धिरिति तात्पर्यम्। विनाशित्वम् = विनाश-प्रतियोगित्वम्।

पद्यते अनेनेति—गम्यते अर्थः अनेनेत्यर्थः। सम्प्रदायः = निर्माण-परम्परा, तस्य व्यवहारः = उपदेशः। एतादृशस्योपदेशादेरन्यत्र बाधात् परमात्म-सिद्धिः। एतच्च 'मायावत् समयादयः' इत्यनेन द्वितीये उपपादित-प्रायम्।

प्रामाण्यात् = प्रमात्वात्। प्रमा चात्र शाब्दी विवक्षिता, अत एव तज्जनक-गुणवत्त्वेनेतर-बाधात् ईश्वर-सिद्धिः। प्रलयस्योपपादितत्वाच्च नाध्यापक-परम्परया निर्वाहः।

वाला पट प्रयत्नवान् चेतन पदार्थ के द्वारा विनष्ट होता है उसी प्रकार विनाशी (होने के कारण) ब्रह्माण्ड आदि पदार्थ भी तन्नाशानुकूल-प्रयत्नवान् चेतन के द्वारा ही विनष्ट होता है। इस प्रयत्न का आश्रय साधारण जीवात्मा नहीं हो सकता है, अपि तु असाधारण परमात्मा ही।

'पद' शब्द की व्युत्पत्ति है 'पद्यते अनेन', अर्थात् जिससे पदार्थ का ज्ञान होता हो। अतः पद का अर्थ है :—व्यवहार = उपदेश। अनुमान-वाक्य इस प्रकार है :—पट आदि की निर्माण-परम्परा का उपदेश किसी स्वतन्त्र पुरुष के द्वारा किया गया है, क्योंकि लिप्यादि के उपदेश (आद्य-प्रतिपादन) के समान यह भी एक उपदेश है। अल्पज्ञ अथवा सादि-सर्वज्ञ में इस उपदेशकत्व के बाध होने के कारण अनादि सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है।

'प्रत्ययतः' अर्थात् प्रमात्व हेतु से। अनुमानवाक्य यह है :—वेद-वाक्य से होनेवाला यथार्थ-ज्ञान वाक्योच्चारयिता पुरुष-विशेष के गुण से जन्य है, प्रमा-ज्ञान होने के कारण, प्रत्यक्षादि प्रमात्मक ज्ञान के समान। वक्ता के लिए वाक्य-प्रयोग से पूर्व वाक्यार्थ-ज्ञान का आश्रय होना आवश्यक है। अतः सूक्ष्माति-सूक्ष्मार्थ प्रतिपादक वेद-वाक्य का वक्ता सूक्ष्माति-सूक्ष्म-दर्शी परमात्मा सिद्ध होता है।

किञ्च वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, भारतादिवत्। वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्, अस्मदादिवाक्यवत्।

संख्या-विशेषात्—द्वयणुक-परिमाणं संख्याजन्यम्, परिमाण-प्रचया-जन्यत्वे सति जन्य-परिमाणत्वात्, तुल्य-परिमाणक-कपाल-द्वयारब्ध-घट-परिमाणात् प्रकृष्टतादृश-कपाल-त्रयारब्ध-घट-परिमाणवत्। अणु-

श्रुतेरित्यस्य धर्मपरत्वेन तदर्थमाह—वेदत्वादिति। पौरुषेयत्वं च सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चरित-जातीयत्वम् इति मणिकृतः।

वाक्यादिति मूलेऽपि वाक्यपदस्य धर्म-परत्वमभिमतमित्याह—वाक्यत्वादिति। एतदेवानुमानं चिन्तामणावप्युपन्यस्तम्। न च वाक्यार्थ-ज्ञानं विना वाक्य-रचना सम्भवति, तथाविधं च ज्ञानं नास्माकं प्रामाणिकम् इति तदाश्रयत्वेन नित्य-सर्वज्ञेश्वर-सिद्धिरिति भावः।

द्वयणुक-परिमाणे संख्याजन्यत्वम् प्रसाध्य तस्याः संख्यायाः निमित्त-कारणीभूतापेक्षा-बुद्धेः तत्समवायिकारण-परमाणुद्वयाऽद्रष्टरि साधारणे जीवे सादौ योगिनि च बाधात् नित्य-सर्वज्ञेश्वरस्य सिद्धि-रिति भावः। अत्र द्वयणुक-पदम् त्र्यणुकस्याप्युपलक्षणम्। महत्परिमाण-वदवयवारब्धे महतः, तूल-पिण्डे च महतः क्रमेण अवयव-समवेत-महत्प्रचयोत्थितत्वात् व्यभिचार-वारणाय परिमाण-प्रचयाऽजन्यत्वं हेतु-विशेषणम्। द्वयणुक-परिमाणस्य संख्या-जन्यत्वे दृष्टान्तः—तुल्य-परिमाणकेति। प्रकृष्ट-तादृश-कपालेत्यत्र प्रकृष्ट-पदं परिमाण-विशेषणम्। एतच्च कपाल-त्रयारब्धे घटे तत्परिमाणक-कपाल-द्वयारब्धघटा-

'श्रुतेः' अर्थ है वेदत्व से युक्त होने के कारण। अनुमान-वाक्य है :—वेद पौरुपेय है, वेदत्व से युक्त होने के कारण, आयुर्वेद के समान। यह पुरुप ईश्वर ही हो सकता है।

और भी, वेद पौरुपेय हैं, वाक्यत्व-युक्त होने के कारण, महाभारतादि-ग्रन्थों के समान। वेद-वाक्य पौरुषेय हैं वाक्यत्व-युक्त होने के कारण हम लोगों के वाक्य के समान। इन अनुमानों से पुरुष-विशेष ईश्वर की सिद्धि होती है।

'संख्या-विशेष' के आधार पर होनेवाला अनुमान इस प्रकार है :—द्वयणुक का अनित्य अणु-परिमाण उसके समवायि-कारण—परमाणु-द्वय—में रहनेवाली द्वित्व-संख्या से उत्पन्न होता है, परिमाण तथा प्रचय से अजन्य होने के साथ-साथ जन्य-परिमाण होने के कारण। जैसे—तुल्य-परिमाण वाले दो कपालों से निर्मित

परिमाणञ्च न परिमाण-जनकम्, नित्यपरिमाणत्वात् अणु-परिमाणत्वाद्वा। एवञ्च सर्गादौ द्वयणुक-परिमाण-हेतु-परमाणु-निष्ठ-द्वित्व-संख्या न अस्मदाद्यपेक्षा-बुद्धि-जन्या, अतः तदानीन्तनापेक्षा-बुद्धिः ईश्वरस्यैवेति।

वधिकोत्कृष्टे संख्याया एव कारणत्वम् इति मतेन। वस्तुतस्तु चिन्त्यमेतत्। तस्मात् त्र्यणुकस्यैव दृष्टान्ततयोपन्यासो युक्तः। तस्यापि पक्षत्वे तु व्यतिरेक एव दृष्टान्तो देयः इति ध्येयम्। न परिमाण-जनकम् इति—परिमाणस्य स्व-समानजातीयोत्कृष्ट-परिमाण-जनकत्व-स्वाभाव्यात् अणुपरिमाणस्य परिमाणान्तर-जनकत्वे तज्जन्यस्य अणुतरत्व-प्रसङ्ग इति तस्य कारणत्वमुपेक्षितम्। एवमेव परम-महत्परिमाणस्यापि न कारणत्वम् परिमाणान्तर-निरूपितम्, तथा सति तज्जन्यस्य परममहत्तरत्वं स्यात्। न चैतत्प्रामाणिकम्, परमत्वस्य व्याघातः च। तदाह—नित्य-परिमाणत्वादिति। एतच्च नित्य-परिमाण-मात्रे परिमाण-जनकत्वाभाव-साधकम्। नित्याऽनित्योभय-साधारणे अणु-परिमाण-मात्रे तत्साधकञ्च हेतुः अणुपरिमाणत्वादिति। न्याय-मते अवयविन्येव पाक इति न प्रलयात्पूर्वम् द्वयणुक-नाशः इति सर्गादावेव तदुत्पत्तिः नान्तराऽन्तरेति हेतोः उक्तम्—सर्गादौति। अपेक्षा-बुद्धिः = अनेकैकत्व-विषयिणी बुद्धिः, 'अयमेक अयमेकः' इत्याकारिका। ईश्वरस्य सर्वज्ञतया एकत्व-द्वय-विषयकापेक्षाबुद्धिमत्त्वं साधारणतः अयुक्तम्, तस्य सर्वदा सर्वैकत्व-विषयक-ज्ञानाश्रयत्वात्, तथापि अदृष्ट-विशेषोपग्रहः तत्र नियामकः इति न क्षतिरिति बोध्यम्।

घट के महत्परिणाम की अपेक्षा उसी परिमाण से सम्पन्न तीन कपालों से बननेवाले घट का उत्कृष्ट महत्परिमाण कपाल-त्रय की त्रित्व-संख्या से जन्य होता है। परमाणु का अणु-परिमाण नित्य-परिमाण अथवा अणु-परिमाण होने के कारण किसी दूसरे परिमाण का प्रयोजक नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह मानना पड़ेगा कि अणु-परिमाण से जन्य परिमाण अणुतर होता ह, क्योंकि परिमाण में स्व-समान-जातीय-परिमाणान्तर-जनकत्व होता है। परन्तु अणुतर परिमाण प्रामाणिक नहीं है, अतः अणु-परिमाण को किसी परिमाण का कारण नहीं माना जा सकता। अत एव द्वयणुक का अणु-परिमाण संख्या-जन्य सिद्ध होता है। यह संख्या द्वित्व-रूप है और द्वित्व की उत्पत्ति में "अयमेकः, अयमेकः" इस प्रकार की अपेक्षा-बुद्धि निमित्त कारण है। इस अपेक्षा बुद्धि का आश्रय

विश्वविदव्यय इति विशिष्टस्याव्ययत्वम्, तेन नित्यसर्व-विषयक-ज्ञान-सिद्धिः ॥१॥

ननु शरीर-विशिष्टस्य कर्त्तृतया विशेषण-बाधात्मको विशिष्ट-बाधः इति ?

विश्ववित्—इत्यत्र विश्व-विषयकं ज्ञानं विशेषणम् ज्ञानवांश्च विशिष्टः। तत्र विशेषण-विशिष्टस्य अव्ययत्व-साधनेन विशेषणेऽपि अव्ययत्वम् विशेष्ये च इति ज्ञानाश्रयिणः ईश्वरस्य तद्विशेषणी-भूतस्य सर्व-पदार्थ-विषयकाऽपरोक्ष-ज्ञानस्य च अव्ययत्व-सिद्धिरिति भावः ॥ १ ॥

शरीर-विशिष्टस्य कर्तृतयेति—तथा च शरीर-विशिष्टत्वे सति कृतिमत्त्वं कर्त्तृत्वं सिद्धयति। तत्र "क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमाने" सकर्तृकत्वं साध्यम्, तत्र विशेषणम् कर्त्तृत्वम्, कर्त्तृत्वे च विशेषणम् शरीरम्, तदेवमीश्वरे कर्त्तृत्व-विशेषणस्य शरीरस्य अभावः प्रत्यक्षात्मकः तत्प्रयुक्तश्च तद्विशिष्ट-कृतिमत्त्वाभावोऽपि प्रत्यक्षः अनुमेयो वा (ईश्वरः अकर्त्ता अशरीरित्वादित्यादिना)। तदेवं सकर्तृकत्व-विशेषणीभूतस्य कर्त्तृत्वस्य बाधे तद्विशिष्टस्य सकर्तृकत्वस्यापि बाधः स्पष्ट एव। क्षितौ ईश्वरे कर्तृत्वाऽभावे तत्कर्तृकत्व-रूप-सकर्तृकत्वस्य तत्रापहारात् इति भावः।

(सर्गादि-काल में) न तो स्थूल पदार्थ-द्रष्टा जीवात्मा हो सकता है और न सादि-योगी ही। अतः परिशेषात् इस अपेक्षा-बुद्धि का आश्रय नित्य-ज्ञानी ईश्वर सिद्ध होता है।

'विश्वविदव्ययः' यहाँ अव्ययत्व विश्व (=सर्व-पदार्थ) के ज्ञान मे तथा उस ज्ञान के आश्रय में भी विवक्षित है। अतः ईश्वर तथा उसका सर्व-पदार्थ विषयक अपरोक्ष ज्ञान भी अव्यय (=नित्य) सिद्ध होता है ॥ १ ॥

कार्यत्व-हेतु से ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्यत्व का साध्य है सकर्तृकत्व, उसमें विशेषण है, कर्तृत्व और उस कर्तृत्व में विशेषण है शरीर, एवञ्च ईश्वर के शरीर के अभाव से कर्तृत्व का अभाव और उसके अभाव से तद्विशिष्ट सकर्तृकत्व का पृथिव्यादि में अभाव प्रमाणान्तर-सिद्ध है। अतः कार्यत्व हेतु बाधित है।

और भी, उक्त कार्यत्व-हेतु सत्प्रतिपक्षित है, क्योंकि क्षिति आदि में शरीराऽजन्यत्व के प्रामाणिक होने से कर्तृ-जन्यत्वाभाव ही सिद्ध होता है।

कर्त्तृ-जन्यत्व-व्यापक-शरीर-जन्यत्वाऽभावात् कर्त्तृ-जन्यत्वाभाव इति सत्प्रतिपक्षता ?

यद्वा कर्त्ता शरीर्येव इति व्याप्तिः विरोधिनी। यद्वा व्याप्त्या यथा-दर्शन-प्रवृत्तया शरीरी कर्त्ता उपनेयः, पक्ष-धर्मतया च क्षित्यादौ अशरीरीति साध्याऽप्रसिद्धिः विशेष-विरोधश्च।

सत्प्रतिपक्षमुद्भावयति—कर्त्तृ-जन्यत्वेत्यादिना। तथा च—क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् इत्यत्र क्षितिः अकर्तृका शरीराऽजन्यत्वात् इति सत्प्रतिपक्षः इति न कार्यत्वेन हेतुना ईश्वरानुमानं सदिति भावः।

दोषान्तरमाह—यद्वेत्यादिना। विरोधिनी = प्रतिबन्धिका, कार्यत्व-सकर्तृकत्व-व्याप्तेः इति शेषः। दोषान्तरमाह—यद्वा व्याप्त्येत्यादिना। यथा-दर्शन-प्रवृत्तयेति—यो यः कर्त्ता स शरीरी एव यथा कुम्भादि-कर्त्ता कुलालादिरिति व्याप्त्या कृति-शरीरित्वयोः सामानाधिकरण्यम् प्रतिपादितमिति कर्त्तृत्वस्य शरीरित्व-व्याप्यत्वं सिद्धम्। तथा च क्षितिः सकर्तृका इत्यत्र साध्य-विशेषणीभूते कर्तृत्वे शरीरित्व-सामानाधिकरण्यम् नियमतः प्राप्तम्। तत्रैव पुनः कर्त्तृत्वे क्षित्यादौ शरीरित्व-विशिष्ट-कर्त्तुः बाधात् पक्ष-धर्मतया अशरीरित्व-सामानाधिकरण्यम् सिध्यति। तथा च प्रमाण-द्वय-सहकारात् कर्तृत्वाधिकरणे ईश्वरे सदैव शरीरित्वाऽशरीरित्व-सम्बन्धः प्राप्त, सच शरीरित्वाऽशरीरित्वयोः परस्परम् विरोधात् नैव सम्भवति। सति चैवं यादृशस्य कर्त्तुः सकर्तृकत्व-घटकतया साधनमभिमतम् तस्य अप्रसिद्धेः (कर्त्तरि युगपदेव शरीरित्वाऽशरीरित्वयोरुपलब्ध्यसम्भवात्) विशेषणाऽप्रसिद्धि-विधया विशिष्टस्य साध्यस्य सकर्तृकत्वस्य अप्रसिद्धिरिति नेश्वरसाधकानुमानमुपपन्नं येनेश्वरः सिद्ध्ये-

और भी, कर्ता तो शरीरी ही होता है—यह व्याप्ति क्षित्यादि में कार्यत्व हेतु से किए जाने वाले सकर्तृकत्वानुमान में प्रतिबन्धक बन जाएगी। और भी घटादि की स्थिति के आधार पर बनाई गई व्याप्ति से कर्तृत्व में शरीरित्व का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है और "क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात्" इस अनुमान से, पक्ष-धर्मता के आधार पर, क्षिति का अशरीरी कर्त्ता ही सिद्ध होता है, अर्थात् कर्तृत्व तथा अशरीरित्व का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। अतः परस्पर-विरुद्ध-धर्म-द्वय—शरीरित्व तथा अशरीरित्व—के ईश्वर में समा-

यद्वा शरीर-जन्यत्वाद्युपाधिना व्याप्यत्वाऽसिद्धिः इति कार्यत्व-हेतौ पञ्च दोषाः । तत्राह—

दिति तात्पर्यम् । साध्याऽप्रसिद्धावेव हेतुमाह—विशेष-विरोधश्चेति । चो हेतो, यतः विशेषयोः = व्याप्ति-पक्षधर्मतोपनेययोः शरीरित्वाऽशरीरित्वयोः परस्परम् विरोधः अत एव विशेषणाऽप्रसिद्धिविधया साध्याप्रसिद्धिरित्यर्थः ।

दोषान्तरमाह—यद्वा शरीरेत्यादिना । यत्र यत्र घट-पटादौ सकर्तृकत्वम् उभय-मत-सिद्धम् तत्र तत्र शरीर-जन्यत्वम् यत्र यत्र च कार्यत्वम् उभय-मत-सिद्धम् तेष्वन्यतमे पृथिव्यंकुरादौ शरीरजन्यत्वं नास्ति इति शरीर-जन्यत्वस्य साध्य-व्यापकत्व-साधनाऽव्यापकत्वाभ्यामुपाधित्व-सिद्धौ क्षितिः स कर्तृका कार्यत्वादिति अनुमानं प्रस्तुतम् अशरीरि-कर्तृ जन्यत्व-साधने व्याप्यत्वाऽसिद्धि-दूषितम्, शरीरिकर्तृ-जन्यत्व-साधने तु बाधितम् इष्टाऽसिद्धिश्चेति भावः । दोषाः इति । अत्र दोष-पदं न हेत्वाभास-परम्, तथा सति विरोधिव्याप्त्या प्रतिबन्ध इति तृतीय-दोषस्याऽसङ्ग्रहापत्ते, किन्तु यथा कथञ्चिदनुमान-विघटकत्वम् दोषत्वम् इत्येके । वस्तुतस्तु हेत्वाभासानामनियतत्वेन पञ्चकान्तर्भावाभावेऽपि तस्य हेत्वाभासत्वाऽक्षतेरिति प्राहुः । सम्प्रति दोषान्निराकर्त्तुम् उत्तरमवतारयति—तत्राहेत्यादिना ।

वेश न होने के कारण, विशेषण—कर्तृत्व—की असिद्धि से विशिष्ट—सकर्तृकत्व—की असिद्धि हो जाती है ।

और भी, "यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं साध्यम् घटादौ विद्यमानम् तत्र तत्र शरीर-जन्यत्वम्", "यत्र यत्र कार्यत्वम् तत्र तत्र क्षित्यादौ शरीर-जन्यत्वं न" इस प्रकार से साध्य-व्यापक तथा साधन—कार्यत्व—का अव्यापक शरीर-जन्यत्व उपाधि के रूप में प्रस्तुत है । अतः कार्यत्व तथा सकर्तृकत्व की व्याप्ति ही नहीं बनती है, फिर उससे ईश्वर की सिद्धि कहाँ ? इस प्रकार उपर्युक्त कार्यत्व-हेतु में पांच दोष आ जाते हैं । अब इन दोषों के समाधान के लिए कह रहे हैं:—

[इस कार्यत्व हेतु का बाध भी नहीं हो सकता है, क्योंकि इसके द्वारा ईश्वर की सिद्धि से पूर्व बाधकत्वेन अभिमत अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है; दुर्बल हेतु—शरीराजन्यत्व—के द्वारा सत्प्रतिपक्ष या 'कर्ता शरीरी ही होता है' इस व्याप्ति से प्रतिबन्ध भी नहीं हो सकता है; ईश्वर में शरीरित्व

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न नाऽसिद्धिरनिबन्धना ॥२॥

ईश्वरे धर्मिणि शरीर-बाधात् कर्त्तृत्व-बाधो न, अधिकरण-ज्ञानं विना अभाव-ज्ञानाऽसम्भवात् अस्य कार्यत्वस्य धर्मि-साधकस्य अधिकरण-

धर्मिणि इति—सकर्तृकत्वानुमान-बाधकानुमाने पक्षतया अभ्युपगते इत्यर्थः। शरीर-बाधात् कर्त्तृत्वबाधो नेति—पक्षधर्मतया शरीर-बाधेऽपि कर्तृत्वस्य कार्यत्व-हेतुकानुमान-साध्य-विशेषणीभूतस्य न बाध इत्यर्थः। अत्रैव हेतुमाह—अधिकरण-ज्ञानं विनेत्यादिना। बाधकत्वेन अभिमतस्य अनुमानस्य ईश्वरः कर्त्ता न, अशरीरित्वात् यः विषयः कर्तृत्वाऽभावः, तस्य अधिकरणम् ईश्वरः, स च न कार्यत्व-हेतुकानुमानमन्तरेण प्रमितः, न चाऽप्रमितस्य सत्त्व-निर्णयः, न च असतः अभावानुयोगित्वम् "स्याद्वस्त्वभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता" इत्युक्तेः, तज्ज्ञानं विना च, अभाव-ज्ञानस्य बाधकानुमान-विषयीभूत-कर्तृत्वाभाव-ज्ञानस्य असम्भवः इति बाधकानुमानं हि स्व-विषय-प्रसिद्ध्यै पूर्वम् स्व-विषय-धर्मिणः ईश्वरस्य साधकं कार्यत्व-हेतुकानुमानमपेक्षते। तस्य कार्यत्व-हेतुकानुमानस्याप्रामाण्यावधारणे च पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल इति पूर्वमेव कार्यत्व-हेतुकानुमिति-प्रामाण्य-निर्णये तदनुमान-विषयीभूतस्य अशरीरस्य सकर्तृत्वस्यैवेश्वरस्य सिद्धौ पश्चात् प्रवृत्तम् 'ईश्वरः न कर्त्ता अशरीरित्वात्' इत्यनुमानम् दुर्बलमिति कुतोऽस्य बाधकत्व-सम्भावनाऽपीति। बलवत्त्वादित्यतः पूर्वम् कर्तृत्वाभाव-साधक हेत्वपेक्षयेति पूरणीयम्। बलवत्त्वे प्रयोजकं च अधिकरण-ज्ञान-जनकतयाऽवश्याऽपेक्षणीयत्वम् इति। तदेतमभिप्रायं फलोपदर्शन-मुखेन उपसंहरति वृत्तिकृत्—एवञ्चेत्यादिना। एवञ्च कर्तृत्वाभाव-साधनार्थम् धर्मिणः ईश्वरस्य यज्ज्ञानम् तस्यापेक्षितत्वे चेति तदर्थः। न······प्रत्यक्षात्मकः इति—यथा रूपाभाववानिति अभाव-प्रत्यक्षम् अधिकरण-ज्ञानमन्तरापि नैयायिकैः स्वीक्रियते तथेहापि अधि-

तथा अशरीरित्व की सिद्धि या असिद्धि में कोई विरोध नहीं और आश्रय—ईश्वर—की सिद्धि के विना व्याप्यत्वाऽसिद्धि का उपस्थापन भी नहीं हो सकता है ॥ २ ॥]

ईश्वर-रूप-पक्ष में शरीर के बाध होने पर भी कर्तृत्व का बाध और इसके आधार पर सकर्तृकत्व का बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि अधिकरण

ज्ञान-जनकतया अवश्यापेक्षणीयत्वेन बलवत्त्वात्। एवञ्च न विशेषण-बाधात्मको विशिष्ट-बाधः प्रत्यक्षात्मकः इति, 'ईश्वरो न कर्त्ता अशरीरित्वात्' इत्यनुमान-बाधो पि नेत्यर्थः।

"क्षित्यादि न सकर्त्तृकं शरीराऽजन्यत्वात्" इति न प्रतिबन्धकम्, सत्प्रतिपक्षहेतोः शरीरांश-वैयर्थ्यात् व्याप्यत्वाऽसिद्ध्या दुर्बलत्वात्।

करणस्येश्वरस्य ज्ञानं मा भून तत्र कर्तृत्वाभावस्य प्रत्यक्षे का हानिरिति पूर्व-पक्षे वायौ रूपाभाव-प्रत्यक्षेऽपि तत्र वायुः प्रत्यक्षः न इत्येतावानेव प्रत्ययः प्रामाणिक, अज्ञात इति तु न, तथैव ईश्वरस्य प्रत्यक्षाभावेऽपि तत्र कर्तृत्वाभाव-प्रत्यक्षं स्यान् यदि नाम ईश्वरस्य अनुमित्या वायोरिव प्रमाणान्तरेणाऽपि ज्ञानं स्यान्नान्यथा। तत्र प्रमाणान्तरं च कर्तृत्वाशरीरित्व-विशिष्टमेवेश्वरं विषयीकरोति इति प्रथममेव कृतिमत्त्वे सिद्धे कुतः प्रश्नात् कर्तृत्वाभावस्य प्रत्यक्षं तत्रैव प्रामाणिकमिति सरलार्थः। अनुमानस्याप्यत एव न कर्तृत्वबाधकत्वम् ततः पूर्वमेव तदपेक्षणीयेन कार्यत्व-हेतुकानुमानेन कर्तृत्व-सिद्धेरित्याह—इत्यनुमान-बाधोऽपि नेति। अत्र परामर्शार्थम् हेतोरशरीरित्वस्य पक्ष-ज्ञानस्यावश्यकत्वमिति कार्यत्व-हेतुकानुमानेन पूर्वमेव कर्तृत्व-सिद्धिरिति पश्चात् प्रवृत्तमनुमानम् ईश्वरः न कर्त्ता अशरीरित्वादित्याकारकं न तद्बाधकम् उपजीव्य-विरोधात् इति सम्प्रदायः।

वयन्तु ब्रूमः—धर्मिज्ञानं विना अशरीरित्वहेतोः पक्ष-धर्मतैव नेति कुतः ईश्वरः न कर्त्ता अशरीरित्वादित्यनुमानस्य प्रसरः? अज्ञातमलीकं वा नैव धर्मीति तु सिद्धम् एवेति विवेचनीयं विद्वद्भिः।

सत्प्रतिपक्षमुद्धरति—क्षित्यादिनेत्यादि - ग्रन्थेन। शरीरांशवैयर्थ्यात् इति—अजन्यत्वेनैव अकर्तृकत्वस्य सिद्धतया तत्र शरीरांश-

के ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। एवञ्च कर्तृत्वाभाव के अधिकरण ईश्वर, के ज्ञान से पहले उसमें कर्तृत्वाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः कार्यत्व हेतु कर्तृत्वाभाव-साधक अनुमान के साध्य के अधिकरण के साधक होने के कारण बलवान् है। अतः विशेषण-बाधात्मक विशिष्ट—सकर्तृकत्व—का बाध न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकता है और न "ईश्वर कर्ता नहीं है, अशरीरी होने से" इस अनुमान से ही। यही तात्पर्य है।

"क्षित्यादि पदार्थ सकर्तृक नहीं है, शरीराजन्य होने से" इस प्रतिपक्ष से कार्यत्व हेतु का प्रतिवन्ध भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष हेतु—

तृतीयेऽपि कार्यत्वव्याप्तेः पक्ष-धर्मत्व-सहकारात् विपक्ष-बाधक-तर्कावताराच्च बलवत्त्वम्। उपन्यस्तायाः कर्त्ता शरीर्येवेति व्याप्तेः दुर्बलतया न प्रतिबन्धः।

चतुर्थे च यदि पक्ष-धर्मतया अशरीरी उपस्थितः तदा न विरोधः,

निवेशो व्यर्थः इति न तस्य साधनतावच्छेदकत्वमिति हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावरूपा साधनाऽप्रसिद्धिः, सा च व्याप्यत्वाऽसिद्धेर्भेदः इति व्याप्त्यादि-रहितस्य सत्प्रतिपक्ष-हेतोः तत्सहित-कार्यत्व-हेत्वपेक्षया दुर्बलत्वमिति समस्तार्थः। विरोधि-व्याप्ति-प्रतिबन्धमुद्धरति—तृतीयेऽपीत्यादिना। कार्यत्वव्याप्तेः कार्यत्व-निष्ठ-सकर्तृकत्व-व्याप्तेः। पक्ष-धर्मत्वसहकारात् = इतर-बाध-सहकारात्। विपक्ष-बाधक-तर्कावतारादिति हेतोः विपक्ष-वृत्तित्व-बाधकः तर्कः प्रकृते कार्यत्वं यदि सकर्तृकत्व-व्याप्यं न स्यात् तर्हि कर्तृजन्यतावच्छेदकमपि न स्यादित्याकारकः। तस्मात् व्यभिचार-शङ्का-निवृत्तेरित्यर्थः। विरोधि-व्याप्तेः दौर्बल्यमुपसंहरति—उपन्यस्ताया इत्यादिना। व्याप्तेः = कर्तृत्वनिष्ठ-शरीरित्व-व्याप्ते। दुर्बलतयेति—स्व-जन्यक्रिया-कर्त्तरि वाय्वादौ कर्तृत्वस्य शरीरित्व-व्यभिचारेण तद्व्याप्तेः प्रतिबन्धात् दुर्बलत्वमुन्नेयम्। तथा च न दुर्बलया कर्त्ता शरीर्येवेति दुष्ट-व्याप्त्या निर्दुष्टायाः कार्यत्व-सकर्तृकत्व-व्याप्तेः प्रतिबन्ध इति भावः। सत्प्रतिपक्ष-विरोधि-व्याप्त्युपमर्दन-विवरणेन 'प्रतिबन्धो न दुर्बलैः' इति द्वितीयः पादो व्याख्यातः।

परस्पर-विरुद्ध-धर्मयोः एकत्र धर्मिणि प्रसक्त्योक्तं दोषं निराचष्टे—चतुर्थे चेत्यादिना। अयमाशयः—एकाधिकरणे युगपदेव विरुद्धयोः

शरीराऽजन्यत्व—में 'शरीर' विशेषण व्यर्थ है। एवञ्च शरीराऽजन्यत्व हेतु की व्याप्ति ही जब अकर्तृकत्व से नहीं बनती है तो फिर उसके परामर्श तथा उससे कार्यत्व-हेतुक अनुमान का प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है? विरोधि-व्याप्ति के द्वारा भी प्रतिबन्ध असम्भव है, क्योंकि पक्ष-धर्मता के साहाय्य से और अनुकूल तर्क से कार्यत्व तथा सकर्तृकत्व की व्याप्ति 'कर्त्ता शरीरी ही होता है' इस विरोधिनी व्याप्ति से बहुत ी प्रबल है। अतः उपर्युक्त विरोधि-व्याप्ति—कर्ता शरीरी हो होता है—से कार्यत्व तथा सकर्तृकत्व की व्याप्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

चतुर्थ दोष के प्रसङ्ग में भी यही कहना है कि यदि पक्ष-धर्मता के आधार पर अशरीरी कर्त्ता की उपस्थिति होती है तो उस समय तो कर्तृत्व तथा अश-

कर्त्तृत्वस्याऽशरीरित्व-समानाधिकरणस्योपलम्भात्, तदनुपस्थाने तु न विरोधः, विरोधाश्रयस्यैव असिद्धेः ।

पञ्चमे च विपक्ष-बाधक-तर्क-सहकारात् तदभावनिबन्धना अज्ञान-धर्मयोः प्रमितौ विरोधः प्रामाणिकः, नान्यथा। प्रकृते च पक्षधर्मतया धर्मिणि पक्षे कार्यत्व-हेतुकानुमानेन अशरीरित्व-प्रमितिः। न च तत्र शरीरित्व-प्रमा, प्रमाणाभावात्। न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्, धर्मि-ग्राहक-मान-बाधितत्वात्। नाप्यनुमितिः, कर्तृत्व-शरीरित्वयोः व्याप्त्यभावात्। न हि स्व-जन्य-क्रिया-जनके वायौ (कर्त्तरि) शरीरित्वम् कस्यापि सम्मतम्। ततश्च ईश्वरे धर्मिणि अशरीरित्वस्य प्रमितत्वेऽपि शरीरित्वस्याप्रमितत्वात् कथं विरोधः? नहि प्रमिता-ऽप्रमितयोः विरोधः, तथा सति प्रमाण-मात्र-विलोपापत्तेः। तस्मादेवं स्थितौ न विरोधावसर इत्याह—**कर्तृत्वस्याऽशरीरित्व-समानाधिकरणस्यो-पलम्भादिति**। पक्षधर्मतया पूर्वं तत्राशरीरित्व-प्रतिपादनं नेति तु न शक्यम् वक्तुम्, तत्प्रतिपादनाऽभावस्य कार्यत्व-हेतुकानुमानाऽप्रवृत्तौ एव सम्भवात्। अप्रवृत्ते च तस्मिन् अतीन्द्रियस्य ईश्वरस्य असिद्धौ कुत्र अशरीरित्वशरीरित्वयोः विरोधः स्यात्? न हि धर्मयोः परस्परं विरोधः धर्मि-निरपेक्षः, तथा सति सर्व-व्यवहार-विलोपापत्तेः। तस्मात् कार्यत्व-हेतुकानुमान-प्रवृत्तेः पूर्वम् धर्मिण एव असिद्धेः न विरोधावसरः, विरोधोपपादनाय धर्मि-सिद्धयर्थमुक्तानुमान-प्रवृत्तौ च पक्ष-धर्मतया तत्र अशरीरित्व-सिद्धिरिति पूर्वैव गतिः इति उभय-थाऽपि न विरोध इत्याह—**तदनुपस्थाने तु न विरोधः, आश्रयाऽसिद्धेरि-**त्यनेन ग्रन्थेन। एतेन **'सिद्धयसिद्धयोर्विरोधो न'** इति तृतीयः पादो व्याख्यातः।

अन्त्यं दोपमुद्धरति—**पञ्चमे चेत्यादिना**। विपक्ष-**बाधकेति**—कार्यत्वस्य सकर्तृत्व-व्याप्तौ यः, यदि कार्यत्वं सकर्तृकत्व-व्याप्यं

रीरित्व का ही सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, कर्तृत्व तथा शरीरित्व का नहीं। यदि तु कार्यत्व-हेतुक अनुमान से कर्त्तृत्व एवम् अशरीर ईश्वर की सिद्धि ही नहीं हो तो फिर किस तत्त्व में शरीरित्व तथा अशरीरित्व के युग-पदवस्थान से विरोध का उद्भावन किया जायगा ?

पञ्चम दोप के प्रसङ्ग में यह कहना है कि जब कार्यत्व हेतु के विपक्ष-वृत्तित्व का बाधक-तर्क प्रस्तुत है तब विपक्ष-वृत्तित्व-बाधक-तर्क के अभाव रहने पर ही व्याप्यज्ञान-स्वरूप व्याप्यत्वासिद्धि कैसे हो सकती है ?

रूपाऽसिद्धिः व्याप्यत्वाऽसिद्धिर्वा न, शरीर-जन्यत्वस्योपाधेरपि विपक्ष-बाधकाभावेनापास्तत्वात् ॥२॥

ननु यदि ईश्वरः कर्त्ता स्यात्, शरीरी स्यात् इति प्रतिकूल-तर्काव-

न स्यात् तर्हि कर्तृ-जन्यताऽवच्छेदकमपि न स्यादित्याकारकः, विपक्षे = साध्याभावाधिकरणे, हेतो = कार्यत्वस्य हेतोः, वृत्तित्वाभावापादकः तर्कः तत्सत्त्वात् व्याप्तिः निर्बाधा। अत एव तस्य = विपक्ष-बाधक-तर्कस्य, यः अभावः तन्निबन्धना अज्ञानरूपा = व्याप्त्यज्ञान-रूपा, (एतच्च उपाधेः व्याप्ति-ज्ञान-विरोधित्व-मतेन), व्याप्यत्वाऽसिद्धि-रूपा = साधनाऽप्रसिद्ध्यात्मिका (एतच्च उपाधेः व्याप्ति-विरहोन्नाय-कत्वम् इति मतेन) नेति भावः। एतावता कार्यत्वस्य अनुकूल-तर्क-सहकृत-व्याप्तिकत्वमुक्त्वा उपाधित्वेनाभिमतस्य तदभावोपवर्णन-द्वारेण साध्य-व्यापकत्वाभावमुपपादयति—शरीर-जन्यत्वस्येत्यादिना। विपक्ष-बाधकाभावेन = शरीर-जन्यत्वस्य सकर्तृकत्व-व्याप्तौ प्रयोजको यः अनुकूल-तर्कः तस्याभावेनेत्यर्थः। वायु-क्रियादौ च व्यभिचार-निश्चयान्नापि सन्दिग्धोपाधित्वमपीति ध्येयम् ॥ २ ॥

पुनरपि ईश्वरानुमाने दूषणमाह—नन्वित्यादिना। प्रतिकूलेति—तथा च पुनरपि ईश्वरे कर्तृत्वाभाव-सिद्धौ तद्विपयत्वस्य पक्षे क्षितावभावेन विशेषणाभाव-विधया विशिष्टस्य सकर्तृकत्वस्य पक्षेऽभाव-प्रमया पूर्वोक्तो बाधः सत्प्रतिपक्षश्च यथाऽवस्थ एवेति न ईश्वर-सिद्धिरिति पूर्व-पक्षाशयः। अनुकूल-तर्काभावश्च—तथा च कार्यत्व-सकर्तृकत्वयोः व्याप्तौ व्यभिचार-संशयात् व्याप्ति-प्रतिबन्धेऽनुमित्यभावान्नेश्वर-सिद्धिः इत्यभिप्रायः। अत्र समाधानमाह—तर्काभासेत्यादिना।

और उपाधि के रूप में प्रस्तुत 'शरीर-जन्यत्व' के विपक्ष-वृत्तित्व के बाधक तर्क के अभाव रहने से साध्याभाव के अधिकरण में भी वर्त्तमान 'शरीर-जन्यत्व' साध्य-व्यापकता से रहित होने के कारण उपाधि का कार्य कर भी नहीं सकता है ॥२॥

पुनः प्रश्न है :—"यदि ईश्वर कर्त्ता होगा तो उसे शरीरी भी होना ही चाहिए" यह प्रतिकूल तर्क भी उपस्थित है और कार्यत्व हेतु के अनुकूल तर्क का अभाव भी है। अतः कार्यत्व हेतु ईश्वरानुमापक नहीं हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं :—

तारोऽनुकूल-तर्काऽभावश्च ? तत्राह :—

तर्काभासतयाऽन्येषां तर्काऽशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्य-लोपो विभूषणम् ॥३॥

प्रतिकूल-तर्काः इत्यत्र बहुवचनेन यदि कर्त्ता स्यात् तर्हि सुखी दुःखी च स्यादित्यादयो ग्राह्याः। आश्रयाऽसिद्धाः इति—आश्रयः विषयः सः असिद्धः येषाम् इत्यर्थः। प्रकृते च प्रतिकूल-तर्काणाम् विषयः ईश्वरः स यदि असिद्धः तर्हि तथाविध-तर्काणाम् निर्विषयत्वेन अप्रामाण्यम् इति ते तर्काभासाः, यदि च सिद्धः तर्हि अशरीरस्यैव क्षित्यादिकृतिमत्तया सिद्धिरिति एवम्विधतर्काणाम् साध्यस्य कर्तृत्वाभावस्य बाधः इति उभयथा इमे तर्काभासाः इति भावः। तथापि अनुकूल-तर्काभावे कार्यत्व-सकर्तृकत्वयोर्व्यभिचार-संशयान्नेश्वर-सिद्धिरित्यतः अनुकूल-तर्कम् व्यभिचार-शङ्का-निवर्तकमाह—कर्त्तारं विनेति। यदीश्वरः क्षित्यादि-कर्त्ता न स्यात् तदा क्षित्यादि-कार्यं नोत्पद्येतैव, कारणं विना कार्याभावात्, अस्ति च कार्यम् प्रत्यक्ष-सिद्धम् इति ततः कर्तुरीश्वरस्यानुमानं निराबाधमिति तात्पर्यम्। उपकारकः इति—ईश्वर-साधकानुमानस्येति शेषः। उपकारकत्वं चात्र व्याप्ति-ग्रहानुकूलत्वम् विवक्षितम्। इत्याद्यागमश्चेति—एष च उपकारकः इत्यनेन सम्बध्यते। ननु तथापि "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कार-विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" इत्यादि-प्रामाण्यात् सर्वज्ञे ईश्वरे अभिमानाभावात् नाऽभिमानिकं न वा स्वाभाविकं कर्तृत्वम् इति कर्तृत्वेन तत्साधकानुमान-बाधः सुस्थ एवेति आशङ्कायाम् उत्तरमाह—आर्षं धर्मोपदेशमित्याविना। अयमर्थः—द्विविधमपि शब्द-प्रमाणम् उपलब्धम्—ईश्वरे कर्तृत्वाभाव-साधकम् तत्प्रतिपादकञ्च। तत्र कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्गात्मक-तर्कानुगतस्यागमस्य ईश्वरे जगत्कर्तृत्व-प्रतिपादकस्य स्वार्थे प्रामाण्यम् इत-

[उपर्युक्त तथा अन्यान्य प्रतिकूल तर्क वस्तुतः तर्काभास है। इसलिए उनसे तो कार्यत्व का कुछ बिगड़ता नहीं। साथ ही, कार्यत्व हेतु के लिए अनुकूल तर्क—यदि ईश्वर कर्त्ता न होते तो हम लोगों के प्रयत्न से असाध्य पृथिव्यादि-कार्य की उत्पत्ति भी न हुई होती—अनुग्राहक के रूप में प्रस्तुत भी है ॥२॥]

कार्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि किए बिना सभी प्रतिकूल तर्क आश्रय—ईश्वर—के असिद्ध होने के कारण तर्काभास हैं। "ईश्वर यदि कर्त्ता न होते

प्रतिकूल-तर्काः तावत् ईश्वराऽसिध्या आश्रयाऽसिद्धा इत्याभासाः। कर्त्तारं विना कार्यं न स्यादिति तर्कस्तु विभूषणम् = उपकारकः, "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यागमश्च।

"आर्षं धर्मोपदे ां च वेद-शास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"

इति तर्कानुगृहीतस्य आगमस्य बलवत्त्वम्॥३॥

ननु कार्यत्वम् प्रयत्न-जन्यत्वे अप्रयोजकम्? अत्राह—

रेपाञ्चोपचरितार्थत्वम्। न च द्वयोः मुख्यार्थत्वम्, परस्पर-विरोधात्। एतच्च "न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्। निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः" इति कारिकाऽव्याख्यायाम तृतीये उपपादित-पूर्वम्। तदेतदभिप्रेत्य आह—बलवत्त्वम् = मुख्यार्थकत्वमित्यर्थः॥ ३॥

एतावता प्रबन्धेन कार्यत्व-हेतुकमनुमानमुपपाद्य आयोजन-हेतुकमीश्वरानुमानमुपपादयितुम् पातनिकामारचयति—ननु कार्यत्वम् इत्यादिना। कार्यत्वम् = कर्मत्वम् इत्यर्थः। अयमर्थः—सर्गादि-कालीन-द्व्यणुकारम्भक-संयोगानुकूल-परमाणु-द्वय-समवेत-क्रिया-जनक-कृतिमत्त्वेन हि परमेश्वर-सिद्धिः 'आयोजनात्' इत्यनेनोपदर्शिता, सा

तो पृथिव्यादि कार्य की उत्पत्ति भी न हुई होती" यह तर्क कार्यत्व हेतु के लिए 'विभूषणम्' अर्थात् उपकारक भी है। इस तर्क के साथ-साथ "मैं ही सब कार्यों का मूल हूँ तथा मुझसे ही सब कार्य उत्पन्न होते हैं" इत्यादि शब्द-प्रमाण भी कार्यत्व हेतु के उपकारक हैं। यद्यपि कहीं-कहीं ऐसा भी शास्त्रोपदेश है कि ईश्वर कर्त्ता नहीं है अपि तु 'प्रकृति' ही कर्त्री है, तथापि तर्कानुगृहीत होने के कारण ईश्वर में कर्त्तृत्व के प्रतिपादक वचन का ही स्वार्थ में प्रामाण्य है और अन्यान्य वचनों की गौणार्थता माननी चाहिए। अत एव मनु का कथन है :—

"ऋषि-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तित धर्मोपदेश के तात्पर्य का उपपादन जो व्यक्ति वेद-शास्त्रानुकूल तर्क के आधार पर करता है वही व्यक्ति धर्म-तत्त्व को जानता, अन्य कोई भी नहीं"॥३॥

अब पूर्व-पक्ष है :—द्व्यणुकारम्भक परमाणु-द्वय-संयोग-जनक परमाणु-क्रिया में प्रयत्न-जन्यत्व का साधन कर्मत्व हेतु नहीं कर सकता है। इसके समाधान में कह रहे हैं :—

स्वातन्त्र्ये जडता-हानिः नाऽदृष्टं दृष्ट-घातकम् ।
हेत्वभावे फलाऽभावो विशेषस्तु विशेषवान् ॥४॥

नोचिता, परमाण्वोरेव तदनुकूल-यत्नाश्रयतयोपपत्तेः । किञ्च अदृष्टा-देव प्रयत्नाऽनपेक्षं कर्म जन्यताम्, कृतं कृतेः तत्कारणत्वेन । अपि च चेष्टा-रूप-क्रिया-विशेषो हि कृति-जन्यः, न तु क्रिया-मात्रम् । चेष्टा च हिताऽहित-प्राप्ति-परिहारार्था क्रिया, सा च न परमाणौ इति तत्र समवेतायां क्रियायाम् कृतेः कारणत्वम् येन तदाश्रयतयेश्वरः सिद्धये-दिति ।

कर्त्तारमिति भाव-प्रधानो निर्देशः । तथा च कर्त्तारम् = कृतिमत्त्व-मित्यर्थः । तद्विना न कार्यम् = कर्म । तत्र परमाणोरचेतनत्वेन तत्र कृतेः समवायाभावात् विषयतयैव कृत्याश्रयत्वम् तत्र कर्म जनयितुमलम्, समवायेन तत्र तस्याः कर्म-जनकत्वे परमाणोः चेतनत्वापत्तिरित्याह—परमाण्वोरेवेत्यादिना । यत्नवत्त्वे = समवायेन यत्नाश्रयत्वे । अचेतन्यानुपपत्तिः-कृति-चैतन्ययोः समवायेन सामानाधिकरण्यस्यानुभव-सिद्धत्वात् इत्यर्थः । परमाणोः अचेतनत्वं च परमतेऽपि अचेतन-कार्य-दर्शना-दनुमेयम् । तथा च परमाणोः अचैतन्ये सिद्धे तत्र समवेतं कर्म कथं जन्यते, तत्र कर्म-कारणीभूतस्य कृतिमत्त्वस्य अभावादित्यत्राह—अचेतनस्य इति । चेतन-प्रेरितत्वे = पर-समवेत-कृति-विषयत्वे विषयतया पर-समवेत-कृत्याश्रयत्वे वाऽर्थः । जनकत्वात् = कर्म-समवायि-कारण-त्वात् इत्यर्थः । न च विषयतयैव कृतेः सत्त्वम् प्रामाणिकम्, समवाय-स्यैव गुण-निरूपित-वृत्तित्व-नियामकेषु प्राथमिकत्वात् । तथा च तथा-विधस्य कृति-समवायित्वस्य अस्मदादिषु बाधात् परमेश्वर-सिद्धि-रिति भावः । एतावता प्रथमः पादो व्याख्यातः निराकृतश्च प्रथम आक्षेपः ।

[परमाणुओं को ही क्रिया-जनक-प्रयत्न का समवायी मानने पर परमाणु को चेतन मानना पड़ेगा, अदृष्ट दृष्ट-पदार्थ की उपेक्षा करके कार्योत्पादन नहीं करता है; कारण के अभाव में यतः कार्य नहीं होता है अतः कर्म-सामान्य की उत्पत्ति कृति-सामान्य के बिना नहीं हो सकती है, और जहाँ सामान्य में कार्य-कारण-भाव रहता है वहाँ विशेष में भी उसकी स्थिति होती ही है, अतः परमाणु-निष्ठ-क्रिया-विशेष में ईश्वर-समवेत प्रयत्न-विशेष को कारण मानना ही होगा ॥४॥]

न हि कर्त्तारं हेतुं विना कार्यम्। परमाण्वोरेव यत्नवत्त्वे अचैतन्यानुपपत्तिः। अचेतनस्य चेतन-प्रेरितस्यैव जनकत्वात्।

अदृष्टमपि दृष्ट-कारण-सहकारेणैव फल-जनकम्।

न च चेष्टायामेव भोक्तृ-प्रयत्नो हेतुः, न तु क्रिया-सामान्ये इति, चेष्टायां विशेष-प्रयत्नस्य हेतुत्वेऽपि क्रिया-सामान्ये प्रयत्न-सामान्यस्य

द्वितीयं दोषं निराचिकीर्षुः द्वितीय-तृतीय-पादे विवृणोति—अदृष्टमपि इत्यादिना। तथा च न अदृष्टेनैव परमाणौ कर्मोत्पत्तिः सम्भवति इति कारण-कूटान्यतमायाः कृतेः कारणत्वे पर्यवसिते तत्समवायिनः ईश्वरस्य सिद्धिः। यदि कारणत्वे सत्यपि तस्याः अभावः स्यात् तर्हि कर्मापि न स्यादिति स्थूल-जगदनुपलब्धि-प्रसङ्ग इत्यभिप्रायकं तृतीय-पादम् संगृह्णाति—एवेति। कारणव्यतिरेकव्यवच्छेदकः एवकारः इति न कृत्यभावे कर्मनिष्पत्तिरिति तात्पर्यम्।

तृतीयं दोषं निराकरिष्णुः तुरीयं पादं विवृणोति—न चेत्यादिना। "चेष्टायामेव···· न तु क्रिया-सामान्ये इति न च" इत्यन्वयः। नञ्-द्वयस्य विधि-दार्ढ्यार्थकत्वं च प्रसिद्धमेव। विशेष-पदार्थमाह—चेष्टायाम् इति। विशेषवत्त्वमिति मूलं विवृणोति—भोक्तृ-प्रयत्नो हेतुः इति। तथा च यद्विशेषयोः कार्य-कारणभावः तत्सामान्ययोः अपि स इति नियमात् कृति-मात्रस्य क्रिया-जनकत्वमागतम् इति न कृतिमन्तरा परमाणौ कर्मोत्पत्तिः। अन्यथा यद्विशेषयोरिति नियमानङ्गीकारे। विलोपापत्तेः

कृतिमान् के विना कार्य नहीं हो सकता है। यदि परमाणुओं को यत्न का समवायी मान लिया जाय तब तो परमाणुओं की अचेतनता समाप्त हो जाएगी। यदि परमाणुओं की अचेतनता की रक्षा करनी है तब तो उसमें होने वाली क्रिया के जनक प्रयत्न के समवायी के रूप में ईश्वर को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अचेतन पदार्थ चेतन की प्रेरणा के बाद ही क्रिया को उत्पन्न करते देखे जाते हैं। अदृष्ट-मात्र से भी परमाणुओं में द्व्यणुकारम्भक क्रिया की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है—क्योंकि सम्प्राप्त होने पर दृष्ट कारण की सहायता से ही अदृष्ट भी कार्यजनक होता है। अन्यथा सभी कारणान्तर का उच्छेद हो जाएगा।

यह भी कहना उचित नहीं है कि केवल हित की प्राप्ति तथा अहित के परित्याग के लिए की जाने वाली क्रिया (चेष्टा) में ही प्रयत्न कारण होता है, अन्य क्रियाओं में नहीं, क्योंकि युक्ति-युक्त इतना ही है कि चेष्टा में प्रयत्न-विशेष

कारणत्वाऽनपायात्। अन्यथा बीज-विशेषस्य अङ्कुर-विशेषे जनकत्वेन अङ्कुर-सामान्यं प्रति बीजत्वेन हेतुताया अपि विलोपापत्तेः ॥४॥

ननु धृत्यादीनां प्रयत्न-जन्यत्वे किं मानम्? इत्यत्राह :—

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृति-विनाशयोः।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥५॥

इति–तथा च धान्याङ्कुरोदयमभिलषताम् आपणे स्थितेषु विभिन्न-बीजेषु अविशेषेण प्रसिद्धा प्रवृत्तिः नोपपद्येत इति असति बाधके सामान्यत एव कार्य-कारणभावो मन्तव्य इत्यलम् ॥४॥

पूर्व-कारिकायाम् 'यद्विशेषयोः' इति न्यायेन कृति-कर्मणोः सामान्यतः कार्य-कारणभावे व्यवस्थापिते धृति-विनाश-कर्मणोरपि कृति-जन्यत्वम् सिद्धम्, तत्कृति-समवायित्वेन च अस्मदादीनां बाधात् परमात्म-सिद्धिः। तदेवं धृति-कृत्योः विनाश-कृत्योश्च व्याप्तौ कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्गात्मकस्य अनुकूल-तर्कस्य सम्भवान्न व्यभिचार-संशय इति सिद्धेऽपि भ्रान्तः शङ्कते—ननु इति। वस्तुतस्तु ईदृश-भ्रान्तेरस्वाभाविकत्वेन 'तदेवम् धृत्यादीनां प्रयत्न-जन्यत्वे सिद्धे ईश्वर-सिद्धिः इत्याह' इत्येतादृशमेवावतरणं युक्तम् इति ध्येयम्। अत्र वदन्ति—प्रकृत-कारिकायाः पूर्वार्धम् पूर्व-कारिकायाः शेषभूतम्, उत्तरार्धन्तु प्रकृते विवेचनीयम्। ततश्च प्रलयस्य द्वितीये प्रतिपादितत्वेऽपि विस्मरणात् 'पदात्' इत्यतः आरभ्य प्रयुक्ताः हेतवः न व्याप्याः, व्यभिचार संशयादिति कथं तैः ईश्वर-सिद्धिरिति प्रश्न एव प्रकृतकारिकया समाधेय इति। कारिकार्थस्तु—**विच्छेदेन** =

कारण होता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि क्रिया-सामान्य में प्रयत्न-सामान्य कारण नहीं है। अन्यथा बीज-विशेष में अङ्कुर-विशेष की ही हेतुता होने से बीज-सामान्य में अंकुर-सामान्य के कारणत्व का विलोप हो जाएगा ॥४॥

पुनः तृतीय तथा चतुर्थ ईश्वर-साधक हेतुओं के विरुद्ध प्रश्न है :—इस ब्रह्माण्ड का धारण तथा इसका प्रलय प्रयत्न-जन्य है—इसमें क्या प्रमाण है? इसी के समाधान के लिए कह रहे हैं :—

[जिस प्रकार द्व्यणुकारम्भक-संयोग-जनक परमाणु-क्रिया में कर्मत्व हेतु से प्रयत्न-जन्यत्व-व्याप्यत्व उपपन्न है उसी प्रकार धारण तथा प्रलय के भी क्रिया-विशेषाऽऽत्मक होने से इन दोनों में भी प्रयत्न-जन्यत्व की व्याप्ति निर्दुष्ट है।

धृति-विनाशयोः प्रयत्न-जन्यत्वान्निरुपाधित्वम् । विच्छेदेन = अन्तरा-प्रलयेन आदर्शाद्यभावात् अर्वाग्दर्शी न आद्य-व्यवहार-मूलम् व्यवहारानभिज्ञत्वात् इति सर्गाद्यकालीन-घटादि-व्यवहार-प्रवर्त्तकः पुरुषः सिध्यति। एवम् प्रत्ययादेः = वेद-जन्य-धी-प्रामाण्यादेरपि निरुपाधित्वम् ॥५॥

प्रलयेन निमित्तेन सर्गस्य नाशात् पुनः सर्गादिसिद्धौ व्यवहारस्य वेदादेश्च सादित्वे सिद्धे व्यवहारस्य कृतिमता वेद-वाक्य-जन्य-प्रमायाश्च वक्तृ-गुणेन सह कार्य-कारण-भावे व्यवस्थापिते तद्भङ्ग-प्रसङ्गात्मकानुकूल-तर्कादेव तेषाम् व्याप्तिः परिशोध्यते इति नानुमान-बाधः। पूर्ववत् इत्यत्र निरुपाधित्वमित्यनुवर्त्तनीयम्, तथा च यथा पूर्वस्मिन् स्थले निरुपाधित्वम् तथा प्रकृतेपि इति भावः। तदेवं कारिकेयं दृष्टान्त-विधयाऽपि पूर्वार्धे व्याख्यान-योग्येति विभावनीयम् सुधीभिः ॥

आदर्शाद्यभावात् इति—आदर्शः = आद्योपदेशकः। अन्यथासिद्धि वारयति—अर्वाग्दर्शीत्यादिना। पुरुषः - पुरुष-विशेष ईश्वरः। निरुपाधित्वमिति—सादित्वेन स्वतः प्रामाण्याभावात् तत्प्रामाण्य-प्रयोजक-गुणाश्रयत्वेन (तद्वक्तृत्वेन च) पुरुष-विशेष-सिद्धिरिति कार्य-कारण-भावानुकूल-तर्कान्न सोपाधित्वं प्रत्ययादीनामिति नानुमान-बाध इति भावः ॥५॥

सर्ग के प्रलय होने के कारण व्यवहार तथा वेद आदि में सादित्व के सिद्ध हो जाने पर कृतिमान् तथा घटादि-सम्प्रदाय-व्यवहार में और वेद-वाक्य-जन्य-प्रमा तथा तद्वक्तृ-निष्ठ-गुण में कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्गात्मक तर्क के आधार पर स्वतन्त्र-कृतिमज्जन्यत्व तथा घटादि-सम्प्रदाय-व्यवहार एवम् वेद-वाक्य-जन्य-प्रमा तथा तद्वक्तृ-गुण-जन्यत्व में व्याप्ति निर्दुष्ट सिद्ध हो जाती है ॥५॥]

ब्रह्माण्ड-धारण तथा ब्रह्माण्ड-प्रलय में भी प्रयत्न-जन्यत्व होने के कारण व्याप्ति निरुपाधिक है, क्योंकि कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्गात्मक तर्क से उपाधि का निरास हो जाता है। 'विच्छेदेन' अर्थात् अवान्तर प्रलय के प्रामाणिक होने के कारण, सर्गादि में ईश्वरातिरिक्त आद्योपदेशक नहीं हो सकता है और साधारण सादि-ज्ञान-सम्पन्न पुरुष को तो आद्योपदेशक माना ही नहीं जा सकता है, क्योंकि उसमें अनादि-व्यवहारज्ञता नहीं रहती है। अतः सृष्टि के प्रारम्भ में व्यवहार-प्रवर्त्तक पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। इसी तरह 'प्रत्ययादेः' अर्थात् वेद-वाक्य-जन्य-ज्ञान के प्रामाण्य के आधार पर प्रामाण्य-जनक गुण-विशेष के आश्रय के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है ॥५॥

अथवा कार्यत्वादिकम् अन्यथा व्याख्यायते :—कार्यम् = तात्पर्यम्। तात्पर्य-विषये एव हि शब्द-प्रामाण्यम् इति। तात्पर्यं हि यस्य वेदे स एव ईश्वरः।

आयोजनम् = व्याख्यानम्। वेदाः तदर्थ-विद्व्याख्याताः महाजन-

अन्यथा = मीमांसक-तोषणाय भीषणाय च। कार्यत्वं च उद्देश्यत्वम्, उद्देशश्च इच्छाविशेषः तात्पर्यम्वेति कार्यम् तात्पर्यम् इत्यर्थः। तात्पर्यस्य ईश्वर-साधकत्वं प्रतिपादयितुम् आह—तात्पर्येति। तात्पर्य-विषये = तात्पर्य-विषयीभूतार्थ-विषयकत्वे इत्यर्थः। शब्द-प्रामाण्यम् इति—तथा च यत्र यत्र प्रमाणत्वम् तत्र तत्र आप्त-वक्तृ-तात्पर्य-विषयीभूतार्थ-प्रतिपादकत्वम् इति सिद्धौ प्रामाण्याश्रये आप्तवक्तृ-तात्पर्यस्यापि सिद्धिः स्पष्टा। सति चैवं वैदिक-वाक्यानामपि लौकिक-वाक्याऽविशेषात् तत्रापि तात्पर्यवत्त्व-व्याप्यं प्रामाण्यम् अप्रतिहतम् व्यापकं तात्पर्यवत्त्वम् अनुमापयति—वेदः आप्त-वक्तृ-तात्पर्यवान्, प्रमाण-शब्दत्वात् इति। ततश्च पक्ष-धर्मतया परिशेषाद्वा तत्तात्पर्याश्रयस्य आप्त-विशेषस्य सिद्धिधरिति भावः। तदाह—तात्पर्यं हि यस्य वेदे स एवेश्वर इति। न चात्राध्यापकादिभिः सिद्धसाधनम् अर्थान्तरम् वा, तेषामनियत-बोधत्वेन अनियतत्वेन च नानार्थतापत्तेः, अप्रामाण्य-सन्देहश्च।

प्रथम-कारिकोक्तं द्वितीय-हेतुमन्यथा व्याचष्टे—आयोजनम् = व्याख्यानमित्यादिना। आ = समन्तात्, योजनम् = संसर्ग-प्रतिपादनम्, आयोजनं व्याख्यानमित्यर्थः। अनुमान-प्रयोगमाह—वेदाः इत्यादिना। तदर्थेति—वेदार्थेत्यर्थः। यत्र यत्र महा-जन-परिगृहीत-वाक्यत्वम् तत्र तत्र मन्वादि-संहितासु कदाचित् तदर्थ-विद्व्याख्यातत्वमिति प्रकृतेऽपि सैव गतिरित्यभिप्रायः। अत्र साध्ये काल-विशेषावच्छिन्न-

अब मीमांसकों को समझाने के लिए कार्यत्व आदि हेतुओं की प्रकारान्तर से व्याख्या की जाती है :—'कार्यम्' अर्थात् तात्पर्य। तात्पर्य-विषयीभूत पदार्थ के प्रतिपादक होने पर ही शब्द का प्रामाण्य होता है। तात्पर्य का अर्थ है वक्ता की इच्छा। अतः वेद-वाक्य में जिसका तात्पर्य है वही पुरुष-विशेष ईश्वर है।

'आयोजनम्' अर्थात् व्याख्यान। अनुमान-वाक्य इस प्रकार है :—महाजन से अनुष्ठीयमान यज्ञादि के प्रतिपादक वाक्य होने के कारण वेद वेद के अर्थ के

परिगृहीत-वाक्यत्वात् । अव्याख्यातत्वे पदार्थानवगमे अननुष्ठाना-पत्तेः । एकदेश-दर्शिनश्च न आश्वासः ।

बाध-वारणाय कदाचिदिति विशेषणं देयम् । महाजन-परिगृहीत-वाक्य-त्वात् = महाजन - परिगृहीत-यज्ञादि - पदार्थ - प्रतिपादक - वाक्यत्वा-दित्यर्थः । व्यभिचार-वारकमनुकूल-तर्कम् प्रस्तौति—अव्याख्यातत्वे इत्यादिना । ननु एक-देश-दर्शिनाम् अध्यापकादीनाम् एव तद्व्याख्या-तृत्वमस्तु कृतमीश्वरेणेत्यत आह—एक-देश-दर्शिनश्चेत्यादि । एक-देश-दर्शिनः = वेदार्थैक-देश-दर्शिनः असर्वज्ञस्य । व्याख्याने इति शेषः । न आश्वासः इति । तथा च वेद-व्याख्यातृत्वेन परमेश्वरः सिद्ध्यति । न हि नित्य-सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यः कश्चन पुरुष-विशेषः अप्रत्यक्षी-कृत-सकल-वेदार्थानुष्ठानः एतावानेवायमाम्नाय इति निश्चेतुमलम् ! तस्मादुक्तामाने नार्थान्तर-सम्भावनापि । अत एव वक्ष्यमाण-कारि-कायाः द्वितीय. पादः—व्याख्या विश्वदृशः सती—सङ्गृहीतः । विश्व-दृशः व्याख्या एव सती नान्यस्येत्यर्थः । 'धृत्यादेः' इति प्रथम-कारिकोक्तं हेतुमन्यथा विवृणोति—धारणमिति । धारणम् = वेदाध्यापनम् इत्यर्थः । तथा च प्रयोगः—वेदाध्यापनम् तदर्थ-ज्ञ-स्वतन्त्र-पुरुष-मूलकम् अध्या-पनत्वात् मन्वादि-संहिताध्यापनवत् इति । अत एव स्मर्यते—'वेद-मध्यापयद्विधिम्', 'वेदार्थं स्वान् अवदेयत्' इति च । युक्तं चैतत्, कथमन्यथा निःशेषाः श्रुतीः ग्रन्थतः अर्थतो वा अर्वाग्दृक् ऊर्ध्व-दृग्वा कश्चन नित्य-सर्वज्ञातिरिक्तः अध्यापयितुमलम् । तथा हि श्रूयते—"बृहस्पतिश्च अध्येता इन्द्रश्च प्रवक्ता, दिव्यं-वर्ष-सहस्रम् अध्ययन-कालः, नान्तं जगाम" इत्यादिः । व्याख्यानाध्यापनयोश्च नाऽभेदः, गुरु-शिष्य-सम्बन्धमन्तरैव प्रवचनं व्याख्यानम्, शिष्यायोपदेशः अध्यापनमिति तयोर्भेदात् इति ध्येयम् । अनुष्ठानेति—अनुष्ठानम् = यज्ञाद्यनुष्ठानम् इत्यर्थः । तथा चायम्प्रयोगः—वेदार्थानुष्ठानम् तज्ज्ञ-स्वतन्त्र-पुरुष-मूलकम् अनुष्ठानत्वात् तन्त्रादि-विहितानुष्ठान-वत् । अत एवाचार्याः—'क्रिया-व्युत्पत्तिरपि तत एव' इति । सर्ग-

प्रमात्मक-ज्ञान से सम्पन्न पुरुष-विशेष के द्वारा प्रथमतः व्याख्यात हुआ है । यदि उसकी व्याख्या न हुई होती तो वेदार्थ के अज्ञान के कारण यज्ञादि का अनुष्ठान नहीं हो पाता । अल्पज्ञ अध्यापक आदि की व्याख्या में तो विश्वास नहीं हो सकता है । अतः व्याख्याता के रूप में ईश्वर की सिद्धि निराबाध है ॥

एवं धृतिः = धारणम्। धृत्यादेरित्यत्रादि-ग्रहणात् अनुष्ठान-सङ्ग्रहः।

एवमीश्वरादि-पदार्थतया ईश्वर-सिद्धिः। तदुक्तम्[1]—

प्रलय-सम्भवाच्च नाध्यापकादिना सिद्ध-साधनम्, अर्थान्तरं वा। ततश्च आगमात्, व्यतिरेकात्, पक्ष-धर्मतया वा विशेषस्येश्वरस्य सिद्धिरिति विवेचनीयम्। अन्ये तु अन्यथा व्याचख्युः।

पदादित्यस्य व्याख्यान्तरमाह—**ईश्वरादीत्यादिना**। आदिपदात् प्रणवादि-शब्द-परिग्रहः। अयमर्थः—शास्त्रेषु हि ईश्वरादयः शब्दाः श्रूयन्ते। ते च सार्थकाः निरर्थकतया प्रसिद्ध्यभावेन श्रुति-स्मृत्यादिषु प्रयुज्यमानत्वात्, घटादिपदवत् इति सामान्यतः सार्थकत्वे सिद्धे "सर्वज्ञता-तृप्तिरनादि-बोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्त-शक्तिः" इत्यादीश्वर-प्रणिधान-प्रकरण-पठित-विधि-शेषात्, "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोक-त्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" इत्याद्यर्थवादात्, "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः", "स वेत्ति सर्वं नहि तस्य वेत्ता" इत्याद्यगमाच्च अस्मदभिमते एवार्थे शक्ति-ग्रहः इति पदादीश्वर-सिद्धिः इति। 'तदुक्तम्' इत्यत्र आचार्यैः इति शेषः। यद्यपि कैश्चिदियं कारिका नाचार्यीया इति वृत्ति-कृद्भ्रान्तिरुक्ता, तथाऽपि

इसी प्रकार, 'धृतिः' अर्थात् धारण भी ईश्वर-साधक है। धारण का अर्थ है वेदाध्यापन और यह वेदाध्यापन सर्व-प्रथम जिस सर्वज्ञ पुरुष-विशेष के द्वारा किया गया होगा वही ईश्वर है। मूलोक्त 'धृत्यादेः' शब्द में 'आदि' पद 'अनुष्ठान' अर्थात् यज्ञाद्यनुष्ठान का सङ्ग्राहक है। सर्गादि में जिस सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ने यज्ञादि का स्वयम् अनुष्ठान कर लोगों को अनुष्ठान करने का उपदेश दिया होगा वही ईश्वर है।

इसी प्रकार श्रुति-स्मृति-प्रसिद्ध ईश्वर, ओङ्कार आदि 'पदों' के प्रतिपाद्य के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है। यही बात कही गई है :—

---

१. यद्यपि वृत्तौ 'उद्देश एव तात्पर्यम्' इत्यादि-कारिकायाः तदुक्तम् इति रूपेण अवतारात् तत्कारिकाऽपि वृत्तिकृन्मते नोदयनाचार्यस्येति मन्वानैः बहुभिः तदन्ते एव पञ्चम-कारिका-व्याख्या-समाप्तिः विहिता, तथाऽपि दृढतर-प्रमाणाभावात् मया अत्रैव कारिका-व्याख्या-पूर्त्तिः स्वीकृता, "उद्देश एवेत्यादि" कारिका च पृथगेव वृत्तिकृन्मत-व्याख्यया विवृतेति विद्वद्भिः विवेचनीयम्।

उद्देश एव तात्पर्यम् व्याख्या विश्व-दृशः सती ।
ईश्वरादि-पदं सार्थम् लोक-वृत्तानुसारतः ॥६॥

उद्देशः इच्छा-विशेषः । एवम् "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादौ अहम्पदं स्वतन्त्रोच्चारयितृ-परम् । लोक-स्थले सतात्पर्यकस्यैव शब्दस्य प्रमाणत्वात् "य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः" इति लौकिकाहमादि-पदवत् अलौकिकेऽपि इयमेव व्यवस्था ॥६॥

अनुपपत्ति-विशेषाभावात् वृत्तिकृतो भ्रान्तिरिति न युक्तम् । वाक्य-विन्यास-शैथिल्यन्तु वृत्ति-कृतः बहुत्र लक्ष्यते इति विवेचनीयम् ।

इच्छा-विशेषः तात्पर्यम् वेदे, तच्च ईश्वरस्यैवेत्युपपादितम् पुरस्तात् । 'लोक-वृत्तानुसारतः' इत्यस्य व्याख्यामाह—एवमित्यादिना । वृत्तं स्थितिः । स्वतन्त्रोच्चारयितृ-परमिति-स्वातन्त्र्यं च अन्य-कर्तृकत्वेन उच्चारणाभावः । स च प्रकरणादिना ज्ञेयः । अत एव "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय" इत्यत्र नेश्वर-वाचकत्वम् अध्याहृतास्मत्पदस्येति बोध्यम् । अत्र लोक-वृत्तमाह—लोकस्थले इत्यादिना । य एवेति लौकिक-वैदिकयोरेकत्वं साजात्यात् (परमतेन वा) । अत एवाह भगवान् यास्कः—"अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्" इति । तथा च यथा स्वा-तन्त्र्येण उच्चारितः अस्मच्छब्दः स्व-प्रयोक्तृ-वाचकः तथा वेदेऽपीति स्थितिः । लोक-स्थले स्वातन्त्र्य-विशेषण-फलं च "वाच्यस्त्वया मद्वच-

[इच्छा-विशेष ही तात्पर्य है और वेद-स्थल में यह तात्पर्य ईश्वर का ही है अन्य किसी साधारण व्यक्ति का नहीं, वेदों की उचित व्याख्या भी सर्वज्ञ-पुरुष-विशेष के द्वारा ही हो सकती है और लौकिक एवं वैदिक शब्दों में साम्य होने से वेदों में उच्चरित ईश्वरादि पद तथा 'अहम्' आदि पदों के अर्थ के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है ॥६॥]

'उद्देशः' अर्थात् इच्छा-विशेष । इसी प्रकार "मैं ही सबों का मूल हूँ" इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त 'मैं' शब्द भी स्वतन्त्र वाक्योच्चारक ईश्वर का ही प्रतिपादक है । लोक-व्यवहार में तात्पर्यवान् शब्द ही प्रमाण होता है, अतः यह कहा जाता है कि 'जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक शब्द भी'; एवञ्च लौकिक अहम्पद जिस प्रकार स्वतन्त्रोच्चारक का प्रतिपादक होता है उसी प्रकार 'एको-हम् बहु स्याम्' इत्यादि वैदिकवाक्यों में प्रयुक्त 'अहम्' पद भी स्वतन्त्रोच्चारक—ईश्वर—का ही प्रतिपादक है ॥६॥

प्रत्ययतः = विधि-प्रत्ययात्। आप्ताऽभिप्रायो विध्यर्थः। यस्याऽभिप्रायः स एवेश्वरः। (तदाह :—)

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा।
तज्ज्ञानम्, विषयस्तस्य विधिः तज्ज्ञापकोऽथवा ॥७॥

नात् स राजा" इत्यत्र रघुवंश-पद्ये प्रयुक्तस्य अस्मत्पदस्य कवि-वाचकत्वाभावेऽपि न व्यभिचार इति। तथा चायं प्रयोगः—वेदे स्वातन्त्र्येण उच्चारितः अस्मच्छब्दः स्व-प्रयोक्तृवाचकः, स्वतन्त्रोच्चारितास्मच्छब्दत्वात्, लोकवदिति ॥६॥

'प्रत्ययतः' इत्यस्य व्याख्यानान्तरमाह—विधि-प्रत्ययादिति। यद्यपि अन्यत्र इच्छाद्यर्थेषु अपि प्रवृत्तिपद-प्रयोग उपलभ्यते, तथाऽपि विधि-प्रस्तावे कृतिरेव प्रवृत्ति-पदार्थः, इच्छायाः तदर्थत्वे तु तयैव विध्यर्थ-निर्वाहे यागाद्यकरण-प्रसङ्गः। कृतेः तथात्वे तु नैवम्, फल-पर्यवसानायाः तस्याः कृतेः निर्वाहार्थम् यागादि-सम्पादनस्योपयोगित्वमित्यभिप्रायवानाह—'प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र' इति। सा = कृत्यात्मिका प्रवृत्तिः। चिकीर्षातः इति—चिकीर्षा च कृति-साध्यत्व-प्रकारिका कृति-साध्य-विषयिणी इच्छा, पाकं कृत्या साधयामीत्यनुभवात्। स च चिकीर्षा यतः भवति तत् चिकीर्षा-कारणीभूतम् तत्त्वं किम् इत्यत्राह मूले तत् ज्ञानमिति। तदेव विवृणोति—चिकीर्षा च कृति-साध्यत्वेष्ट-साधनता-ज्ञानात् इति। कृति-साध्य-

'प्रत्ययतः' अर्थात् विधि-प्रत्यय से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। आप्त का अभिप्राय ही विधि का अर्थ होता है। वैदिक-विधि के अर्थ के रूप में जिस परमाप्त पुरुष-विशेष का अभिप्राय प्रस्तुत होता है वही ईश्वर है (यही बात कह रहे हैं) :—

[इस प्रसङ्ग में प्रवृत्ति का अर्थ प्रयत्न ही है, यह प्रवृत्ति इच्छा से होती है और यह इच्छा (चिकीर्षा) भी इष्ट-साधनता आदि के ज्ञान से होती है और उस ज्ञान के विषय, इष्टसाधनत्व आदि, को प्राचीन लोग विधि का अर्थ मानते हैं। परन्तु वस्तुतः इष्ट-साधनत्व आदि का अनुमापक आप्ताऽभिप्राय ही विध्यर्थ है ॥७॥]

विधि-प्रत्यय के श्रवण के बाद हुए ज्ञान से प्रवृत्ति देखी जाती है और यह प्रवृत्ति होती हैं 'चिकीर्षातः' अर्थात् करने की इच्छा से। यह चिकीर्षा तत्तत्-

विधि-जन्य-ज्ञानात् प्रवृत्तिः दृश्यते। सा च इच्छातः = चिकीर्षातः। चिकीर्षा च कृति-साध्यत्वेष्टसाधनता-ज्ञानात्, तज्ज्ञानस्य विषयः कार्यत्वम् इष्ट-साधनत्वञ्च विधिरिति प्राचीन-मतम्। स्व-मतमाह—तज्ज्ञापकोऽथवेति। इष्ट-साधनत्वानुमापकः आप्ताऽभिप्रायो विध्यर्थः ॥७॥

प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-हेतु-ज्ञान-विषयं परिशेषयति—

त्वस्य चिकीर्षा-प्रयोजकत्वादेव वृष्ट्यादौ सत्यपीष्ट-साधनत्वावगमे न चिकीर्षा। इष्ट-साधनता-ज्ञानस्य च चिकीर्षा-प्रयोजकत्वम् सर्वानुभव-सिद्धमेव। तदेवं स्वतन्त्रमेव कारण-द्वयम् पर्यवस्यति इति ध्येयम्। कार्यत्वम् = कृति-साध्यत्वम्। विधिः = विधि-प्रत्ययार्थः। आप्ताभिप्राय इति—लोकानुरोधात् लिङः इच्छामात्रे शक्तत्वेन तयैव इष्ट-साधनत्व-स्यानुमेयत्वे अन्य-लभ्यत्वान्न तस्य विधि-प्रत्ययार्थत्वमुचितम्, अनन्य-लभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। तथा च आप्ताभिप्राय एवेति स एव विध्यर्थः इति भावः। इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्वम् अन्यथाऽपि निराकरिष्यति मूलकारः "हेतुत्वादनुमानाच्चेत्यादि—" करिकायाम् ॥७॥

पूर्व-कारिकायाम् विध्यर्थ-विषये मत-द्वयमुक्तम् प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयो विधिः इत्येकम्, तादृश-विषय-ज्ञापकः इत्यपरम्। तत्र प्रथमम्मतं न सम्मतमिति तन्निरसनमावश्यकम्। निरासश्च निरस्यमान-ज्ञानमपेक्षते। तत्र केचित् कर्त्तृ-धर्माणाम् स्पन्द-यत्नेच्छानाम् तथाविध-ज्ञान-विषयत्वं मन्यन्ते, अपरे कर्म-धर्माणां तथात्वमिति प्रतियन्ति, इतरे पुनः करण-धर्माणामेवेष्ट-साध-नत्वादीनाम् तथात्वं सङ्गिरन्ते। एषु त्रिषु पक्षेषु प्राप्तानां पदार्था-नाम् (इष्ट-साधनताऽतिरिक्तानाम्) प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनन-ज्ञान-विषयत्वमेव नेति कुतः तेषां विध्यर्थत्वाऽऽशङ्काऽपि पूर्व-मतमनु-सृत्याऽपि [इष्ट-साधनतायाः तथा-विध-ज्ञान-विषयत्वं यद्यपि

कार्य में स्व-प्रयत्न-साध्यत्व तथा स्वेष्ट-साधकत्व के ज्ञान से होती है, इसलिए इस ज्ञान के विषय, प्रयत्न-साध्यत्व तथा इष्ट-साधनत्व ही विध्यर्थ हैं—यह प्राचीनों का मत है। अब अपना मत बतला रहे हैं :—'तज्ज्ञापकोऽथ वा' शब्द से। इष्ट-साधनत्व आदि का अनुमापक आप्ताऽभिप्राय ही विध्यर्थ है ॥७॥

अब प्रवृत्ति-प्रयोजक चिकीर्षा के उत्पादक ज्ञान के विषय के रूप में प्रस्ता-वित परन्तु तत्त्वतः अविषय 'स्पन्द' 'यत्न' आदि में तथा उपर्युक्त ज्ञान के विषय इष्ट-साधनत्व में विध्यर्थत्व के खण्डन का उपक्रम कर रहे हैं :—

इष्ट-हानेरनिष्टाऽऽप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः ।
असत्त्वात् प्रत्यय-त्यागात् कर्तृ-धर्मो न सङ्करात् ॥८॥

उचितम् इति तत्र विध्यर्थत्व-सम्भावना, तथापि अन्यलभ्यत्वात् हेतुत्वादित्यादि-कारिकोक्त-दोषाच्च तस्या अपि न विध्यर्थत्वम् इति प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-हेतु-ज्ञान-विषयत्वस्य नैव विध्यर्थत्व-सम्भावनाऽपि] इत्याह—**प्रवृत्ति-प्रयोजकेत्यादिना** । **परिशेषयति** = बहिष्करोति विध्यर्थ-कोटेरिति तदर्थः । केचित्तु प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-हेतु-ज्ञानस्य कृति-साध्यत्वेष्ट-साधनत्व-विषयकत्वं पर्यवसितुं विचारयतीत्यर्थ इत्याहुः ॥

यदि कर्तृ-धर्मस्य स्पन्दस्य तथा-विधज्ञान-विषयत्वं स्यात् तर्हि तज्ज्ञानस्य इच्छाद्वारा प्रवर्त्तकत्वमपि स्यात्, परन्तु तज्ज्ञानं न प्रवर्त्तकमिति न स्पन्दस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनक-ज्ञान-विषयत्वमिति न तत्र विध्यर्थत्व-पर्यवसानमित्यभिप्रायवान् आह—**स्पन्दस्येत्यादिना** । स्पन्दस्य कर्तृधर्मस्येत्यनन्तरम् ज्ञानस्येति शेषः । स्पन्दस्य कर्तृ-धर्मत्वं च कर्त्रवच्छिन्न-शरीर-समवायात् न तु साक्षात् इति बोध्यम् । स्पन्द-विषयकं यज्ज्ञानं तस्य प्रवृत्ति-जनकत्वे इति तात्पर्यम् । तस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकत्वे दोषमव्याप्त्यात्मकमुपादत्ते—**आत्मानं विजानीयादित्यत्र अप्रवृत्ति-प्रसङ्गात्** इति । तत्र स्पन्द-ज्ञानाभावादिति तात्पर्यम्

[यदि कर्त्ता के धर्मों के अन्तर्गत आने वाले 'स्पन्द' को विध्यर्थ माना जायगा तो स्पन्द के अज्ञान के कारण 'आत्मानं जानीयात्' आदि वाक्यों से उचित प्रवृत्ति नहीं होगी और 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि वाक्यों से अनुचित प्रवृत्ति होने लग जाएगी, यजते आदि आख्यात से यत्न की प्रतीति होने पर भी प्रवृत्ति के अभाव होने से 'यत्न' भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है; 'चिकीर्षा' को विध्यर्थ मानने पर चिकीर्षा से चिकीर्षाज्ञान और चिकीर्षा-ज्ञान से चिकीर्षा की उत्पत्ति मानने में अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाएगा; चिकीर्षा के लिङ्-पद-जन्य ज्ञान को चिकीर्षा के जनक मानने पर अवर्त्तमान चिकीर्षा से प्रवृत्ति नहीं बन पाएगी, क्योंकि चिकीर्षा स्वरूपत: सत् होने पर ही प्रवृत्ति का कारण हो सकती है; लिङादि को चिकीर्षा-ज्ञान-जनक मानने पर इष्ट-साधनता-ज्ञान तथा चिकीर्षा के बीच प्रसिद्ध कार्यकारणभाव का अपलाप हो जाएगा; और इष्ट-साधनता-ज्ञान-संकीर्ण फलेच्छा को भी गौरव-ग्रस्त होने के कारण विधि का अर्थ नहीं माना जा सकता है ॥८॥]

स्पन्दस्य कर्तृ-धर्मस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकत्वे 'आत्मानं विजानीयात्' इत्यत्र अप्रवृत्ति-प्रसङ्गात्, ग्रामं गच्छतीत्यतः प्रवृत्त्यापत्तेश्च। यत्नस्य विधित्वे दोषमाह—अप्रवृत्तेः आख्यातान्तरेण यत्ने बोधितेऽपि इष्ट-साधनत्वाऽप्रतिसन्धाने अनिष्ट-साधनत्व-ज्ञाने वा अप्रवृत्तेः। इच्छायाः विधित्वे दोषमाह--विरोधत इति। इच्छायाः विधित्वे इच्छयैव तज्ज्ञानं

एतस्य। अस्तु तर्हि कर्तृ-निष्ठ-यत्न एव विध्यर्थः यत्न-ज्ञानस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनकत्वादित्याह—'यत्नस्य विधित्वे' इति। दोषं विवृणोति आख्यातान्तरेणेत्यादिना। आख्यातान्तरेण लडादिना। यत्ने बोधितेऽपि इति—यत्नस्य सर्वाख्यात-वाच्यत्वात् इति भावः। इष्ट-साधनत्वाऽज्ञाने पर-कृत-यज्ञादौ। अनिष्ट-साधनत्व-ज्ञाने = पर-कृत-विषभक्षणादौ। अप्रवृत्तेः इति, तथा च यत्न-ज्ञानस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकत्वं व्यभिचरितमिति न तादृश-ज्ञानाऽविषयस्य यत्नस्य विध्यर्थत्वमुचितम्। यद्यपि प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनक-ज्ञान-विषयत्वस्यापि न विध्यर्थत्वमभिमतम्, तथापि अस्तु तावत् तथाविध-ज्ञान-विषयत्वमेव विध्यर्थत्वम् तावता-ऽपि यत्नादेः न विध्यर्थत्व-सम्भावनेति अभ्युपेत्य वादेन समाधान-मेतदिति न विस्मर्त्तव्यम्। इच्छायाः = चिकीर्षायाः उपायेच्छाया इति भावः। विधित्वे = प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वे, इच्छयैव = चिकीर्षयैव, तज्ज्ञानम् = प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षाजनक-चिकीर्षातज्ज्ञानम् लौकिक-मानस-प्रत्यक्षात्मकम्। जननीयम् इति—लौकिक-प्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वात् इति भावः। इच्छा जननीयेति—प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षायाः ज्ञान-जन्यत्व-नियमात् इति भावः। अन्योऽन्याश्रयः इति—चिकीर्षायाः तथाविध-ज्ञान-जनकत्वे इत्थं प्रक्रिया

कर्ता के धर्म 'स्पन्द' को यदि विध्यर्थ माना जाय तो "आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए" इत्यादि स्थलों में स्पन्द की प्रतीति के न होने से प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी और 'ग्राम जा रहा है' इत्यादि वाक्यों से स्पन्द की प्रतीति होने से प्रवृत्ति होने लग जाएगी। अब यत्न को विध्यर्थ मानने में जो दोष आता है उसका निर्देश कर रहे हैं :—'अप्रवृत्तेः' अर्थात् लङादि लकारों में प्रयुक्त आख्यातों के द्वारा यत्न के बोध होने पर भी जब तक इष्ट-साधनत्व का ज्ञान नहीं होता है तब तक प्रवृत्ति नहीं होने से यत्न को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता है। चिकीर्षा को विध्यर्थ मानने में दोष बतला रहे हैं :—'विरोधतः' शब्द से। तात्पर्य यह है कि यदि चिकीर्षा को विध्यर्थ मान लिया

जननीयम् , इच्छायाः ज्ञानेन च इच्छा जननीया इत्यन्योऽन्याश्रयः। तदिदमुक्तम्--'विरोधतः' इति।

ननु इच्छा-ज्ञानं लिङा जननीयम् इत्यत्र आह--'असत्त्वात्' इति। इच्छा-ज्ञाने जाते प्रवृत्ति-हेतु-स्वरूप-सदिच्छाऽभावात् प्रवृत्तिर्न स्यात्, इच्छायाः स्वरूप-सत्या एव प्रवृत्ति-हेतुत्वात्। न च लिङ्-श्रवण-काले इच्छा स्वरूप-सती इत्यर्थः।

प्रथमं चिकीर्षा (लौकिक-प्रत्यक्षस्य विषय-जन्यत्व-नियमात्), ततः चिकीर्षा-विषयकं ज्ञानम् , ततः पुनः चिकीर्षा, ततः प्रवृत्तिः इति। तत्र चिकीर्षायाम् जातायाम् तस्याः ज्ञानम् , ज्ञाने च जाते चिकीर्षा उत्पद्यते इति उत्पत्तौ अन्योऽन्याश्रयः इति तात्पर्यम्।

ननु न वयम् चिकीर्षायाः लौकिक-प्रत्यक्षम् मनो-जन्यं मन्यामहे येन चिकीर्षायाः ज्ञान-जनकत्वम् ज्ञानस्य च चिकीर्षाजन्यत्वमादायोक्तान्योऽन्याश्रयः स्यात् , अपितु एतद्धि ज्ञानं चिकीर्षा-विषयकम् शाब्दमेव लिङा जननीयम , तत्र च विषयस्य कारणत्वाभावात् शाब्द-चिकीर्षा-ज्ञानेन चिकीर्षा ततः प्रवृत्तिरिति कुत उक्ताऽन्योन्याश्रय इत्याशङ्कते—ननु इच्छा-ज्ञानमित्यादिना। अत्रोत्तरम् विवृणोति—इच्छा-ज्ञाने जाते इत्यादिना। अयम् आशयः—इच्छा-ज्ञानस्य इच्छा-जनकत्वे मानाभावात् लिङश्च वक्ष्यमाण-दोषात् मानाभावाच्च इच्छाऽजनकत्वात् इच्छायाः ज्ञानं लिङा जायतां नाम, इच्छा तु तावताप्यनुत्पन्ना सती कथं प्रवृत्तिं जनयेत्? स्वरूप-सत्याः एव तस्याः प्रवृत्ति-प्रयोजकत्वात् अन्यथा स्वर्ग-कामः याग-चिकीर्षावान् इति वाक्यादपि प्रवृत्त्यापत्तेः इति न इच्छायाः प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनक-ज्ञान-विषयत्वम् उचितम् इति। जाते इति—अनन्तरम् अपीति शेषः। लिङ्-श्रवण-काले – लिङ्-श्रवणोत्तर-जायमानेच्छा-ज्ञानोत्तर-काले, स्वरूपसतीति-इच्छा-ज्ञानस्य इच्छा-जनकत्वे मानाभावादित्यर्थः॥ यद्वा लिङ्-श्रवण-काले ततः पूर्वमिच्छोत्पादकाभावेन इच्छायाः स्वरूपत असत्त्वात् इच्छा-ज्ञानस्य ज्ञापकत्वरूपम् इच्छा-जनकत्वमादायापि इच्छायाः प्रवृत्ति-प्रयोजकेच्छा-जनक-ज्ञान-विषयत्वे अन्योन्याश्रयो दुरुद्धरः इति भावः।

जाय तो चिकीर्षा की उत्पत्ति के बाद से ही चिकीर्षास्वरूप का लौकिक-प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानना पड़ेगा और ज्ञान से चिकीर्षा की उत्पत्ति होती है—इस

ननु लिङ् एव इच्छा-जनिका इत्यत्र आह—'प्रत्यय-त्यागात्' इति। कारणत्वेन गृहीतस्य प्रत्ययस्य = ज्ञानस्य, कारणस्य, त्यागापत्तेः = व्यभिचारादित्यर्थः।

लिङ्-श्रुति-काले सुखत्वादि-प्रकारक-धी-जन्या इच्छा लिङर्थ इत्यत्र

ननु लिङ् एव इच्छा-ज्ञान-जनन-द्वारा इच्छामपि जनयेत्, ततश्च इच्छाया प्रवृत्तेः पूर्वं स्वरूपतः सत्त्वान्नोक्त-प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्याशङ्कते—ननु लिङ् एवेत्यादिना। उत्तरम् विवृणोति—इच्छा-कारणत्वेनेत्यादिना। गृहीतस्य - सर्व-वादि-सम्मतस्य, ज्ञानस्य = इष्ट-साधनता-ज्ञानस्य, व्यभिचारात् इति—इष्ट-साधनता-ज्ञानस्याभावेऽपि लिङा इच्छा-जननात् इष्ट-साधनता-ज्ञानेच्छयोः कार्य-कारण-भावे व्यतिरेक-व्यभिचारादिति भावः।

लिङः श्रुति-काले सुखादि-फलेच्छा वर्तमाना लिङर्थः चिकीर्षा-द्वारा प्रवृत्ति-हेतुश्चेति प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वं फलेच्छाया एवेत्याशङ्कते—लिङ्-श्रुति-काले इत्यादिना। लिङर्थः=प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयः। तथा च लिङः फलेच्छार्थकत्वेन लिङ् श्रवणानन्तरम् फलेच्छा-ज्ञानम् ततः चिकीर्षा ततः प्रवृत्तिरिति तथा-विध-ज्ञान-विषयत्वं फलेच्छाया उपपन्नमिति पूर्व-पक्षाशयः। उत्तरं विवृणोति—इष्ट-साधनतेत्यादिना। यद्यपि फलेच्छायाः फल-ज्ञान-

प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आ पड़ेगा। अतः चिकीर्षा विध्यर्थ नहीं है। यही बात 'विरोधतः' शब्द से सङ्केतित है।

अस्तु, लिङ् से ही चिकीर्षा-ज्ञान को उत्पत्ति मान लेने पर उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा, क्योंकि शाब्द-ज्ञान में विषय कारण नहीं होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—'असत्त्वात्'। लिङ् से चिकीर्षा के ज्ञान के हो जाने पर भी उस-ज्ञान के बाद चिकीर्षा की उत्पत्ति में प्रमाणा-भाव के कारण 'प्रवृत्ति' नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रवृत्ति में चिकीर्षा तभी कारण होती है यदि वह प्रवृत्ति से पहले स्वरूपतः वर्तमान हो, अन्यथा नहीं। इच्छा-ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति में प्रमाणाभाव के कारण लिङ्-श्रवणोतर-काल में जायमान इच्छा-ज्ञान से स्वोत्तर काल में इच्छा की उत्पत्ति न होने से उस समय स्वरूप-सती इच्छा नहीं मिल सकती है।

अच्छा, तो लिङ् से ही इच्छा की उत्पत्ति भी हो जाय। इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—'प्रत्यय-त्यागात्'। तात्पर्य यह है कि यदि लिङ् को

आह—'सङ्करात्' इति। इष्ट-साधनता-ज्ञानस्य उपायेच्छा-हेतोः अवश्यं स्वीकारात् तत्र च कारणान्तराऽभावात् लिङ्-पदमेव कारणम्। अतः फलेच्छा-ज्ञानं न प्रवृत्ति-हेतुः, तद्विनाऽपि प्रवृत्ति-सम्भवात्। तथा

मात्र-जन्यतया लिङः न फलेच्छा-जनकत्वम्, मनो-मात्र-वेद्यतया च तत्प्रत्यायकत्वमपि न लिङः वक्तुं युक्तम्, शाब्द-ज्ञानस्थले शब्दस्य ज्ञान-कारणत्वेन लिङः इच्छा-ज्ञापकत्वे यथाकथञ्चिदभ्युपगतेऽपि 'यजेत' इत्येतावतैव याग-कर्त्ता स्वर्ग-काम इत्यर्थलाभे 'स्वर्ग-कामः' इत्यस्य पौनरुक्त्यापत्तिश्च स्यादिति नैव फलेच्छा लिङर्थ इति, तथापि अभ्युपेत्य तस्याः लिङर्थत्वम् इत्थं समाधानमुच्यते इति ध्येयम्। ग्रन्थार्थस्तु—अस्तु लिङः फलेच्छा-ज्ञापकत्वम्, तावतापि उपायेच्छोत्पत्तये सर्व-सम्मतस्य इष्ट-साधनता-ज्ञानस्य ततः पूर्वमवश्याभ्युपेयतया तत्र च कारणान्तरा-भावात्परिशेषाल्लिङः एव तत्कारणत्वेन स्वीकारः आवश्यकः। तथा च त्वन्मते लिङा फलेच्छा-ज्ञानम् इष्ट-साधनता-ज्ञानं च जननीयम्। तत्रैवं सति उपायेच्छायाः कारणत्वेन फलेच्छा-ज्ञानस्याभ्युपगमेऽपि फलेच्छा-ज्ञानस्य इष्ट-साधनता-ज्ञान-सहचारात्मक-साङ्कर्यात् इष्ट-साधनता-ज्ञान-सङ्कीर्णमेव फलेच्छा-ज्ञानम् उपायेच्छा-प्रयोजकं स्यात्, न तु केवलम्, तथा सति इष्ट-साधनता-ज्ञानस्योपायेच्छा-कारणत्वं सर्व-सिद्धं विलुप्येत इति वरं लाघवादिष्ट-साधनत्व-ज्ञानस्यैव उपायेच्छा-प्रयोजकत्वम् न तु फलेच्छा-ज्ञान-सङ्कीर्णस्येष्ट-साधनता-ज्ञानस्य इष्ट-साधनता-ज्ञान-सङ्कीर्णस्य फलेच्छा-ज्ञानस्य वा, गौरवात्। न चैवम् फलेच्छा-ज्ञानमात्रस्योपायेच्छा-जनक-

इच्छा-जनक मानेंगे तो 'प्रत्ययस्य' अर्थात् (इष्ट-साधनता-) ज्ञान की इच्छा-जनकता का परित्याग करना पड़ेगा अर्थात् ज्ञान तथा इच्छा के सर्वानुभव-सिद्ध-कार्य-कारण-भाव को व्यतिरेक-व्यभिचार से दुष्ट होने के कारण अप्रामाणिक मानना पड़ेगा।

लिङ् के श्रवण के समय सुखादि-विषयिणी फलेच्छा तो वर्त्तमान है, इसलिए फलेच्छा को ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक ज्ञान का विषय मान लेना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं :—'सङ्करात्' शब्द से। कार्यता-ज्ञान-से भी इष्ट-साधनता-ज्ञान के बिना प्रवृत्ति के आनुभविक न होने से उपायेच्छा (प्रवृत्ति) के कारण के रूप में इष्ट-साधनता-ज्ञान को तो मानना ही होगा, और उसके ज्ञापक अन्य कारण के अनुपलम्भ होने से लिङ् को ही उस इष्ट-

च सङ्करात् = इष्ट-साधनत्व-ज्ञान-रूप-साधन-सहचारत्वात्। इच्छा-ज्ञानस्येच्छा-जनकत्वे मानाभावेन तस्य लिङ्पद-जन्यत्वे मानाभावाच्चेति ॥८॥

ननु यत्न-ज्ञानमेव प्रवर्त्तकम् अस्तु, आख्यातान्तरं च न यत्नत्वम् इति वैपरीत्यं लाघवानुसारेण शङ्क्यम्, तथा सति इष्ट-साधनता-ज्ञानस्य सर्व-सम्मतमुपायेच्छा-प्रयोजकत्वं विलुप्येतेति उक्तमेव। किञ्च फलेच्छा-ज्ञानस्य उपायेच्छा-जनन-द्वारा उपाय-विषयक-प्रयत्न-प्रयोजकत्वे न प्रमाणम् इष्ट-साधनता-ज्ञान-मात्रादेव असत्यपि फलेच्छा-ज्ञाने प्रवृत्तेः अनुभव-सिद्धत्वादिति फलेच्छा-ज्ञानस्य साधन-विषय-प्रवृत्तिजनकत्वे व्यभिचारोपीत्याह—तद्विनाऽपि प्रवृत्ति-सम्भवात् इति। फलेच्छायाः च न उपाय-विषय-प्रवृत्ति-जनकत्वम्, समान-विषयत्वाभावादित्यन्यत्र विस्तरः ॥८॥

पूर्वम् यत्न-ज्ञानस्य आख्यात-सामान्ये सम्भवात् प्रवृत्तौ लडादेरपि प्रयोजकत्वापत्तिरित्यतः यत्नज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वं निराकृतम्। तत्र पुनः मीमांसकः यत्नस्य आख्यातार्थत्वमसहमानः पूर्वोक्त-दोषाभावम् अभिप्रेत्य पुनरपि यत्न-ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वमाशङ्कते—ननु यत्न-ज्ञानमेव प्रवर्त्तकमित्यादिना। आख्यात-सामान्यस्य यत्न-वाचकत्वं निराकुरुते मीमांसकः—आख्यातान्तरं च नेत्यादिना। अयमर्थः भट्टानुयायिनाम्—आख्यात-सामान्यस्य करोतेश्च न यत्न-वाचकत्वम्, रथो गच्छति जानाति, यतते, निद्राति इत्यादौ अचेतनेऽपि आख्यात-प्रयोगात्, करोतिना (गमनं करोति) तत्राख्यातस्य विवरणाच्च। अतः रथो गच्छति इत्यादौ आख्यातस्य करोतेश्च व्यापारवाचकत्वे सिद्धे चेतनेऽपि तयोः व्यापार-वाचकत्वमेव। न च चेतने आख्यातस्य कृञश्च यत्नार्थकत्वम् शक्त्या, अचेतने च लक्षणया व्यापार-

साधनता-ज्ञान से सङ्कीर्ण फलेच्छा-ज्ञान को चिकीर्षोत्पादन द्वारा प्रवृत्ति-प्रयोजक मानने में गौरव होगा। और भी, इष्ट-साधनता-ज्ञान होने के बाद फलेच्छा-ज्ञान के अभाव में भी प्रवृत्ति देखी जाती है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि फलेच्छा-ज्ञान प्रवृत्ति-प्रयोजक नहीं है। अतः इच्छा-ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति में तथा लिङ् से इच्छा-ज्ञान की उत्पत्ति में भी प्रमाण के अभाव तथा उपर्युक्त अनुपपत्तियों से इच्छा को प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषय मानना उचित नहीं है ॥८॥

पुनः मीमांसकों का प्रश्न है :—यत्न का ज्ञान ही चिकीर्षा के द्वारा प्रवर्त्तक होता है, और गच्छति आदि से प्रवृत्ति इसी लिए नहीं होती है कि

वाचकम्, अनुकूल-व्यापार-मात्रे एव आख्यात-शक्तेः, रथो गच्छतीत्यादौ तथा कल्पनात्। तत्राह—

कृताऽकृत-विभागेन कर्तृ-रूप-व्यवस्थया।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥ ९ ॥

मात्रार्थकत्वं युक्तम्, मुख्ये बाधकाभावात्। अत एव प्रश्नोत्तरयोः न यत्नार्थकत्वम्, किन्तु कृञः क्रिया-मात्र-वाचित्वमेव। तेन 'किं करोति' इति क्रिया-मात्र-प्रश्ने पचति इत्याद्युत्तरमपि सङ्गच्छते। किञ्च आख्यातस्य करोतेश्च यत्नार्थकत्वे पाकाय यतते, पाकं करोति इत्यादौ यत्न-द्वयस्य यत्न-विषयक-यत्नस्य वा प्रतीतेः प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः साम्यादन्वयानुपपत्तेः, पौनरुक्त्यात् एकत्रैव विध्यनु-वाद-दोषाच्च। तस्मात् चेतनाऽचेतनयोः धात्वर्थानुकूल-व्यापारस्य सत्त्वात् स एव आख्यात-वाच्यः। एवम् अचेतनेऽपि करोतिना आख्यातस्य विवरणात् करोत्यर्थोऽपि व्यापार-विशेष एव। तदेतदाह वृत्तिकारः—अनुकूल-व्यापार-मात्रे एवाख्यातशक्तेः इति। धात्वर्थानुकूल-व्यापार-मात्रे इत्यर्थः। मूले यत्न एव कृतिरित्यादि। यत्न एव करोतेरर्थः। परन्तु आख्यातार्थः न यत्न-सामान्यम् (कृति-सामान्यम्) अपि तु (कृति-विशेषः) यत्न-विशेष एवेत्याह—पूर्वा-परस्मिन् सैव भावनेति। परस्मिन् = उत्तर-काल-भाविनि फले, पूर्वा = साधनीभूता, सैव = कृतिरेव, भावना = आख्यातार्थः इति। तथा च कृञर्थस्य आख्यातार्थस्य च न समानत्वम् कृति-सामान्यस्य कृञर्थ-त्वात् फलाऽनुकूलत्व-विशिष्टस्य कृति-विशेषस्य च आख्यातार्थत्वात् इति भावः।

कृ-धातोः यत्नार्थत्वं प्रसाधयति—घटः कृत इत्यादि-ग्रन्थेन। अत्र यत्न-पूर्वकत्व-प्रतिसन्धानवताम् घटादौ 'कृतः' इति व्यवहारात् हेतु-

विध्यर्थक आख्यात से अतिरिक्त आख्यात का अर्थ यत्न नहीं होता है, अपितु धात्वर्थानुकूल-व्यापार ही आख्यात-सामान्य का अर्थ होता है। अत एव 'रथो गच्छति' इत्यादि स्थलों में व्यापार-मात्र आख्यातार्थ होता है। इसलिए पूर्वोक्त 'अप्रवृत्तेः' दोष के अभाव में यत्न को प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषय मानना दोष-ग्रस्त नहीं है। इसके उत्तर में कह रहे हैं:—

[यत्न-पूर्वकत्व-ज्ञान के बाद 'कृत' इसके प्रयोग से तथा यत्न-पूर्वकत्व-ज्ञान के अभाव में 'कृतः' इसके प्रयोग न होने से यह सिद्ध हो जाता है कि

'घटः कृतः' 'अङ्कुरो न कृतः' इति व्यवहारात् कुलालादिः कर्त्ता न कारकान्तरम् इति कृञ्-धात्वर्थः कृतिः। ननु यत्न-पर्यायता स्यादतः आह—पूर्वेति। परस्मिन् उत्तर-कालभाविनि फले विद्यमाने, सैव=कृतिरेव, पूर्वा साधनीभूता भावना, फलानुकूलतापन्न-यत्न एव आख्यामात्र-प्रतिसन्धानेऽपि यत्न-पूर्वकत्व-प्रतिसन्धान-रहितानाम् अङ्कुरादौ 'कृत' इति व्यवहाराऽभावात् इत्यर्थो बोध्यः। तदेवं यत्न एव कर्तृत्व-प्रयोजकः इत्यवस्थिते यत्नवान् एव हेतुः कर्त्ता न तद्रहित इत्याह—कुलालादिः इत्यादिना। कारकान्तरम्=बीजादिः। अतः यत्नापरपर्याया कृतिरेव कृञ्-धात्वर्थः इत्याह—कृञ्-धात्वर्थः कृतिः इति। कृत्यर्थकेन करोतिना च सर्वस्य आख्यातस्य विवरणात् (गच्छति= गमनं करोतीत्यादि) आख्यातस्य यत्नार्थकत्वम्। यत्न-पद-पर्यायतेत्यनन्तरम आख्यातस्येति पूरणीयम्। फलानुकूलतापन्नेति—तथा च न यत्न-पद-पर्यायतापत्तिः कृञ्-धात्वर्थ-पर्यायताऽऽपत्तिर्वा आख्यातस्य कृञर्थस्य यत्नत्वावच्छिन्न-यत्न-रूपत्वात् आख्यातार्थस्य च फलानुकूलतापन्नयत्नत्वावच्छिन्नत्वादिति शक्यतावच्छेदक-भेदादिति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—पाकानुकूल-कृतेः वर्त्तमानतायाम् 'पचतीति' प्रयोगः, तादृश-कृतेः प्रागभाव-काले 'पक्ष्यति' इति, ध्वंसे च तस्याः 'अपाक्षीत्' इति भूत-प्रयोगः सर्वानुभव-सिद्धः। तत्र पाकानुकूल-व्यापारस्य फूत्कारत्वादि-रूपेणानेकत्वात् तत्तदनुकूल-कृतीनामपि नानात्वम्। तत्र कृतेः शक्यत्वे पाक-विषयक-कृति-निचयानामाद्यन्ते त्यक्त्वा यस्याः कस्या अपि कृतेः वर्तमानतायाम् पचतीति, आगामिन्याश्च प्रागभावात् पक्ष्यतीति, अतीतायाश्च ध्वंसात् अपाक्षीत् इति प्रयोगो युगपदेव प्रसज्येतेत्यतः पूर्वाऽपरीभावापन्नस्य कृति-समूहस्य आख्यातवाच्यत्वमभ्युपेयमित्यभिप्रेत्य कल्पान्तरमाह—यद्वेति। तथा च नोक्त-दोषः। तावतः कृति-समूहस्य एकैकाऽपि कृतिः वर्त्त-

कृतिमान् ही कर्त्ता होता है अन्य नहीं। इसलिए यत्न ही आख्यातार्थ है, अन्य कुछ तत्त्व नहीं और वह यत्न भी फलानुकूलत्व-विशिष्ट ही आख्यातार्थ होता है केवल यत्न नहीं ॥ ९ ॥]

यत्न-पूर्वकत्व-ज्ञान होने पर "कुम्भकारेण घटः कृतः" इस प्रयोग से और यत्न-पूर्वकत्व-ज्ञानाभाव में "बीजेन अङ्कुरः न कृतः" इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि यत्नवान् कुम्भकारादि ही कर्त्ता होता है यत्न-शून्य बीजादि पदार्थ

तार्थः। यद्वा फलानुकूल-व्यापार-धात्वर्थ-प्रचय-जनिका, पूर्वापरस्मिन् = पूर्वापरीभूतत्वे सति, कृति आख्यातार्थः। तथा च प्रयत्नवत्त्वम्, अनुमानत्व-व्यवहार-निमित्तम्, तथैव व्यवहारात्। तत्तत्कृति-समूहस्य प्रागभावः धात्वर्थानुकूलकृतः भविष्यत्त्वव्यवहारे तत्तत्कृति-समूहस्य ध्वंसः कृतेः अतीतत्व व्यवहारे निमित्तत्वम् इति न युगपत् पचति, पक्ष्यति, अपाक्षीदिति त्रयाणामप्रयोगस्य प्रसक्तिरिति। तदाहुः मणिकृतः—"यत्राख्यात-वाच्ये (यत्न) प्रचये एकैकस्य वर्त्तमान-व्यवहार-निमित्तत्वम् तत्र तावतां ध्वंसैः प्रागभावैश्च भूत-भविष्यद्व्यवहारः, न तु वर्त्तमान-व्यवहार-निमित्त-किञ्चिदभावात्, चेतनाऽचेतनयोः भोजन-गमनादौ तथैव प्रयोगात्, प्रयोगे सति निमित्तानुसरणात्। धातोः आख्यातस्य वा पाकानुकूल - व्यापार-वाचकत्व-वादिभिः अपि अनन्य-गतिकतया तथैव स्वीकाराच्च" इति। केचित्तु प्रागभाव-प्रध्वंसयोः कृति-विशेष-प्रतियोगित्वेन तावतां ध्वंसैः प्रागभावैश्चेति मणिकारोक्तमयुक्तम्, तस्मात् आद्य-कृतेः प्रागभावस्यैव भविष्यत्त्व-व्यवहारे अन्त्य-कृतेश्च ध्वंसस्य अतीतत्व-व्यवहारे प्रयोजकत्वं लाघवादिति वदन्ति, तच्चिन्त्यम्, युगपदनेक-प्रतियोगिकाभावस्य सत्त्वे बाधकाभावात् तद्धात्वर्थानुकूल-प्रथम-कृतित्वस्य तद्धात्वर्थानुकूलान्त्यकृतित्वस्य च प्रतियोगितावच्छेदकत्वापेक्षया तद्धात्वर्थाऽनुकूल-कृतित्वस्य तथात्वे एव लाघवाच्चेति ध्येयम्। अर्थः = आख्यातार्थः। अत एव रथो गच्छतीत्यादौ धात्वर्थस्य फलानुकूलता-मात्रे शक्यैकदेशे आख्यातस्य लक्षणेत्यभिप्रायेण "तथा च समुदिते प्रवृत्तं पदम् तदेकदेशेऽपि प्रयुज्यते" इत्याचार्याः। पृथक्-शक्ति-कल्पनं च एक-गुरुधर्मापेक्षया अनेक-लघु-धर्माणामवच्छेदकत्वे लाघवमित्यभिप्रेत्य। विशिष्टार्थ-प्रतीतिस्तु अन्वयबलात् इति। न चाख्यातस्य सर्वत्र मुख्यत्वोपपत्तये रथो

नहीं। अतः कृ धातु का अर्थ यत्न है और कृ धातु से सभी आख्यातों के विवरण से कृधात्वर्थ यत्न ही आख्यात-सामान्य का अर्थ सिद्ध होता है। "तो क्या यत्न का पर्याय है आख्यात ?" इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :— 'पूर्वा' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि 'परस्मिन्' अर्थात् उत्तर काल में होने वाले फल के लिए, 'पूर्वा' अर्थात् साधन-स्थानीय, 'सैव' अर्थात् कृति ही, भावना है। स्पष्ट शब्द में यह कहा जा सकता है कि फलोत्पादनानुकूल यत्न आख्यातार्थ है, केवल यत्न नहीं।

कूलत्वम्, पूर्वापरीभूतत्वम् इति त्रयम् अर्थः ॥ ९ ॥

ननु धातुना यत्नः प्रतीयते, आख्यातस्य च अनुकूल-व्यापार-मात्रार्थकत्वम्, आक्षेपादेव च यत्न-लाभः इत्यत आह—

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः ।
तया विवरण-ध्रौव्यात्, आक्षेपानुपपत्तितः ॥ १० ॥

गच्छतीत्यादौ न लक्षणया बोध उचितः, तथा हि सति वृत्त्यन्तरोच्छेदापत्तेः इत्यादि अन्यतः अवसेयमित्यलम् ॥ ९ ॥

पुनरपि मीमांसकः आख्यातस्य यत्नार्थकत्वमाक्षिपति—ननु धातुनेत्यादिना । धातुना = कृञ्-धातुना । व्यापार-मात्रार्थकत्वम् इति—रथो गच्छतीत्यादावपि आख्यातस्य मुख्यार्थकत्वे बाधकाभावात् इति भावः । नन्वेवं चैत्रः पचतीत्यादौ पाकानुकूल-यत्नानुभवः कथम्, यत्नस्य त्वन्मते अपदार्थत्वादित्यत आह—आक्षेपादिति । आक्षेपः = अनुमानम् । धात्वर्थ-विशेष-पाकादिना यत्नाक्षेपात्, यत्नं विना तस्य अनुपपत्तेः इति भावः । अनुमान-प्रयोगश्च—"चैत्रः पाकानुकूल-कृतिमान् पाकानुकूल-व्यापारवत्त्वात्" इति । तथा च न आख्यातस्य यत्नार्थकत्वम् इत्यत्र समाधानम् अवतारयति—अत आहेति । सर्वाख्यातस्य गोचरः = आख्यात-सामान्य-जन्य-ज्ञान-विषयः, आख्यात-सामान्यार्थ इति तात्पर्यम् । तत्र हेतुमाह—तया विवरण-ध्रौव्यात् इति । यत्न-वाचक-पदेन सर्वत्र आख्यातस्य (गच्छति = गमनं करोति, पचति = पाकं करोति) व्याख्यानादवसीयते यत्न एव आख्यात-सामान्यार्थ इति भावः । असति बाधके वृद्ध-व्यवहारादिवत विवरणस्यापि शक्ति-परिमापकत्वम् । द्वन्द्वादि-समासस्य विग्रहेण विवरणेऽपि विग्रहार्थे न शक्तिः, अन्य-लभ्यत्वात् । किं करोतीति यत्न-विषयके प्रश्ने पचति इत्युत्तरस्यापि यत्नार्थकत्वं विनाऽनुपपत्तेः । तदेतत्संक्षिप्याचष्टे—तया = कृत्या इत्यादिना । तत्र = कृतौ । शक्तिः आख्यातसामान्यस्येति शेषः ।

यदुक्तमाक्षेपादेव चैत्रः पचतीत्यादौ यत्न-लाभ इति तत्राह—

अथवा, फलानुकूल व्यापार-प्रचय को उत्पन्न करने वाला 'पूर्वाऽपरस्मिन्' अर्थात् पौर्वापर्य-क्रमागत कृति-समूह ही आख्यातार्थ है । एवञ्च प्रयत्न, अनुकूलत्व तथा पूर्वाऽपरीभूतत्व—ये तीन आख्यात के अर्थ होते हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

यत्न को कृञ् धातु का अर्थ माना जा सकता है, परन्तु आख्यातार्थ नहीं, क्योंकि अनुकूल-व्यापार से ही यत्न के आक्षिप्त हो जाने के कारण अन्य-लभ्य

तया = कृत्या, तद्वाचक-पदेन, पचति = पाकं करोति इति विवरणात् तत्र शक्तिः ।

अनुकूल-व्यापारस्य यत्नाऽनाक्षेपकत्वात्, वर्त्तमान-पाकानुकूल-व्यापा-यत्नाऽनाक्षेपकत्वादिति । पाकानुकूल-व्यापारस्य काष्ठादावचेतनेऽपि स्वीकृतत्वेन तत्र च कृत्यभावेन पाकानुकूल-व्यापारस्य तदनुकूल-कृत्यनुमाने अनैकान्तिकत्वमित्याह—'वर्त्तमान-पाकानुकूल-व्यापारस्याचेतनेऽपि भावात्' इति ।

ननु आख्यातस्य व्यापारार्थकत्वे ओदनमित्यादि-कर्म-पदस्य पर-समवेत-व्यापार-जन्य-फलाश्रयत्वेन व्यापार-सामान्योपस्थापकतया व्यापार-विशेष-जिज्ञासायाः 'पचति भुंक्ते वा ?' इत्याकारिकायाः उप-पत्तिरपि जायते, यत्न-वाचकत्वे चाख्यातस्य अभिमते ओदनमिति कर्म-पदस्य यत्न-सामान्यानुपस्थापकत्वेन 'पचति-भुंक्ते वा ?' इत्या-कारिकायाः यत्न-विशेष-जिज्ञासायाः कथमुपपत्तिः, विशेष-जिज्ञासायाः नियमतः सामान्य-ज्ञान-पूर्वकत्वादित्यत्र समाधानमाह—ओदनम् इत्यादिना । कर्मणः कृति-व्याप्यत्वेति—यत्र-यत्र कर्मत्वम् तत्र-तत्र विषय-तया कृत्याश्रयत्वस्यावश्यम्भावात् कर्म-पद-श्रवणानन्तरम् तव्द्यापकस्य कृति-सामान्यस्योपस्थितेः 'पचति भुङ्क्ते वा ?' इत्याकारिका कृति-विशेष-जिज्ञासा नानुपपन्नेति भावः । अत्रैव दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा पचतीत्यनेन कर्म-व्यापकीभूत-कृति-विशेषोपस्थित्यनन्तरम् 'ओदनम् सूपं वा ?' इति कर्म-विशेष-जिज्ञासा सूपपादा तथैव ओदन-मित्यनेन उपात्तस्य कर्मणः कृति-व्याप्यत्व-प्रतिसन्धानेन तत्र कृति-सामान्योपस्थितौ पश्चात् कृति-विशेष-विषया जिज्ञासा जायते इति तात्पर्यम् । ततश्च नैतदपि आख्यातस्य यत्नार्थकत्वे बाधकम् । तथा चायम्प्रयोगः—'लडाद्याख्यातं यत्न-वाचकम्, आख्यातत्वात् लिङा-दिवत्' इति । युक्तिश्च विवृता एव ॥१०॥

यत्न को आख्यातार्थ मानना उचित नहीं होगा । अतः अनुकूल-व्यापार ही आख्यात-सामान्य का अर्थ है—यह मीमांसकों का पूर्व-पक्ष है । अतः इस पूर्व-पक्ष के समाधान में कह रहे हैं :—

[यत्नात्मक भावना ही सभी आख्यातों का अर्थ है, क्योंकि यत्नार्थक कृञ्‌धातु से ही आख्यात की व्याख्या सर्वत्र होती है । इस यत्न को आक्षेपलभ्य तो मानना उचित नहीं है, क्योंकि अनुकूल-व्यापार तथा यत्न में नियत-साहचर्य नहीं है ॥ १० ॥]

रस्य अचेतनेऽपि भावात् ।

'ओदनम्' इति कर्म-पदोत्तरम् 'पचति भुङ्क्ते वा ?' इति जिज्ञासा

अत्र वैयाकरणाचार्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते—यदि विवरणादेव कृत्यर्थक-करोतिना आख्यातस्य कृत्यर्थकत्वम् तर्हि विवरणादेव कृत्याश्रयस्य कर्त्तुः अपि आख्यात-वाच्यत्वमागतमेव। न हि पचतीत्यस्य पाकानुकूल-कृतिः इत्येव विवरणम्, अपि तु पाकानुकूल-कृतिमान् इत्येव। तत्र च कृतिमत्त्वं समवायेन कर्त्तरि इति सोऽपि आख्यातवाच्य इत्याह—ननु कर्त्तुरपीत्यादिना। अत्रोत्तरमवतारयति—तत्राहेति। आक्षेपलभ्य इत्यस्य मूलस्यायमर्थः-संख्येये कर्त्तरि कर्मणि वा आक्षेप-लभ्ये सति तत्र आख्यातस्य यदभिधानं-शक्तिः तस्याः कल्पना नोचिता, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। संख्यायाः संख्येय-मात्राक्षेपित्वेऽपि साकांक्षेण = भावनान्वयिना एव, व्यवस्थितिः = संख्याऽन्वय-नियमः। तथा च कर्तृ-विवक्षिताख्यातोपस्थाप्य-संख्यायाः कर्त्तरि कर्म-विवक्षिताख्यातोपस्थाप्यसंख्यायाश्च कर्मणि अन्वयः इति नानुपपत्तिः इति।

'कर्त्तरि' इत्युपलक्षणम् कर्मणश्चापि चैत्रेण पच्यते तण्डुल इत्यादौ। आक्षेप-लभ्यत्वं च न संख्या-लिङ्गकानुमिति-विषयत्वम्, अनुमित्या संख्येय-मात्रगतत्वेन संख्या-प्रतीतेः विशेषानिर्णयात्, शब्दोपस्थापित-संख्यायाः शब्दोपस्थापितेन पदार्थेनैवान्वयस्योचितत्वाच्चेत्यतः आक्षेप-लभ्यत्वम् परिष्करोति—प्रथमान्तेत्यादिना। तवाहुर्मणिकृतः—"इदमेव च कर्त्तुः कर्मणश्चाक्षेप-लभ्यत्वम् यत् भावना-विशेष्यत्वे सति प्रथमान्त-पदोपस्थाप्यत्वम्, न तु संख्या-लिङ्गकानुमिति-विषयत्वम्, अनुमित्या संख्येय-मात्र-गतत्वेन संख्या-प्रतीतेः" इति। प्रथमान्त-पदोपस्थाप्यत्व-मात्रस्य आक्षेप-लभ्य-पदार्थत्वे दोषमाह—मुक्त्वेत्यादा-

'तया', अर्थात् कृति यानी कृति-वाचक पद के द्वारा। तात्पर्य यह है कि 'पचति' का जब विवरण किया जाता है तो यही कहा जाता है 'पाकं करोति' इससे सिद्ध होता है कि आख्यात (तिङ्) का व्याख्यान यत्नार्थक कृ-धातु से होता है, अतः फलानुकूल यत्न को ही आख्यातार्थ मानना चाहिए।

यतः वर्तमान-पाकानुकूल व्यापार का आश्रय अचेतन काष्ठादि पदार्थ माने जाते हैं, अतः अनुकूल व्यापार का यत्न के साथ साहचर्य नियत है और इसी

च कर्मणः कृति-व्याप्यत्व-प्रतिसन्धानेन यथा पचतीत्यनन्तरं कर्मादौ

विति। "क्त्वा-तोसुन्-कसुनः" इति पाणिनीयानुशासनात् 'मुक्त्वा' इत्यव्यय-पदम् प्रथमान्तम् इति स्थितिः। तत्र मोचनानन्तर्यं हि मुक्त्वेत्यस्यार्थः, स च प्रथमान्त-पदोपस्थाप्यः इति तत्रापि आक्षेप-लभ्यत्वं स्यात्। अतः विशेष्य-दलम्—आख्यातार्थ-विशेष्यत्वम् इति। तथा च नातिप्रसङ्गः आनन्तर्यस्य आख्यातार्थ-भावना-विशेष्यत्वाभावात्। यद्यपि अत्र अव्ययस्य संख्यारहितत्वेन संख्यान्वयः अयोग्यत्वादेव वारणीयः सत्यप्याक्षेप-लभ्यत्वे तथापि आनन्तर्यस्य वाच्यत्वेन आक्षेपलभ्यत्वं मा भूदित्यत एवम् उक्तम्। यदि तु संख्यान्वय-प्रसक्त्यनुरूपम् एव उदाहरणम् इत्याग्रहः तदा चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र प्रथमान्त-पदोपस्थाप्येपि इवार्थ-सादृश्य-विशेषणीभूते चैत्रे आख्यातार्थ-संख्यान्वयवारणाय विशेष्य-दलम् इति बोध्यम्।

स्वापस्य धात्वर्थस्येति भावः। सति च विशेषणोपादाने स्वापः तिङन्तपदोपस्थाप्यः न तु प्रथमान्त-पदोपस्थाप्य इति न तत्र आक्षेप-लभ्यत्व-लक्षणातिप्रसक्तिरित्यर्थः। वर्त्तमानत्व-विशेष्यत्वम् इति—वर्त्तमानत्वं च आख्यातार्थः। तदाहुः तर्कालङ्काराः—"आख्यात-सामान्यस्य वर्त्तमानत्वमर्थः" इति। अत्रत्य-शास्त्रार्थः शब्द-शक्ति-प्रकाशिकायामेव द्रष्टव्यः। ततश्च वर्त्तमानत्वस्याख्यातार्थत्वेन तद्विशेष्ये स्वापे आक्षेपलभ्यत्व-लक्षणस्थ-विशेष्य-दल-समन्वयो युक्तः एवेति बध्यम्। ननु संख्यायाः संख्येय-मात्र-साकाङ्क्षत्वात् कथं तस्याः आक्षेप-लभ्ये कर्त्तर्येव कर्मण्येव वा अन्वयनियम इत्यत आह—चैत्रः तण्डुलं पचत.त्यादि। कर्मताऽवरुद्धत्वात् = कर्मत्व-विशेषणत्व-तात्पर्य-विषयत्वात् इत्यर्थः। शुद्धेति—शुद्धत्वं च निर्व्यापारत्वम्। प्रातिपदिकार्थान्वयिनीति—तथा च भावनाऽपि आख्यात-वाच्या पूर्वोक्ताक्षेप-लभ्ये एवान्वेति, संख्या च तेनैवाख्यातेन अभिहितत्वात् भावनान्वयिनैव अन्वेतीत्याह–

लिए अनुकूल-व्यापार के द्वारा यत्न को आक्षिप्त मान कर यत्न में अन्य-लभ्यत्व और इसके आधार पर यत्न के आख्यातार्थत्व का अभाव भी नहीं माना जा सकता।

"ओदनम्" इस द्वितीयान्त कर्म कारक के श्रवण के बाद 'पचति ?' अथवा 'भुंक्ते ?' इस प्रकार की कृति-विशेष-विषयिणी जिज्ञासा तो कर्म के कृति-व्याप्यत्व

जिज्ञासा ॥ १० ॥

अत एवेत्यादिना । संख्याऽपीति । इदमत्र सारम्—संख्येय-मात्र-साकांक्षा अपि संख्या भावनान्वयिनैव अन्वेति, उभयोरपि आख्यातवाच्यत्वात्। (भावना च कृतिरेवात्र विवक्षिता) भावना च निर्व्यापारत्वेन शुद्धं प्रातिपदिकार्थं प्रथमा-निर्दिष्टम् आकांक्षति, प्रातिपदिकस्यापि क्रियान्वयार्थम् व्यापारात्मक-भावनाऽऽकांक्षितत्वात्। सेयं भावना व्यापारि-सामान्याकांक्षायुक्ताऽपि न कर्म-करणादि आकांक्षति, द्वितीयादिना तस्य कर्मादेः सव्यापारत्वेनोपस्थितेः भावना-निराकांक्षत्वात्। शुद्धः प्रातिपदिकार्थश्च अग्निना चैत्रः तण्डुलं पचतीत्यत्र तण्डुलस्य कर्मत्वेन अन्वयात् तण्डुल-वृत्ति-फल-जनक-व्यापार-जनक-यत्नाश्रयः चैत्र इति प्रतीतेः चैत्र एवेति तत्रैव भावनान्वयः। चैत्रेण पच्यते तण्डुल इत्यत्र चैत्र-वृत्ति-यत्न-जन्य-व्यापार-जन्य-फलाश्रयः तण्डुलः प्रतीयते इति तण्डुल एव शुद्धः तत्रैव च भावनान्वयः। तथा च समान-पदोपात्त-प्रत्त्यासत्त्या भावनाविशेष्ये एव संख्यान्वयः। एवञ्च उक्तोभय-वाक्ये यद्यपि चैत्र एव कर्त्ता तण्डुल एव च कर्म, तथाऽपि यथाक्रमं चैत्रस्य तण्डुलस्य च भावना-विशेष्यत्वात् तत्र तत्र संख्यान्वयो भवति। वस्तुतस्तु संख्यान्वये भावना-विशेष्यत्वं न प्रयोजकम् किन्तु आख्यात-तात्पर्य-विषय-विशेष्यत्वमेव। अत एव अचेतने रथो गच्छति ग्रामम् इत्यत्र आख्यात-तात्पर्य-विषयस्य ग्राम-वृत्ति-फल-जनक-व्यापारस्य आश्रयत्वेन विशेष्ये रथे संख्यान्वयः। यदि तु भावना-पदमेव आख्यात-तात्पर्य-विषयीभूतार्थ-वाचकम् तदा तु पूर्वोक्तेनाऽपि निर्वाहः सम्भवति। चैत्रेण सुप्यते इत्यत्र तु चैत्रो न भावना-विशेष्यः, तृतीयार्थाऽवरुद्धत्वात्। कर्म च तत्र नास्त्येव, स्वपेरकर्मकत्वात्। अतः धात्वर्थे स्वापे एव भावना-विशेष्यत्वम् फलत्वात् विषयत्वाद्वेति स्वापे एव संख्यान्वयोऽपि। तत्र च धात्वर्थस्य स्वापस्य एकत्वात् एकवचनमेव। तस्मात् कर्त्तुः कर्मणश्च आक्षेप-लभ्यत्वात् भावनान्वयित्वेन तत्र तत्र संख्यान्वय-

के ज्ञान से, कृति-वाचक 'पचति' आदि पद श्रवण के बाद 'किम् ओदनम् व्यञ्जनम्वा ?' इस प्रकार की जिज्ञासा के समान, उपपन्न हो जाती है। अतः कृति में आख्यातार्थत्व निर्दुष्ट है ॥ १० ॥

ननु कर्त्तुरपि विवरणात् तत्रापि शक्तिः आख्यातस्य स्यात्? तत्राह—

आक्षेप-लभ्ये संख्येये नाऽभिधानस्य कल्पना।
संख्येय-मात्र-लाभे[1] तु साकांक्षेण व्यवस्थितिः ॥ ११ ॥

स्यापि उपपत्तौ न ते लकार-वाच्ये, व्यापारस्य तथात्वं तु पूर्वमेव निराकृतमिति सिद्धं कृत्यपरपर्याय-यत्नस्य आख्यात-वाच्यत्वम् इति यत्न-ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वे ग्रामं गच्छतीत्यतोऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः न यत्नः प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषय इति न तत्र विध्यर्थत्व-सम्भावनापीति।

नन्वेवं कर्तृ-कर्मणोः आख्यात-वाच्यत्वाऽभावे चैत्रेण पचति तण्डुलः, चैत्रः पच्यते ओदनमित्याद्यपि स्यात्, सति तु तयोः आख्यात-वाच्यत्वे अभिहिते कर्त्तरि कर्मणि च अनभिहिताधिकारीया कर्तृ-कर्म-विभक्तिः व्यवस्थितेति तयोराख्यातवाच्यत्वम् आवश्यकमित्याशङ्कायामाह—कर्त्रादि-संख्यानभिधान एव प्रथमेति। तथा च अनभिहिते इत्यत्र कर्त्रादिसंख्याऽनभिधानस्यैव विवक्षितत्वेन न उक्तानुपपत्तिः सत्यपि तयोः आख्यात-वाच्यत्वाऽभावे। तादृश-प्रयोगस्य असाधुत्वाच्च। साधुत्वे हि सत्यनुशासनम्, न तु अनुशासनानुरोधेन साधुत्वम्। अन्यथा ग्राम-गामादेरपि साधुत्वापत्ते-रिति ध्येयम्। न आख्यात-वाच्यत्वमिति—तस्याप्याक्षेप-लभ्यत्वेन अन्यथा-सिद्धत्वादिति भावः॥ ११ ॥

अब वैयाकरणों का मत है कि यदि विवरण के आधार पर ही आख्यात (तिङ्) का अर्थ यत्न माना जाता है तो कर्त्ता को भी आख्यात का अर्थ मानना चाहिए, क्योंकि 'पचति' के विवरण में 'पाकानुकूल-यत्नवान्' कहा जाता है और यत्नवान् तो कर्त्ता हो होता है। इसका खण्डन कर रहे हैं :—

[संख्येय—कर्त्ता तथा कर्म—यतः आक्षेप से ही लभ्य हैं अतः अन्य लभ्य कर्त्ता, कर्म में आख्यात की शक्ति मानना उचित नहीं है। यद्यपि आक्षेप का विषय संख्येय सामान्य हैं तथा भावना के अन्वय के आधार पर संख्येय विशेष की उपस्थिति व्यवस्थित होती है॥ ११ ॥]

---

१. लाभेऽपि इति पाठः क. ग. घ. पुस्तकेषु।

आख्यात-वाच्यया संख्यया आश्रयस्य आक्षेपादेव लाभात् न कर्त्तरि शक्ति-कल्पना।

प्रथमान्त-पदोपस्थाप्यत्वे सति आख्यातार्थ-विशेष्यत्वम् आक्षेप-लभ्यत्वम्। 'मुक्त्वा' इत्यादौ क्त्वान्तार्थानन्तर्य-वारणाय विशेष्यदलम्। सुप्यते इत्यादौ वर्त्तमानत्व-विशेष्यत्वम्, स्वापस्य अपि इति सत्यन्त-

एतावता कर्तृ-धर्माणाम् प्रयत्नेच्छा-स्पन्दानाम् प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वे निराकृते कर्म-धर्मस्य कार्यत्वस्य तथा-त्वमाशङ्कते—ननु इत्यादिना। कर्म-धर्मः = कार्यत्वम्। तथा च कर्म कार्यमिति ज्ञानमेव प्रवृत्ति-कारणं चिकीर्षाद्वारेति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम्।

तत्र कर्म-पदेन फलं स्वर्गादि विवक्षितम्, फल-कारणम् अपूर्वं वा, अपूर्वस्यापि कारणं यागादि-क्रिया वेति विकल्प्य स्वर्गादि-फल-निष्ठ-कार्यत्व-ज्ञानस्य 'स्वर्गादिः कार्य' इत्याकारकस्य प्रवृत्ति-प्रयोज-कत्वे दोषमाह—कर्म स्वर्गादिरित्यादिना। विध्यर्थः प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषय इत्यर्थः। अतिप्रसङ्गं विवृणोति—स्वर्गे कार्यत्व-ज्ञाने इत्यादिना। प्रवृत्त्यापत्तेः इति—स्वर्ग-साधन-मात्रे प्रवृत्ति-नियामकाऽभावात्, फल-निष्ठ-कार्यतायाः साधन-नियामकत्वं च नोपपद्यते इति भावः। साधन-निष्ठ-कार्यता-ज्ञानस्य साधन-मात्र-प्रवृत्ति-नियामकत्वेऽपि यथा न तस्य विध्यर्थत्वम् तथा अनुपदमेव वक्ष्यते।

इदानीं कर्म-शब्दस्य प्राभाकरानुसारेण कर्म-जन्यापूर्वार्थकत्व-मभ्युपगम्य अपूर्व-निष्ठ-कार्यतायाः ज्ञानमेव ('अपूर्वं कार्यम्' इत्या-कारकम्) प्रवर्त्तकम् इत्याह—यदि कर्म-धर्मेत्यादिना। अत्रोत्तरं विवृणोति—शाब्द-बोधात् पूर्वमित्यादिना। अयम् सरलार्थः—स्वर्गादि-निष्ठ-कार्यतायाः लिङर्थत्व-पक्षे स्वर्गादि-फलस्य 'स्वर्ग-कामः' इत्यादि-पदात् अर्थवादान्तराच्च ज्ञाततया न तस्य लिङर्थत्वम्। प्रकृते तु अपूर्वस्य लिङ्-भिन्न-पद-जन्य-बोध-विषयत्वाऽभावेन अपूर्वम् तन्निष्ठं

आख्यातार्थं संख्या के द्वारा संख्याश्रय कर्त्ता (तथा कर्म) के आक्षेप से ही लभ्य हो जाने के कारण कर्त्ता, (तथा कर्म) में आख्यात की शक्ति नहीं मानी जा सकती है।

प्रथमान्त पद के द्वारा वाक्य में उपस्थापित तथा आख्यातार्थ का विशेष्य ही आक्षेप-लभ्य कहलाता है। 'मुक्त्वा' (छोड़कर) इत्यादि शब्दों के द्वारा

दलम्। चैत्रः तण्डुलं पचतीत्यत्र द्वितीयार्थ-कर्मतावरुद्धत्वात् तण्डुलस्य न तत्र भावनाऽऽकांक्षेति भावना शुद्ध-प्रातिपदिकार्थान्वयिनी। अत एव

कार्यत्वं च लिङैव वाच्यम् इति धर्म-विशिष्ट-धर्मि-पर्यन्तं लिङर्थो वाच्यः; (यद्यपि गुरु-मते कार्यत्वं न लिङर्थः अपि तु धर्मिमात्रम्, कार्यत्वं च प्रवृत्ति-निमित्तमात्रम्, तथाऽपि अवच्छेदक-विधया तस्याऽपि तथात्वमुक्तं ध्येयम्।) स च नोपपद्यते, अगृहीतशक्तिकस्य शब्दस्य अर्थ-प्रतिपादकत्वाऽभावात्, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। स चायं शक्ति-ग्रहः सम्बन्ध-ज्ञानात्मकः सन् सम्बन्धिनोः वाच्य-वाचकयोः कार्यत्व-विशिष्टाऽपूर्व-लिङ्-पदयोः पूर्वं ज्ञानाऽभावे नैव सम्भवति, सम्बन्धि-द्वय-ज्ञानाधीनत्वात् सम्बन्ध-ज्ञानस्य। प्रकृते च कार्यत्व-विशिष्टस्य अपूर्वस्य लिङ्-जन्य-ज्ञानात्पूर्वम् नोपस्थितिः सम्भवति। एतदेव हि तन्मते अपूर्वस्य अपूर्वत्वं यत् लिङ्-मात्र-जन्य-बोध-विषयत्वम्। तथा च अपूर्वस्य अपूर्वत्व-निर्वाहाय यदि लिङ्-जन्य-बोधात् पूर्वम् न उपस्थितिः तदा कथम् अज्ञातेऽर्थे लिङः शक्ति-ग्रहः सम्भवति ? इति। तदेतदाह—कथं तत्र शक्तिधीः ? इति। लिङा एव अपूर्व-ग्रहे तु अन्योन्याश्रयः इत्याशयः। अत एव अपूर्वत्वविशिष्टस्यापूर्वस्यापि वाच्यता निराकृता वेदितव्या।

कार्यत्व- विशिष्टे अपूर्वत्व-विशिष्टे वा अपूर्वे वा लिङ्-पदस्य न शक्ति-ग्रह इति प्रतिपादनेन निरस्तः प्राभाकरः कार्यत्व-विशिष्टे कार्ये एव लिङः शक्ति-ग्रहोऽस्तु इति प्रतिपादयति—ननु कार्यत्वेन रूपेण शक्ति-

उपस्थापित 'मन्त्रचनानन्तर्य' (जो 'भुक्त्वा' के अव्यय होने के कारण प्रथमान्त-पदोपस्थाप्य है) में आक्षेपलभ्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिए आक्षेप-लभ्यत्व के लक्षण में "आख्यार्थ का जो विशेष्य हो" इस विशेष्यांश का समावेश किया गया है। 'सुप्यते' इत्यादि भाव-प्रत्ययान्त पदों के द्वारा आख्यातार्थ—वर्तमानत्व—के विशेष्य के रूप में उपस्थापित 'स्वाप' आदि पदार्थों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए इस लक्षण में "प्रथमान्त पद के द्वारा उपस्थापित" यह विशेषणांश सार्थक है। यद्यपि "चैत्रः तण्डुलं पचति" यहाँ आख्यातार्थ संख्या के द्वारा तण्डुल भी सामान्यतः आक्षिप्त है तथापि द्वितीयार्थ कर्मत्व के विशेषणत्व से युक्त, अत एव इतर-विशेषणत्व से रहित अथवा निर्व्यापार पदार्थ से अन्वित होने वाली भावना से अनन्वित, तण्डुल में संख्या का अन्वय नहीं होता है, अपितु चैत्र में ही।

यं यं भावना अन्वेति तं तं संख्याऽपीति, एक-पदोपात्त-भावनान्वय-बलात् ।

कर्त्रादि-संख्याऽभिधान एव प्रथमेति। एवं कर्मापि न आख्यात-वाच्यम् ॥ ११ ॥

धीः इत्यादिना । रूपेण इत्यतः परं कार्ये इति शेषः । नन्वेवं कार्यस्यैव लिङर्थत्वे अपूर्व-प्रतीतिः कथं स्यात् इत्यत्राह—शाब्द-बोधे तु इत्यादि । योग्यतयेति । अयमाशयः प्राभाकर-वृद्धानाम्—वैदिक-लिङर्थः कार्य-विशेषः । स च अपूर्वम् नियोगः इत्यप्यभिधीयते । यथाहुः पञ्चिका-कृतः—

"क्रियादि-भिन्नं यत्कार्यं ज्ञेयं मानान्तरैर्न तत् ।
अतो मानान्तराऽपूर्वमपूर्वमिति गीयते ॥
कार्यत्वेन नियोज्यश्च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ ।
नियोग इति मीमांसा-निष्णातैरभिधीयते ॥" इति ।

तत्र कार्येऽर्थे लिङः व्युत्पत्तिः लोकत एवावगम्यते । तथा च वाक्यार्थाधिकरणे गुरवः—"न अनन्विताऽभिधायी शब्दः उक्तो भविष्यति । ततश्च कार्याभिधायिता लोके नियोगस्यावगता" इति । अस्यार्थस्तु—आचार्येण समिधमाहर इति उक्तः देवदत्तः यदा समिदाहरणे प्रवर्त्तते तदा व्युत्पित्समानस्य बालस्य अनुमिति-द्वयम् भवति :—(क) देवदत्तस्य प्रवृत्तिः बुद्धि-पूर्विका स्वतन्त्र-प्रवृत्तित्वात् मदीय-स्वतन्त्र-प्रवृत्तिवत् इति, ततश्च (ख) देवदत्तस्य प्रवृत्ति-प्रयोजिका बुद्धिः प्रवृत्ति-प्रयोजक-मदीय-बुद्धि-विषय-विषया प्रवृत्ति-प्रयोजक-बुद्धित्वात् मदीय-प्रवृत्ति-प्रयोजक-बुद्धिवत् इति । ततश्च स्वीय-प्रवृत्ति-प्रयोजकीभूत-बुद्धि-विषयं विमृशति—अहं हि न क्रिया-मात्रावगमात् प्रवृत्तः, नाऽपि फलमात्रम् अवगत्य, नाऽपि क्रिया-

इसी दृष्टि से एक ही आख्यात से उपात्त होने के कारण भावना तथा संख्या का एक ही पदार्थ में अन्वय होने की युक्ति से यह कहा जाता है कि जिसमें भावना का अन्वय होता है उसी में संख्या भी अन्वित होती है ।

प्रथमा-विभक्ति का विधान तभी होता है जब कर्त्ता की संख्या आख्यात से प्रतिपादित होती है । कर्त्ता की तरह ही कर्म भी आक्षेप-लभ्य है, न कि आख्यात का वाच्यार्थ ॥११॥

ननु अस्तु कर्म-धर्मो विधिः ? तत्राह—

अतिप्रसङ्गान्न फलं नाऽपूर्वं तत्त्व-हानितः।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः ॥ १२ ॥

फलयोः साध्य-साधनभावम्, अपि तु ममेदं कार्यमिति प्रतीत्य प्रवृत्तोऽहम् इति। प्रवर्त्तक-पुरुषाभिप्रायस्य यद्यपि प्रवृत्ति-प्रयोजक-बुद्धि-विषयत्व-सम्भावना, तथाऽपि स्वतन्त्र-प्रवृत्तौ तस्यासम्भवान्न प्रवर्त्तक-बुद्धि-विषयता सम्भवति। तदेवं फल-साधनाद्यतिरिक्त-कार्यता-बोधान्मम प्रवृत्तिरिति देवदत्तस्याऽपि कार्यावगमादेव प्रवृत्तिः। तदवगमश्च मम यद्यपि मानान्तरेणैव, तथापि देवदत्तस्य शब्द-श्रवणानन्तरं जायमानः स शब्द-निबन्धन एवेति शब्दस्य प्रवृत्ति-हेतु-भूत-कार्याऽवबोधकतामवधारयति। तत्रापि आवापोद्वापाभ्यां सोऽर्थः लिङ एव प्रतिपाद्य इति निर्णयः। तदाहुः—

"शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्ते यथैव हि।
आवापोद्वाप-भेदेन तथा कार्ये लिङादयः॥" इति।

यद्यपि प्रैषादिरपि लिङर्थतया प्रतीयते तथाऽपि न ते शब्दार्थाः अपि तु उपाधय एव ते। अत एव "उपाधयो हि ते, न शब्दार्थाः,··· ···उपाधयो हि तटस्थाः प्रयोग-दर्शन-मात्रात् शब्दार्थं विशेषेऽवस्थापयन्ति,·······असौ नियोगः सम-हीन-ज्यायोभिः प्रयुज्यमानः प्रेषणादि-व्यपदेशं लभते, प्रवर्त्तकत्वं तु शब्दार्थः, सर्वत्र अपरि-

अच्छा तो कर्म के धर्म—कार्यत्व—को ही विध्यर्थ मान लिया जाय ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं :—

[कर्म—स्वर्गादि—के धर्म कार्यत्व को विध्यर्थ मानने पर स्वर्गादि के असाधन यज्ञादि-भिन्न कार्य में भी प्रवृत्ति होने लग जाएगी। अतः स्वर्गादि का धर्म कार्यत्व विध्यर्थ नहीं है। यदि कर्म शब्द का 'अपूर्व' अर्थ मानकर तन्निष्ठ अपूर्वत्व (अपूर्वत्व-विशिष्ट अपूर्व) को विध्यर्थ मानेंगे तब तो शक्ति-ग्रह के लिए विधि-वाक्य-जन्य-ज्ञान से पूर्व 'अपूर्व' में ज्ञान-विषयता के अनिवार्य होने से 'अपूर्व' का अपूर्वत्व—शब्द-प्रमाण-मात्र-वेद्यत्व—ही नष्ट हो जाएगा। नित्यादि-स्थल में अपूर्व के आक्षेप के असम्भव होने से कार्यत्वेन रूपेण अपूर्व भी विध्यर्थ नहीं हो सकता; और इष्ट-साधनता-ज्ञान के विना प्रवृत्त्यभाव के प्रामाणिक होने से कर्म—यागादि—के धर्म कार्यत्व को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता ॥१२॥]

कर्म=स्वर्गादिः, तद्धर्मः कार्यत्वम् यदि विध्यर्थः, तत्राह— 'अति-प्रसङ्गान्न फलम्' इति। स्वर्गे कार्यत्व-ज्ञाने सति स्वर्गाऽसाधनेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः।

त्यागादिति" वाक्यार्थाऽधिकरणे बृहत्याम् उक्तम्। तत्र प्रवर्त्त्य-पुरुषाऽपेक्षया ज्यायसा प्रवर्त्तकेन प्रतिपाद्यमानं कार्यं प्रैषः, समेन प्रतिपाद्यमानम् आमन्त्रणम्, हीनेन प्रतिपाद्यमानं च तत् अध्येषणमित्यादि-भेदः ज्ञेयः।

तदेवं कार्यत्व- विशिष्टे कार्ये लोकादेव व्युत्पत्तिः सिद्धा; कार्यं च लोके क्रिया एवेति वेदेऽपि सा एव कार्य-पदार्थः इति यद्यपि विवेकाऽसमर्थानामवगतिर्भवति तथाऽपि ते इत्थं प्रतिबोधनीयाः सुहृद्भावेन— न केवलं लोकादेव शब्दार्थाऽवधारणम् वेदे, अपि तु प्रसिद्धार्थपद-सम्बन्धादपि पदार्थान्तरान्वय-योग्यतया शब्दानामर्थ-प्रतिपादकत्वम्। निर्णीतं चैतत् यव-वराहाधिकरणे (मी० द०—१।३।५।)। वेदे च 'स्वर्ग-कामो यजेत' इत्यादौ कार्यं प्रतीयते। (कार्यं हि द्विविधम्—क्रिया-रूपम् एकम्, तद्भिन्नं नियोगाऽपर-पर्यायं द्वितीयम्। नियोगश्च स एवार्थः यस्मिन्नवगते पुरुषस्य नियुक्तोऽहमत्रेति प्रतिपत्ति भवति इति पूर्वमेव उक्तम्। नियोगाख्यं कार्यं स्व-कर्तव्यतया ज्ञायमानः कामना-विशिष्टः पुरुष एव नियोज्य इत्यभिधीयते।) तत्र च अन्विताभिधाने स्वर्ग-काम-पदेन नियोज्यतया स्वर्ग-कामः पुरुषः अन्वेति इति षष्ठाध्याये निर्णीतम्। स्वर्ग-कामेन च पुरुषेण नियोज्येन तदेव कार्य-रूपेण बोद्धुं शक्यम् यदेव तस्य काम्यमानस्य कामना-सिद्ध्यनुगुणम्, अन्यथा हि तत्कामिना तत् कार्यतया अनवगतं स्यात्। न च क्रिया क्षण-भङ्गिनी कालान्तरोपेये फले हेतुः भवति इति न सा कार्य-रूपेण नियोज्य-सम्बन्धं लब्धुं शक्नोति, यत्तु कालान्तर-स्थायि कार्यम् तदेव तेन सह सम्बन्धं लब्धुं शक्नोति इति

कर्म-शब्द स्वर्गाद्यर्थक है और उसका धर्म कार्यत्व विध्यर्थ है—इस मत में दोष दे रहे हैं :—'अतिप्रसङ्गान्न फलम्'। स्वर्ग में कार्यत्व के ज्ञान से प्रवृत्ति मानने पर स्वर्ग के असाधक कार्मों में भी प्रवृत्ति होने लग जाएगी। अतः स्वर्गादि फल-निष्ठ- कार्यत्व-ज्ञान को विध्यर्थ (प्रवर्त्तक) नहीं माना जा सकता।

कर्म-शब्द को अपूर्वार्थक मान कर उसके धर्म अपूर्वत्व को विध्यर्थ मानने में दोष बतला रहे हैं :—'नाऽपूर्वं तत्त्व-हानितः'। शाब्द-बोध से पूर्व अप्रतीत होने

यदि कर्म = अपूर्वम्, तद्धर्मः कार्यत्वम् विध्यर्थः, तत्राह--"नाऽपूर्वं तत्त्व-हानितः" । शाब्द-बोधात् पूर्वम् न उपस्थितम् इति अत एव अपूर्वम्

क्रिया-भिन्नं मानान्तराऽवेद्यं कार्यमेव लिङ् अभिधत्त इति सिद्धम् । तच्च मानान्तराऽपूर्वत्वात् अपूर्वम् इति पुरुषे च 'अहमत्र नियुक्तः' इत्याकारक-प्रत्यय-जनकत्वाच्च नियोग इति व्यपदिश्यते। अत्रार्थे पञ्चिकाकृतामेते श्लोकाः पठितव्याः—

"सम्प्रधार्यमिदन्त्वत्र तत्कार्यं किं क्रियात्मकम् ।
यद्वा तद्व्यतिरेकीति ? तत्र लोकाऽनुसारतः ॥
प्रमाणान्तर-विज्ञेया क्रिया कार्येति यद्यपि ।
तथाऽपि वेदे षष्ठाद्य-सिद्धान्तेऽवस्थिते सति ॥
स्वर्ग-कामादयः कार्ये नियोज्यत्वेन सम्मताः ।
स्वर्ग-कामादिभिः शब्दैः वक्तव्या इत्यवस्थितम् ॥
नियोज्यः स च कार्यं यत्स्वकीयत्वेन बुद्ध्यते ।
स्वर्गादिः काम-योगाच्च साध्यत्वेनैव गम्यते ॥
तेन साध्यत्व - पर्यन्त-स्वर्गादीच्छा - विशेषितः ।
तदेव शक्नुयात् कार्यम् बोद्धुं यत्काम्य-साधनम् ॥
लिङादिस्तत्र कार्यञ्चेत् क्रियामेवाऽवबोधयेत् ।
समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयते ॥
क्रिया हि क्षणिकत्वेन न कालान्तर-भाविनः ।
स्वर्गादेः काम्यमानस्य समर्था जननं प्रति ॥
इष्टस्याऽजनिका सा च नियोज्येन फलार्थिना ।
कार्यत्वेन न सम्बन्धमर्हति क्षण-भङ्गिनी ॥
तस्मान्नियोज्य - सम्बन्ध - समर्थं विधि-वाचिभिः ।
कार्यं कालान्तर-स्थायि क्रियातो भिन्नमुच्यते ॥

के कारण ही तो उसे मीमांसक-सम्प्रदाय 'अपूर्व' कहता है, परन्तु यदि शाब्द-बोध से पहले अपेक्षित शक्ति-ग्रह के लिए अपूर्व का ज्ञान मान लिया जाय तब तो उसका 'अपूर्वत्व' ही नष्ट हो जाएगा। यदि तु शाब्द-बोध- पूर्वकालिक शक्ति-ग्रह से पहले अपूर्व का ज्ञान न हो तब फिर उसमें लिङ् का शक्ति-ग्रह और उस पर निर्भर शाब्द-बोध कैसे हो सकेगा ?

अस्तु, कार्यत्वेन रूपेण अपूर्व में विधि-पद का शक्ति-ग्रह होगा और शाब्द-बोध के समय स्वर्गादि-साधकत्व के आधार पर कार्य-विशेष—अपूर्व—की

पूर्वमुपस्थितौ च न तत्त्वम्, अनुपस्थितौ च कथं तत्र शक्ति-धीः ?

ननु कार्यत्वेन रूपेण शक्ति-धीः, शाब्द-बोधे तु योग्यतया अपूर्वस्य कार्य-विशेषस्य भानम्, इत्यत्राह--तदलाभान्न कार्यञ्चेति। नित्य-निषेधापूर्वयोः अलाभ-प्रसङ्गात् तत्र फल-कामस्य नियोज्यस्य अभावात्।

तद्धि कालान्तर-स्थानात् शक्तं स्वर्गादि-सिद्धये।
सम्बन्धोऽप्युपपद्येत नियोज्येनास्य कामिना॥
क्रियादि-भिन्नं यत्कार्यं ज्ञेयं मानान्तरैर्न तत्।
अतो मानान्तराऽपूर्वमपूर्वमिति गीयते॥
कार्यत्वेन नियोज्यञ्च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसा-निष्णातैरभिधीयते॥" इति।

तदेवं मानान्तरं सिद्धे कार्यत्व-विशिष्टे कार्ये धर्मिणि लिङः लोकादेव व्युत्पत्तेः वेदे योग्यतया अपूर्वस्य अन्विताभिधाने मानमिति स्थितम्। तदुक्तम् वाक्यार्थ-मातृकायाम्—

"तस्माल्लोकाऽनुसारेण व्युत्पत्तिः कार्य-मात्रके।
तस्य त्वपूर्व-रूपत्वं वेद-वाक्याऽनुसारतः॥" इति।

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं वृत्तौ—योग्यतया अपूर्वस्य कार्य-विशेषस्य भानमिति। ननु स्मृतानामेव अर्थानाम् आकाङ्क्षादि-वशादन्वय-बोध इति पूर्वमननुभूतस्य कार्यत्वेन रूपेण अपूर्वस्य कथं शाब्द-बोधे भानमिति चेत्? शक्ति-ग्रह-पदार्थ स्मृत्योः पदार्थ-स्मृति-शाब्दानुभवयोश्च लाघवादावश्यकत्वाच्च समान-प्रकारता-मात्रेणैव कार्य-कारण-भावः न तु समान-विशेष्यकतयाऽपि, अन्यथा हि पर्वतीय-वह्नेः व्यापकतया अनवगतत्वेन कथमनुमितौ तदन्वयः स्यात्, समान-विशेष्यकत्वाभावादिति। न हि नैयायिकादीनामिव गुरूणामपि

प्रतीति हो जाएगी—इस मत का निराकरण कर रहे हैं :—'तदलाभान्न कार्यं च' इस वाक्य से। नित्य तथा निषेध के किसी फल न होने के कारण वहाँ फलोत्पादनानुकूल योग्यता के आधार पर कार्य-विशेष अपूर्व का शाब्द-बोध में भान असम्भव हो जाएगा।

अथवा 'तदलाभान्न कार्यं च' की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए:—जिस प्रकार गन्धवत्त्व से उपलक्षित पृथिवी पदार्थ में पृथिवी पदका शक्ति-ग्रह

यद्वा—ननु कार्यत्वेन उपलक्षितायाम् अपूर्व-व्यक्तौ शक्ति-ग्रहः, गन्धवत्त्वेनोपलक्षितायाम् पृथिवीत्व-विशिष्टायां व्यक्तौ पृथिवी-पदस्येवेत्यत्राह—तदलाभात्। अपूर्वत्व-विशिष्टापूर्व-व्यक्त्यनुपस्थितेः। गन्धवत्त्वेनाऽपि हि पृथिवीत्व-विशिष्टस्य स्मरणम् अनुमानं वा सम्भवति, प्रागनुभवात्। प्रकृते तथात्वे अपूर्वत्व-व्याघातात् इत्यर्थः।

ग्राह्य-पदार्थ-व्यक्तौ शक्तिज्ञानमपेक्ष्यते, अपि तु यत्र-कुत्रचिद्धर्मिणि शक्ति-ज्ञानात् एव शाब्द-बोधे योग्य-व्यक्तेः भानमिति तु सारम्।

मन्दं मन्दममन्दं यः तत्त्वं मां मन्दमब्रवीत्।
महागुरुस्तमाध्याय गुरोर्मतमवर्णयम्॥

उक्तं प्राभाकर-मतं निराचष्टे—तदलाभादिति। नियोज्यस्याभावादिति—स्वर्गादि-फल-कामना-विशिष्टस्य नियोज्यस्य कामना-सिद्ध्यनुकूलत्वं क्षण-भङ्गिन्यां क्रियायां नेति हेतोः योग्यतया काम्ये नैमित्तिके च अपूर्वस्य कार्य-विशेषस्योपस्थिति-सम्भवेऽपि नित्यस्थले निषेध-स्थले च स्वर्गादि-फलमनभ्युपगच्छतां प्राभाकराणां नैव अपूर्वस्य लिङर्थत्वम्, तत्र फलाऽभावेन फल-सिद्ध्यसिद्ध्योः अनवतारे कुतः क्रिया न योग्या अपूर्वं तु तद्योग्यमित्यादि-कल्पनावसरः इति नित्य-निषेध-स्थले क्रिया विध्यर्थः नैमित्तिक-काम्य-स्थले च अपूर्वमिति इत्यर्धजरतीयं तन्मते दुर्निवारमिति हेयं तत् इति भावः।

तदलाभादित्यस्य व्याख्यान्तरमाह—यत्रेति। अयमर्थः—यथा गन्धवती पृथिवी-पद-शक्या इत्युपलक्षण-विधया शक्ति-ग्रहे उत्तर-कालं पृथिवी-पदेन पृथिवीत्वेन शाब्द-बोधः तथैव कार्यं विधि-शक्यम्

होता है और शाब्द-बोध में पृथिवीत्वेन उसका भान होता है उसी प्रकार कार्यत्व से उपलक्षित अपूर्व में विधि-पद का शक्ति-ग्रह होगा और शाब्द-बोध में अपूर्वत्वेन रूपेण उसका भान हो जाएगा—ऐसा पूर्व-पक्ष है। इसके समाधान में कह रहे हैं:—'तदलाभात्……'। अपूर्वत्व-विशिष्ट अपूर्व की उपस्थिति कार्यत्वेन रूपेण नहीं हो सकती है, यही 'तदलाभात्……' का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि दृष्टान्त में तो गन्धवत्त्वेन रूपेण पृथिवीत्व-विशिष्ट पृथिवी व्यक्ति का स्मरण अथवा अनुमान हो जाता है, अतः वहाँ तो उपपत्ति है; परन्तु यहाँ (दार्ष्टान्तिक में) यदि कार्यत्व से अपूर्वत्व-विशिष्ट अपूर्व का स्मरण या अनुमान मानेंगे तब तो अपूर्व का अपूर्वत्व ही नष्ट हो जाएगा।

ननु कर्म यागादि, तद्धर्मः कार्यत्वं विधिः? तत्राह—न क्रियाऽपीति। अनिष्ट-साधनताधीकाले प्रवृत्त्यदर्शनात्। अत्र अपिना न अपूर्वमपि, उक्तदोषादित्यर्थः ॥१२॥

इति कार्यत्वोपलक्षिते अपूर्वे शक्ति-ग्रहे उत्तर-कालम् अपूर्वत्वेन शाब्द-बोध इति पूर्व-पक्ष-तात्पर्यम्। उत्तर-पक्षाशयस्तु उपलक्षणं हि स्मरणम् अनुमानं वा स्यात्। तत्र अनुभूत-पृथिवीत्व-विशिष्टस्य पुरुषस्य तत्र पृथिवी-पद-वाच्यत्वमजानतः आप्त-मुखात् गन्धवती पृथिवीति श्रुत्वा एक-सम्बन्धि-ज्ञान-विधया पृथिवीत्व-विशिष्टस्य स्मरणम्, पूर्वानुभूत-सहचारस्मरणेन च तस्य अनुमितिर्वा सम्भवति इति तत्र गन्धवत्त्वस्य वाच्योपलक्षकत्वम् सुघटम्। प्रकृते तु वाच्यता-ग्रहात् पूर्वम् अपूर्वत्व-विशिष्टाऽपूर्वस्यानुभवे स्वीकृते एव कार्यत्वस्य तदुपलक्षकत्वं घटते, नान्यथा। स्वीकृते तु कार्यत्वस्योपलक्षकत्वे विधि-वाच्यता-ज्ञानात् पूर्वमेव अपूर्वत्व-विशिष्टस्य अपूर्वस्यानुभवः स्वीकार्य इति गतं तस्याऽपूर्वत्वमिति न कार्यत्वमुपलक्षणीकृत्यापि अपूर्वत्व-विशिष्टेऽर्थे लिङ् प्रवर्त्तितुं योग्येति ध्येयम्।

चतुर्थं पादमवतारयति—ननु इति। अनिष्ट-साधनतेति—तथा च अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् इष्ट-साधनता-ज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वम्, न तु यागादौ कार्यत्व-ज्ञानस्येति प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वमपि तत्र नेति कुतः तत्र विध्यर्थत्व-सम्भावनाऽपीति सारम्। यत्रापि इष्ट-साधनत्वे तादृश-विषयता साऽपि न विध्यर्थः इति तु विधिर्वक्तुरभिप्रायः इत्यत्र निर्णेष्यते एव ॥१२॥

अच्छा तो कर्म-शब्द का अर्थ हम मीमांसक यज्ञादि मानते हैं और उस यज्ञादि का धर्म कार्यत्व विध्यर्थ है—उस पूर्व-पक्ष के उत्तर में कह रहे हैं :— 'न क्रियाऽपि……।' जब तक प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति को इष्ट-साधनता-ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। अतः इष्ट-साधनता-ज्ञान से भिन्न यागादि-निष्ठ-कार्यत्व-ज्ञान में प्रवर्त्तकता और विध्यर्थता का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता। 'न क्रियाऽपि' में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से यही प्रतिपादित होता है कि उपर्युक्त दोष से अपूर्व को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता ॥१२॥

ननु करणं शब्दः, तद्धर्मः अभिधा, तज्ज्ञानं प्रवर्त्तकम्। अत एव आहुः--

अत्र करण-पदं लिङादि-शब्दात्मक-करण-परम् इत्याह—करणं शब्दः इति। अभिधेति। अत्रेदं भट्ट-मत-सारम्—प्रवृत्तिः द्विविधा—स्वेच्छाधीना पर-प्रेरणा-जन्या च। तत्र आद्य-प्रवृत्तौ इष्ट-साधनता-ज्ञानं कारणम्, द्वितीय-प्रवृत्तौ तु प्रवर्त्तयितृ-निष्ठः परकीय-प्रवृत्त्यनुकूलः यः व्यापारः तस्य ज्ञानं कारणम्। स चैष व्यापारः प्रवर्त्तयितु: चेतनत्वे अभिप्राय-रूपः अचेतनत्वे तु तन्निष्ठः अभिधा-नामकः व्यापार एव। यथा हि आचार्यादि-प्रेरणया शिष्यस्य प्रवृत्तिरानुभविकी तथैव विधि-श्रवणात् शिष्टस्यापि प्रवृत्तिः उपलभ्यते इति तत्रापि विधि-शब्दे अचेतने तादात्म्य-सम्बन्धेन अभिधा-नामकः व्यापार-विशेषः मन्तव्यः, तज्ज्ञानादेव च शिष्टानां प्रवृत्तिः यागादौ। वेदस्य च अपौरुषेयत्वेन विधि-शब्दे चेतनाभिप्रायस्याऽसम्भव एव। सा चेयमभिधा विधि-शब्द-निष्ठत्वात् शाब्दी भावना इति उच्यते। अनया च भावनया यागादि-विषयिणी आत्माश्रिता प्रवृत्तिः भवति, सा च आर्थी भावना इति कथ्यते। अर्थ-पदस्य 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्र श्रेयः-साधनार्थकत्वेन प्रसिद्धेः यागादि-परत्वम्, यागादि-रूपस्य अर्थस्य अननुगतत्वेन समवायि-कारणत्व-रूप-श्रेयः-साधनत्व-विशेषाभिप्रायेण आत्म-परत्वमपीति आर्थ-भावनायाः यागादि-विषयिणी आत्माश्रिता प्रवृत्तिः इत्यर्थः नासङ्गतः। तत्र विधि-शब्दे लिङ्त्वांशेन शाब्दी भावना आख्यातत्वांशेन च आर्थी भावना प्रतीयते इति विवेकः। अत्रैवार्थे भट्ट-सम्मतिमाह—अभिधामित्यादिना। अन्याम् = आर्थीभावनातः भिन्नाम् एव, अभिधाख्यां भावनाम् = व्यापार-विशेषम्, लिङादयः लिङ्त्वेन रूपेण आहुः। सर्वस्य लिङादेः आख्यातत्वेन रूपेण गोचरीभूता = प्रतिपाद्या, अर्थात्म-भावना = याग-विषयिणी आत्माश्रिता प्रवृत्त्य-पर-पर्याया भावना तु अन्यैव शाब्द-भावनातः इति उक्त-श्लोक-तात्पर्यम्। शब्दात् = वैदिक-लिङ्-शब्दात्। आख्यातार्थश्च = आख्यातत्वेन विधि-प्रत्ययार्थश्चेत्यर्थः। उत्पादना = आर्थी भावना इत्यर्थः।

अच्छा तो करण, अर्थात् लिङादि शब्द में एक 'अभिधा' (शाब्दी भावना) रहती है और उसी 'अभिधा' का ज्ञान प्रवर्त्तक है। इसीलिए आचार्य कुमारिल भट्ट ने कहा है :—

"अभिधां भावनामाहुः अन्यामेव लिङादयः।"
अर्थात्म-भावना त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः॥" 'अभिधा याग-

एतदेव विवृणोति—उत्पत्त्यनुकूलेति। उत्पत्तिश्च यागादेः तत्फलस्य वा विवक्षिता। तदनुकूला कृतिश्च फल-काम-पुरुष-समवेतेति भावः। अत्र कृतेः भावनात्वं न्याय-सुधाकाराद्यभिमतम्। पार्थ-सारथि-मिश्राणां मते तु व्यापारात्मिकैवेयं भावनेति अन्यत्र विस्तरः। इयं हि आर्थी भावना शाब्द-भावनायाः साध्यम् - भाव्यम् उच्यते। अत एव शाब्दी भावना अभिधाऽपर-पर्याया यागोत्पत्त्यनुकूल-पुरुष-निष्ठ-कृतिरूपायाः आर्थीभावनायाः जनिकेति उक्तम् वृत्तौ—'अभिधा याग-प्रवर्त्तिका' इति धीः इति। अत्रेदमपि बोध्यम्—यद्यपि चेतन-निष्ठस्य प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारस्य अभिप्राय-रूपतया लिङादि-शब्दात्मकाचेतन-निष्ठ-प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारस्य च अभिधा-रूपतया उभय साधारणाऽनुगत-रूपाभावेन प्रवृत्तिं प्रति कार्य-कारण-भावः नानुगत इति दोषः, तथापि इष्ट-साधनता-ज्ञान-जन्य-स्वेच्छाधीन-प्रवृत्ति-मात्रे जन्यतावच्छेदकतया एकं वैजात्यम्, आचार्याभिप्रायजन्य-प्रवृत्ति-मात्रे एकं वैजात्यम्, अभिधा-ज्ञान-जन्य-प्रवृत्ति-मात्रे च अपरं वैजात्यं स्वीकृत्य तत्तद्वैजात्यावच्छिन्नं प्रति तत्तज्ज्ञानस्य विशिष्यैव कार्य-कारण-भावः इति न व्यभिचारादि-सम्भावनापीति।

सम्प्रति भट्टमतं निराकर्त्तुमुत्तरमवतारयति — इत्यत्राहेत्यनेन। असत्त्वा वति मूलं विवृणोति—भावादिति। अयमर्थः—वाक्यार्थ-ज्ञान-करणस्य शब्दस्य व्यापारवत्त्वमावश्यकम् इति हतोः व्यापार-रूपेण शब्द-निष्ठा अभिधा कल्प्यते, परन्तु पदार्थ-स्मृतेरेव व्यापारत्व-सम्भवे अतिरिक्तायाः अभिधायाः स्वीकारो निर्युक्तिकः। व्यापारि-

"लिङ् आदि शब्द 'आर्थी-भावना' से भिन्न 'अभिधा' नाम की 'शाब्दी भावना' के प्रतिपादक हैं और उससे भिन्न जो 'आर्थी भावना' है वह तो आख्यात-मात्र का वाच्य है।" तात्पर्य यह है कि "अभिधा याग में प्रवृत्त कराती है" यह ज्ञान शब्द से होता है और आख्यान का अर्थ होता है उत्पादना, अर्थात् उत्पत्त्यनुकूल कृति। इस पूर्व-पक्ष के उत्तर में कह रहे हैं :—

[पहली बात तो यह है कि 'अभिधा' नाम को कोई चीज है ही नहीं; दूसरी बात यह है कि 'अभिधा' के ज्ञान को प्रवर्त्तक भो नहीं माना जा सकता,

प्रवर्तिका' इति धीः शब्दात्, आख्यातार्थश्च उत्पादना उत्पत्त्यनुकूल-कृतिरूपेयम्, इत्यत्राह :—

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाऽभिधापि गरीयसी ।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्घटः ॥१३॥

अभिधायां मानाऽभावात्, अभिधा-शब्दतः अभिधा-ज्ञानेऽपि अप्रवृत्तेः,

निष्ठ एव पदार्थः व्यापारः न तु व्यापारीतर-निष्ठः पदार्थ-स्मृतिश्च शाब्द-ज्ञान-करणीभूतात् व्यापारिणः शब्दात् भिन्ने आत्मनि समवेता इति न तस्याः व्यापारत्वमुचितमिति तु न युक्तम्, स्वर्ग-कारणात् यागात् इतरे आत्मनि समवेतस्य अपूर्वस्य व्यापारत्वे सर्वाभिमते उक्त-कथनस्य व्यभिचारादिति सुष्ठूक्तम् अभिधायाम् मानाभावात् इति ।

अ यस्य = इच्छादेः, लिङर्थत्वे = प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वे इत्यर्थः । बाधाविति—स च इष्ट-हानेरित्यादिना प्रतिपादितः । बाधक-सम्भवाविति—बाधकश्च अभिधा-शब्दतः 'अभिधा याग-प्रवृत्ति-जनिका' अभिधा-ज्ञानेपि इष्ट-साधनता-ज्ञानाभावे अप्रवृत्तिरेव सर्वा-नुभव-सिद्धेति 'अप्रवृत्तेः' इत्यनेन अस्यामेव कारिकायाम् उपात्तः इति ध्येयम् ॥ १३ ॥

इदानीमिष्ट-साधनत्वस्य प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षाजनक-ज्ञान-विषयतया विध्यर्थत्वं प्रतिपादयति—ननु इत्यादिना । करणस्य यागादेरिति—यागस्य करणत्वं फलापेक्षया साक्षात् उत्पादनाऽपेक्षया तु परम्परयेति बोध्यम् । अत्र उत्तरमवतारयति—तत्राहेत्यादिना । अत्रेदं बोध्यम्—इष्ट-साधनत्वातिरिक्तं इच्छा-यत्नादि-प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयमपि न भवतीति न तत्र विध्यर्थत्व-सम्भावनाऽपि इति "इष्ट-हानेः" इत्यारभ्य "परिशेषोऽपि दुर्घटः" इत्यन्तेन प्रतिपादितम् । सम्प्रति इष्ट-साधनत्वस्य प्रवृत्ति-प्रयोजक-

क्योंकि 'अभिधा' शब्द के सुनने से होनेवाले अभिधा-ज्ञान से प्रवृत्ति कहीं नहीं देखी जाती है । अतः 'अभिधा' को लिङर्थ मानना उचित नहीं है । साथ ही इसे लिङर्थ मानने में बाधक भी पूर्ववत् है । अतः परिशेष से भी 'अभिधा' के लिङर्थत्व की सिद्धि नहीं होती ॥१३॥]

'अभिधा' नाम के पदार्थ की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है; और 'अभिधा' शब्द के श्रवण से जायमान अभिधा-ज्ञान से प्रवृत्ति के आनुभविक न होने से

(न अभिधा) गरीयसी = उचिता, लिङर्थतयेति शेषः।

ननु अन्यस्य लिङर्थत्वे बाधात् परिशेषेण अभिधा लिङर्थः इत्यत्राह—बाधकस्येति। प्रकृते अपि बाधक-सम्भवात्॥ १३॥

चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयतया विध्यर्थत्व-सम्भावना, अत एव च प्राचीनैः इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्वम् अङ्गीकृतमपि, परन्तु अन्य-लभ्यत्वात् विध्यर्थत्वं तस्य नोचितम्, सत्यपि तस्मिन् प्रवृत्ति-प्रयोजक-चिकीर्षा-जनक-ज्ञान-विषयत्वे प्रवर्त्तकत्वे चेति प्रतिपाद्यते इति। आचार्यास्तु अत्र करण-पदं प्रयत्नार्थकमेव स्वीकुर्वन्ति। तत्र इष्ट-साधनत्वस्य तथाविध-करण-धर्मत्वम् इष्ट-साधन-प्रयोजकत्वेनेति ध्येयम्।

विध्यर्थस्येति—इष्ट-साधनत्वं हि विध्यर्थज्ञापकम् इति सारम्। तथा च विध्यर्थो ज्ञापकः इष्ट-साधनत्वं च ज्ञापकम्, न च तयो-रेकत्वमुचितम् साध्य-हेत्वोरविशेषाऽऽपत्तेरित्याह—न च स्वस्येत्यादि। अत्र इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्व-ज्ञाप्यत्व-परं व्याख्यानं चिन्त्यम्। इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्व-ज्ञापकत्वं दृष्टान्तेन स्फोरयति—अग्नि-काम इत्यादिना। तथा च इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्वे दारु-द्वय-मथनम् इष्टाऽग्नि-साधनम् इष्टाग्नि-साधनत्वादिति हि स्यात्, न चैतत् युक्तम् साध्य-समत्वापत्ते, अतः अन्य एव आप्ताऽभिप्रायो विध्यर्थः स्वीकार्यः। तथा च दारु-द्वय-मथनम् आप्ताऽभिप्राय-विषयः इष्ट-साधनत्वात्, इत्यनुमाने साध्य-हेत्वोः ऐक्यं न आपतीति स एव आप्ताऽभिप्रायः विध्यर्थः इत्याशयवानाह—वक्तारो वदन्तीत्यादि। यदि तु इष्ट-साधनत्वमेव विध्यर्थः स्यात् तदा 'मथ्नीयात्' इत्यनेनैव तदवगमे पुनः वक्तारः 'यतः दारुमथनमग्नि-साधनम्' इति नैव वदेयुः, निरर्थकत्वादिति भावः।

अभिधा-ज्ञान को प्रवर्त्तक और इसके आधार पर 'अभिधा' को लिङर्थ मानना 'गरीयसी' अर्थात् उचित नहीं है।

'अभिधा' से अतिरिक्त पदार्थ—कार्यत्व आदि—के विध्यर्थत्व में बाध होने से परिशेषात् 'अभिधा' ही लिङर्थ के रूप में प्रतिपन्न हो जाती है—इस मत का निराकरण कर रहे हैं:—'बाधकस्य···' कार्यत्व आदि के लिङर्थत्व में बाध के समान 'अभिधा' के लिङर्थत्व में भी 'अप्रवृत्तेः' आदि बाध हैं ही। अतः परिशेषात् भी 'अभिधा' लिङर्थ नहीं मानी जा सकती॥१३॥

ननु करणस्य यागादेः धर्मः इष्ट-साधनत्वं विध्यर्थः अस्तु, तत्राह—

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः ।
अन्यत्र-क्लृप्त-सामर्थ्यात् निषेधाऽनुपपत्तितः ।। १४ ।।

विधेः अनुमानात् इत्यतः परम् अतः नेष्ट-साधनत्वं विध्यर्थ इति पूरणीयम् । एतदेव विवृणोति—यदि चेत्यादिना । तदनुमान-वैयर्थ्यम् इति—विधि-प्रतिपाद्यस्येष्ट-साधनत्वस्य 'तरति मृत्युम्' इत्याद्यर्थवादादेव लाभादिति भावः । विध्यनुमानस्येति । अयमर्थः—"तरति मृत्युं तरति ब्रह्म-हत्यां योऽश्व-मेधेन यजते" इत्यर्थवादवाक्यात् मृत्यु-तरणादि-रूपेष्ट-साधनत्वस्य अश्वमेधे अवगमे सत्यपि "मृत्यु-ब्रह्महत्या-सन्तरण-कामः अश्वमेधेन यजेत" इति विधेः अनुमानं सर्व-सम्मतम् अस्ति, तत्र यदि विधिना इष्ट-साधनत्वमेव बोधनीयं नान्यत् किमप्यधिकम् तदा तदनुमान-वैयर्थ्यम्, अर्थवादेनैव तावतोऽर्थस्य लाभात्, आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वे तु तस्य अर्थवादेन अप्रतीतेः भवति विध्यनुमान-साफल्यमिति नेष्ट-साधनत्वं विध्यर्थः इति ।

इष्ट-साधना-वियोगात् इत्यतः परम् इष्ट साधनत्वं न विध्यर्थः इति पूरणीयम् । वियोगः = अननुभवः । आज्ञादिकम् इति—आदिना अनुज्ञा-परिग्रहः । तत्र कर्तुरिष्टत्वे सति वक्त्रनुमतत्वम् अनुज्ञा, वक्त्रनुमतत्वे सति कर्तुरनिष्ट-हेतुत्वम् आज्ञा इति शब्द-शक्ति-प्रकाशिकायां जगदीश-तर्कालङ्काराः । पाक-संसक्त-चिन्तां पत्नीमुद्दिश्य 'पाकं कुर्याः' इति प्रयुक्ते अनुज्ञायाः प्रतीतिः, अपराधिनं च दण्ड-भोगेच्छा-हीनमुद्दिश्य 'विष-भक्षणं कुर्याः' इत्यादौ आज्ञा-प्रतीतिरित्यवधेयम् । एवमुत्तम-स्थलेऽपि । अभिप्रायः इच्छेति पर्यायः ।

अच्छा तो कारण, अर्थात् स्वर्गादि-साधनीभूत यज्ञादि, का धर्म 'इष्ट-साधनत्व' ही विध्यर्थ हो ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं :—

[इष्ट-साधनत्व के विध्यर्थ-ज्ञाप्य होने से; इष्ट साधनता ज्ञान होने पर भी विधि के अनुमान की आवश्यकता होने से, मध्यमादि-पुरुष के विधि-यज, यजे इत्यादि—में इष्ट-साधनत्व की अप्रतीति होने से; अध्येषणाद्यर्थक लिङ् में इच्छादि-वाचकत्व की प्रसिद्धि से; और निषेध-वाक्य के द्वारा इष्ट-साधनत्व-प्रतिषेध के बाधित होने से 'इष्ट-साधनत्व' भी विध्यर्थ नहीं हो सकता ।।१४।।]

विध्यर्थस्य इष्ट-साधनतायाः 'हेतुत्वात्' = लिङ्गतयोपन्यासात्। न च स्वस्य स्व-लिङ्गत्वम्। 'अग्नि-कामो दारुणी मथ्नीयात्' इत्युक्ते कुतः? इत्याकांक्षायाम् वक्तारो वदन्ति—यतो दारु-द्वय-मथनम् अग्नि-साधनम् इति।

अध्येषणादि-लिङाम् = अध्येषणाद्यर्थे विहित-लिङाम्। आदि-पदात् सम्प्रश्न-प्रार्थनादि-परिग्रहः। तत्र श्रोतृ-सम्मानादि-व्यञ्जिका अध्येषणा। इयमेव पाणिनीयैः 'अधीष्टः' इत्युच्यते। अभिधान-प्रयोजनेच्छा सम्प्रश्नः। यथा—किं नु खलु भोः तर्क-शास्त्रम् अधीयीय? इति। लाभेच्छा प्रार्थना। उदाहरणं स्पष्टम्। इच्छा-वाचकत्व-कल्पनात् इति—इच्छा-वाचकत्व-कल्पनेन विध्यर्थ-विहित-लिङामपि लाघवात् लिङ्-प्रतिपाद्यत्व-सामान्याच्च इच्छार्थकत्वस्यैव कल्पनात् इति भावः। तथा च नेष्ट-साधनत्वं विध्यर्थः।

बाधितत्वादिति—कलञ्ज-भक्षणेन इष्टस्य = तृप्तेः, साध्यत्वात् तत्र इष्ट-साधनत्वस्य विध्यर्थत्वे तेन सह नञर्थान्वयस्य बाधात् इति भावः। तत्र कलञ्जम् हि शूल्यं मांसम् इति केचित्। शुष्क-मांसम् इति अन्ये। विषाक्त-शस्त्रास्त्र-हत-मृग-पक्षिमांसं तदिति अपरे। पलाण्डुः इति इतरे। रक्त-लशुनमिति हरदत्तः। तत्र पलाण्डु-रक्त-लशुनयोः प्रायः अभेद एवेति विभावनीयम्। ननु 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यत्र बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमेव विध्यर्थः, कलञ्ज-भक्षणस्य निषिद्धतया नरकादि-साधनत्वेन तत्र बलवदनिष्टाऽननुबन्धित्वस्याभावात् नञा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभाव एव बोध्यते इत्यत्राह—बलवदनिष्टा नुबन्धित्वञ्च न विध्यर्थं इति। यद्वा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्ट-साधनत्वमेव विध्यर्थोऽस्तु, कलञ्ज-भक्षणे

विध्यर्थ जो होता है उसका इष्ट-साधनता के ज्ञापन के लिए 'हेतुत्वात्', अर्थात् हेतु के रूप में प्रयोग होने से इष्ट-साधनता का विध्यर्थत्व निरस्त हो जाता है, क्योंकि स्वयं साध्य भी हो और साधन भी—यह सम्भव नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि "अग्नि की कामना रखने वाले को दो काष्ठ-खण्डों का परस्पर घर्षण करना चाहिए" इस वाक्य के सुनने के बाद जब यह जिज्ञासा होती है—"क्यों?" तब वक्ता कहा करते हैं—'यतः काष्ठ-खण्ड-द्वय का परस्पर-घर्षण अग्नि का साधन है।' अतः इष्ट-साधनत्व विध्यर्थक नहीं हो सकता।

'अनुमानात्' = अर्थवादात् इष्ट-साधनता-बोधाऽनन्तरम् अपि विधेः अनुमानात्। यदि च अनुमितेन अपि विधिना इष्ट-साधनत्वमेव बोध्यम् तदा तदनुमान-वैयर्थ्यम्। 'तरति मृत्युं तरति ब्रह्म-हत्याम्' इत्यादौ "मृत्यु-ब्रह्महत्या-सन्तरण-कामोऽश्वमेधेन यजेत" इति विध्यनुमानस्य सर्व-तन्त्र-सिद्धत्वात्।

च उक्त-रीत्या बलवदनिष्टानुबन्धित्वस्य एव सत्त्वेन विध्यर्थ-घटक-विशेषणस्याभावात् विशिष्टविध्यर्थस्याप्यभाव इति स एव नञा बोध्यते इति शङ्कायामाह—बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमिति। बलवदनिष्टाऽन-नुबन्धित्वञ्च इष्टोत्पत्ति-नान्तरीयक-दुःखाऽजनकत्वम् बलवद्द्वेष-विषय-दुःखाऽजनकत्वं वा। अस्य विध्यर्थत्वाभावे हेतुमाह—श्येनेनेत्यादिना। मरणानुकूल-व्यापारस्य श्येन-यागस्य हिंसात्वेन नरक-साधनत्वात् बलवदनिष्टाऽनुबन्धित्वमेवेति तस्य तद्विशिष्टस्य वा अत्र विध्यर्थत्वं बाधितमिति भावमाह—असम्भवाविति। ननु यस्य श्येने प्रवृत्तिः तस्य तदानीं तस्मिन् बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं तत्रास्त्येवेति कथं तत्र तस्य तद्विशिष्टेष्ट-साधनत्वस्य वा बाध इत्यत आह—अप्रवर्त्तमानेत्यादि। बाधितत्वात् इति। तथा च श्येन-साध्यस्य नरकस्य वस्तुतः बलवद्द्वेष-विषयत्वमस्त्येव, प्रवर्त्तमानस्य तत्र तदप्रतीतिश्च मोहादिना भ्रान्तै-वेति न बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य तद्विशिष्टेष्ट-साधनत्वस्य वा विध्यर्थत्वमुचितमिति भावः॥ १४॥

एतावता प्रबन्धेन प्रयत्नादेः विध्यर्थत्वं निराकृत्य आचार्य-स्वरसमुद्घाटयति—स्वमतमाहेति। 'प्रवृत्त्यादौ' इति मूले आदि-पदं निवृत्ति-सङ्ग्राहकम् इत्याह—प्रवृत्ति-निवृत्ति-विषये इति। तथा च प्रवर्त्तक-वाक्य-स्थले प्रवृत्त्युद्देश्यकः आप्ताभिप्रायः विध्यर्थः, निषेध-

'अनुमानात्', अर्थात् अर्थवाद-वाक्य में इष्ट साधनता-ज्ञान होने के बाद भी विधि-वाक्य के अनुमान के अपेक्षित होने से भी यह सिद्ध है कि इष्ट-साधनत्व विध्यर्थ नहीं है। यदि अनुमित विधि से भी इष्ट-साधनत्व का ही बोध हो तब तो अर्थवाद-वाक्यावगत इष्ट-साधनत्व के अवगम के लिए विधि का अनुमान व्यर्थ हो जाएगा। "तरति मृत्युम्, तरति ब्रह्महत्याम्" इत्यादि अर्थवाद के प्रसङ्ग में "मृत्युब्रह्महत्या-सन्तरण-कामः अश्वमेधेन यजेत" इस विधि का अनुमान तो सभी शास्त्रों का सम्मत है। अतः विधि का अनुमान ही नहीं होता है—यह भी नहीं कहा जा सकता।

'मध्यमादौ वियोगतः' = मध्यमोत्तम-पुरुषे लिङः इष्ट-साधना-वियोगात्। कुर्याः कुर्याम् इत्यत्र आज्ञादिकं प्रतीयते। आज्ञा तु अभिप्राय एव इति प्रथम-पुरुषेऽपि इच्छैवार्थः।

स्थले च निवृत्त्युद्देश्यकः आप्ताऽभिप्रायः विध्यर्थः इति प्रतिफलति। अभिधेयः = शक्त्या प्रतिपाद्यः। नन्वेवं यागादौ स्वर्गादीष्ट-साधनता-ज्ञानात् जायमाना प्रवृत्तिः कलञ्ज-भक्षणादौ च नरकादि-द्विष्ट-साधनता-ज्ञानात् जायमाना निवृत्तिः कथमुपपद्येत, लिङा इष्ट-साधनत्वस्य तदन्वयिना नञा च इष्ट-साधनत्वाऽभावस्य द्विष्ट-साधनत्वस्याऽप्रतीतेरित्यतः प्रवृत्ति-निवृत्ति-कारणे इष्ट-साधनत्व-द्विष्ट-साधनत्व-ज्ञाने उपपादयति—इष्ट-साधनतेति। उपलक्षणमिदं द्विष्टसाधनत्वस्यापि। तथा च प्रवृत्ति-स्थले आप्ताभिप्रायेण विध्यर्थेन इष्ट-साधनता अनुमेया निवृत्ति-स्थले तु अनिष्ट-साधनतेति भावः। अनिष्टे च बलवत्त्वं सर्वत्र विशेषणम् इति बोध्यम्। तदेवमिष्ट-साधनत्वस्य अनुमान-लभ्यत्वात् हेतुत्वादित्यादिकारिकोक्ताऽनुपपत्तेश्च न स विध्यर्थः, प्रवर्त्तकत्वं तु तस्य वर्त्तते एवेति सिद्धम्। तदयमत्र निष्कर्षः—यो हि व्यापारः यस्य कृति-साध्यतया यद्व्यापार-विषयः प्रयत्नो वा यस्य आप्तेन इष्यमाणः स व्यापारः तद्व्यापार-विषयः प्रयत्नो वा तस्य पुरुषस्य बलवदनिष्टाऽननुबन्धीष्ट-साधनम् इति लोके व्याप्ति-ग्रहः सुकरः। ततश्च यागो मम बलवदनिष्टाऽननुबन्धीष्ट-साधनम् मत्कृति-साध्यतया मदाप्तेन इष्यमाणं तत् तत् मम बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट-साधनम् यथा मत्कृति-साध्यतया मदाप्तेन पित्रा इष्यमाणम् मृष्टान्नादि-भोजनम्, तथा चायम्, तस्मात् तथेति यागे बलवद-निष्टाननुबन्धीष्ट-साधनत्वानुमानात् तत्र पुरुषस्य प्रवृत्तिः सूपपादा। एवमन्याऽपि व्याप्तिः लौकिकी—यद्व्यापार-विषयः प्रयत्नः यस्य कृति-

'मध्यमादौ वियोगतः', अर्थात् मध्यम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष के लिङ् से इष्ट-साधनता की प्रतीति नहीं होने से भी यह सिद्ध है कि इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं है। 'कुर्याः', 'कुर्याम्' इत्यादि मध्यमोत्तम-पुरुषों के लिङ् से आज्ञा, अनुज्ञा आदि की ही प्रतीति होती है और आज्ञा का अर्थ एक प्रकार का अभिप्राय (आज्ञाप्य का अनभिमत आज्ञप्त का अभिप्राय) ही है। अतः प्रथम-पुरुष का लिङ् भी इच्छा-विशेष (आप्तेच्छा) का ही बोधक होगा, इष्ट-साधनत्व का नहीं।

'अन्यत्र क्लृप्त-सामर्थ्यात्' = अध्येषणादिलिङाम् इच्छा-वाचकत्व-कल्पनात् ।

साध्यतया यदाप्तेनाऽनिष्यमाणः स तस्य बलवदनिष्ट-साधनम् इति । ततश्च 'न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यत्र कलञ्ज-भक्षणं मम बलवदनिष्ट-साधनम् मत्कृति-साध्यतया मदाप्तेनानिष्यमाणत्वात् मत्पित्रनिष्य-माणमत्कर्तृक-विष-भक्षणवदिति अनिष्ट-साधनत्वानुमानात् ततो निवृत्तिरप्युपपद्यते । विशेषण-बाधात्मकश्च विशिष्ट-बाधः ।

सम्प्रति आचार्यमते अस्वरसमुद्घाटयति—वस्तुतस्तु इति । ईश्वरस्य सर्व-विषयकेच्छा-वत्त्वेन कलञ्जभक्षणमपि ईश्वरेच्छा-विषयमेव, तत्रैवं सति नञा कलञ्ज-भक्षणे ईश्वरेच्छा-स्वरूप-विध्यर्थस्य बाध-बोधने अनौचित्यम्, तस्याः बाधायोग्यत्वात् इति नेश्व-रेच्छा विध्यर्थः । ननु ईश्वरेच्छायाः निषेध-स्थले बाधापत्त्या यदि तस्या ईश्वरेच्छायाः विध्यर्थत्व-परित्यागः तथापि घट्ट-कुट्यामेव प्रभातम्, विध्यर्थत्वाभावेऽपि ईश्वरेच्छायाः केवलान्वयित्वस्या-व्याहततया कलञ्ज-भक्षणे तन्निवृत्तौ च तस्याः सत्त्वेन पाक्षिको बाधः सङ्कोचे च आंशिको बाधः तदवस्थ एवेति कथं बाधापत्त्या तस्याः विध्यर्थत्वानुपपत्तिरित्यत आह—बलवदनिष्टेत्यादिना । अयमर्थः—बाधस्य ईश्वरेच्छायां विध्यर्थत्वाभावाऽप्रयोजकत्वेऽपि ईश्वरेच्छया बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट-साधनत्वानुमितिः न सम्भवति, कलञ्ज-भक्षणे बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्याभावेन विशिष्टस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्ट-साधनत्वस्य साध्यस्य अभावे सिद्धेऽपि तत्र केवलान्वयिन्याः ईश्वरेच्छायाः हेतुभूतायाः सत्त्वेन हेतोः व्यभिचरितत्वात् । तथा च यागादौ ईश्वरेच्छया इष्ट-साधनत्वानुमित्यभावे तत्र प्रवृत्तिः न स्यादिति हेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्व-रूप-व्यभिचार-वारणाय अगत्या बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्ट-साधनत्व-प्रकारकेच्छायाः विध्य-र्थत्वम् वाच्यम् । तथा च कलञ्ज-भक्षणे बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्ट-साधनत्वस्य साध्यस्य उक्त-विध्यर्थस्वरूपहेतोश्च अभावात्

'अन्यत्र क्लृप्त-सामर्थ्यात्', अर्थात् अध्येषणा आदि के अर्थ में विहित लिङ् में इच्छार्थकत्व होने से विधि के अर्थ में विहित लिङ् का भी इच्छा ही अर्थ होना चाहिए ।

'निषेधाऽनुपपत्तितः' = 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यत्र इष्ट-साधनत्व-निषेधस्य बाधितत्वात्। बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं च न विध्यर्थः, "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादौ असम्भवात्। अप्रवर्त्तमान-पुरुषस्य बलवद्द्वेष-विषयत्वात् बलवद्द्वेष-विषय-दुःख-जनकत्व-सामान्याऽभावस्य बाधितत्वात् इति ॥ १४ ॥

न व्यभिचार इति रीत्या तथाविधस्य विध्यर्थस्य इष्ट-साधनत्वानुमापकत्वं निर्वाह्यम्। परन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्ट-साधनत्व-प्रकारेच्छायाः अपि सर्वत्र विध्यर्थत्वं न सम्भवति, 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इत्यत्र बलवदनिष्टानुबन्धिनि श्येने तथा-विध-विध्यर्थानुपपत्तेः इति 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ बलवद-निष्टाऽननुबन्धित्व-प्रकारकेच्छायाः, 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादौ च इष्ट-साधनत्व-प्रकारकेच्छायाः, विषं भुंक्ष्वेत्यादौ च कृति-साध्यत्व-प्रकारकेच्छायाः, पृथक् पृथक् विध्यर्थत्वाऽभ्युपगमाऽपेक्षया लाघवात् यथा प्राचीनमतम् इष्ट-साधनत्वस्य कृति-साध्यत्वस्य बलवद-निष्टाननुबन्धित्वस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्ट-साधनत्व-विशिष्ट-कृति-साध्यत्वस्यैव वा विध्यर्थत्वाऽङ्गीकार उचितः। अति-प्रसङ्गाऽल्प-प्रसङ्गस्तु यथास्थलं विशेषणाद्यभावाद्वारणीयः। पूर्व-कारिकायाम् 'दारु-द्वय-मथनम् इष्टाग्नि-साधनम्' इत्युत्तर-वाक्यस्य नैरर्थक्यं च विध्यर्थ-विवरण-तात्पर्यकत्वेन 'तरति मृत्युम्' इत्याद्य-र्थवादानुमेय-विधि-वाक्याऽनर्थक्यञ्च विधि-वाक्यस्य अर्थवाद-

'निषेधाऽनुपपत्तितः', अर्थात् "शुष्क मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए" इस निषेध वाक्य से, इष्ट-साधनत्व-विध्यर्थत्व-पक्ष में, इष्ट-साधनता का ही प्रतिषेध मानना पड़ेगा, परन्तु उक्त मांस-भक्षण में इष्ट-साधनत्व (तृप्ति-साधनत्व) के प्रत्यक्ष-सिद्ध होने से उसका प्रतिषेध प्रमाण-विरुद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार, 'बलवदनिष्टाऽजनकत्वं' को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता, "श्येनेन अभि-चरन् यजेत" इस विधि-वाक्य में नरक-साधनत्व के प्रामाणिक होने से बलवद-निष्टाननुबन्धित्व-स्वरूप विध्यर्थ की उपपत्ति यहाँ नहीं हो सकेगी। अप्रवर्तमान पुरुष की दृष्टि से 'श्येन' याग में बलवद्द्वेष-विषयत्व के प्रामाणिक होने से 'श्येन' याग में बलवद्द्वेष-विषयीभूत दुःख की जनकता का सामान्याभाव भी बाधित है। अतः बलवदनिष्टाऽजनकत्व अथवा बलवदनिष्टाऽजनकत्वविशिष्ट इष्ट-साधनत्व को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता है ॥१४॥

स्व-मतमाह :—

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्त्तुरिष्टाऽभ्युपायता ॥ १५ ॥

प्रवृत्ति-निवृत्ति-विषये आप्ताऽभिप्रायः लिङादिभिः प्रत्ययैः अभिधेयः, इष्ट-साधनता तु अनुमेया ।

वस्तुतस्तु ईश्वरेच्छायाः सर्व-विषयकत्वात् निषेधे बाधः, बलवद-निष्टाननुबन्धित्वेन इच्छायाः शक्यत्वे गौरवमिति प्राचीन-मतमेव साधीयः ॥ १५ ॥

'श्रुतेः' इत्यस्य व्याख्याऽन्तरमाह :—

प्रतिपाद्यार्थ-प्रामाण्य-प्रतिपादनपरत्वेन निरस्त-प्रायमेवेति एतत् सर्वं मनसि निधायाह्—प्राचीनमतम् एव साधीयः इति । अधिकं विद्वद्भिः विवेचनीयम् ॥१५॥

'श्रुतेः' इति प्रथम-कारिकोक्त-हेतोरित्यर्थः । सर्वत्र इति अत्राचार्याणामुक्तिः रमणीया—"न सन्त्येव हि वेद-भागाः यत्र परमेश्वरो न गीयते । तथा हि—स्रष्टृत्वेन पुरुष-सूक्तेषु, विभूत्या रुद्रेषु, शब्द-ब्रह्मत्वेन मण्डल-ब्राह्मणेषु, प्रपञ्चं पुरस्कृत्य निष्प्रपञ्चतया उपनिषत्सु, यज्ञ-पुरुषत्वेन मन्त्र-विधिषु, देहाविर्भावैः उपाख्यानेषु, उपास्यत्वेन च सर्वत्रेति ।" अक्षरस्य = अव्ययस्येत्यर्थः । परमेश्वर-गोचरः = परमेश्वर-प्रतिपादकः । स्वार्थ-द्वारैव = ईश्वर-प्रतिपादक-श्रुतेः मुख्यार्थाऽबाधात् ईश्वरे एव तात्पर्यम् नान्यत्रेति तदर्थः । स्वर्गादिवत् इति दृष्टान्त, तमेव प्रपञ्चयति—न तु सिद्धार्थतयेत्यादिना । मीमांसकैः वेद-मात्रस्य क्रियार्थकत्व-स्वीकारात् अक्रियार्थकानां सिद्ध-वस्तु-प्रतिपादकानां

अब विध्यर्थ के विषय में आचार्य अपना मत बतला रहे हैं :—

[प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के प्रसङ्ग में लिङ् आदि प्रत्ययों द्वारा आप्त-वक्ता का अभिप्राय ही विध्यर्थ के रूप में प्रतिपादित होता है । जहां तक प्रवर्तक इष्ट-साधनता के ज्ञान तथा निवर्त्तक द्विष्ट-साधनता के ज्ञान का प्रश्न है, वह तो आप्ताभिप्राय से किए गए अनुमान-प्रमाण से प्राप्त होता है ॥१५॥]

कृत्स्न एव[1] च वेदोऽयं परमेश्वर-गोचरः।
स्वार्थ-द्वारैव तात्पर्यम् तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥ १६ ॥

सर्वत्र वेद-भागे ईश्वरः प्रतिपादितः—"यज्ञो वै विष्णुः" 'पश्यत्यचक्षुः' इत्यादिश्रुतिषु, "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा-पृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" इत्यादिषु च। न तु सिद्धार्थतया अमीषामन्यत्र तात्पर्यम्।
विधि-वाक्यैकतया एव प्रामाण्यम् न तु स्वार्थे इति "विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः" इत्यत्र प्रतिपादितम्, यद्यपि तथापि तस्य सार्वत्रिकत्वे "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः-पदास्पदम्" इत्याद्यर्थवादस्य स्वार्थ-स्वर्गादि-प्रतिपादन-द्वारा "स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यनेन विधिना सह एकवाक्यतया तात्पर्य-विषयता नैवोपपद्येत। तस्माद्यथा स्वर्गादि-सिद्धार्थ-प्रतिपादक-वाक्यानि स्वार्थ-प्रतिपादन-द्वारैव विधिवाक्यैकवाक्यतामापन्नानि तात्पर्य-विषयतां प्राप्नुवन्ति सन्ति प्रामाण्यं लभन्ते तथैव "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादिसिद्धार्थ-बोधकान्यपि स्वार्थ-प्रतिपादन-द्वारैव वेद-वाक्यानि "ईश्वरमुपासीत" इति विधि-वाक्यैकवाक्यतामापादयन्ति प्रामाण्यं भजन्ते इति भवति ईश्वरस्य सकल-वेद-गोचरत्वमिति भाव.। तेषाम् इति—एतच्च स्वर्गनरकादि-बोधकानामित्यस्य विशेषणम्। स्वार्थे = स्वार्थप्रतिपादने। सिद्धार्थ-तात्पर्यात् = सिद्धार्थ-प्रतिपादक-वाक्य-तात्पर्यात्।

प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के विषय में 'आप्ताभिप्राय' हीं लिङादि-प्रत्ययों का वाच्य होता है और (प्रवृत्ति-विषय में) इष्ट-साधनत्व (तथा निवृत्ति-विषयमें द्विष्ट-साधनत्व) तो आप्ताऽभिप्राय से अनुमित होता हैं। अतः अन्य-लभ्य इष्ट-साधनत्व विधि का वाच्य नहीं हो सकता है।

वस्तुतः ईश्वरेच्छा में सर्व-विषयत्व होने के कारण निषेध-स्थलमें ईश्वरेच्छा-रूप विध्यर्थ का बाध मानना पड़ेगा और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-रूप में ईश्वरेच्छा को विध्यर्थ मानने पर गौरव होने के कारण विध्यर्थ के विषय में प्राचीन नैयायिकों का मत—इष्ट-साधनत्वादिकं विध्यर्थः—हो उदयनाचार्य के मत—आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः—से अधिक अच्छा है ॥१५॥

प्रथम कारिका में उपात्त हेतुओं में 'श्रुतेः' इस हेतु की दूसरी व्याख्या कर रहे हैं:—

---

१. एव हि इति पाठः-क-घ-पुस्तकयोः।

यथा स्वर्ग-नरकादि-बोधकानाम् तथा 'ईश्वरमुपासीत' इति विध्येक-वाक्यतया तेषां त्वन्मतेऽपि प्रामाण्यमेव। अन्यथा स्वर्गादि-पदानामपि स्वार्थे प्रामाण्यं न स्यात्। तदेतदुक्तम्—स्वार्थ-द्वारैवेति। स्वार्थ-प्रतिपादनद्वारा एव विधौ सिद्धार्थ-तात्पर्यात्।

वाक्यात् = वैदिक-प्रशंसा-निन्दा-वाक्यानि प्रशंसा-निन्दा-ज्ञान-पूर्वकाणि प्रशंसा-निन्दा-वाद-वाक्यत्वात्, परिणति-सुरसम् आम्र-फलम् इत्यादिवत्॥ १६॥

प्रथम-श्लोकस्थस्य 'वाक्यात्' इति हेतोः व्याख्यान्तरम् आह—वैदिकेति। स्वर्ग-नरकादि-पदार्थानां प्रशंसायाः निन्दायाश्च ज्ञानं नास्मदादिषु सम्भवतीति तादृश-ज्ञानाश्रयत्वेन तथाविधस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्य सिद्धिरिति तात्पर्यम्॥१६॥

स्वतन्त्रेति—स्वातन्त्र्यं चात्र अन्य-कर्तृकत्वेच्छयोच्चारणाभावः। अत एव "अग्निमीले पुरोहितम्" इत्यादौ नोत्तम-पुरुष-वाच्या संख्या परमेश्वर-गामिनी इति बोध्यम्। स्याम् इति—अत्र प्रतीयमाना च संख्या योग्यत्वात् सर्व-शक्तिमत्येव विश्राम्यतीति भावः। प्रथम-व्याख्यायाम् संख्या-विशेषः द्व्यणुकादि-कार्य-निष्ठः अभिप्रेतः, अत्र तु प्रतिपाद्येश्वर-निष्ठ एव सः इत्यनयोः पक्षयोः विशेषः।

[समस्त वेद परमेश्वर का प्रतिपादन करता है और सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने पर भी ईश्वर-प्रतिपादक वेद-वाक्यों की प्रामाणिकता, स्वर्गादि सिद्धार्थ-प्रतिपादक वेद-वाक्यों की तरह, स्वार्थ-प्रतिपादन द्वारा ही है॥१६॥]

सभी वदे-भागों में ईश्वर का प्रतिपादन है—"विष्णु ही यज्ञ हैं", "आँख के बिना भी देखते हैं" इत्यादि श्रुतियों में और "हे गार्गि! इसी अव्यय परमेश्वर के आधिपत्य में यह स्वर्ग-मर्त्य प्रतिष्ठित हैं" इत्यादि उपनिषदों में। सिद्ध परमेश्वर के प्रतिपादक होने के कारण उपर्युक्त वेद-वाक्यों का तात्पर्य ईश्वरातिरिक्त-पदार्थ-प्रतिपादन में है—यह भी उचित नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ग-नरक आदि के प्रतिपादक वाक्यों का स्वार्थ-प्रनिपादन द्वारा ही प्रामाण्य आप मीमांसक मानते हैं उसी प्रकार "ईश्वर की उपासना करनी चाहिए" इत्यादि विधि के साथ एकवाक्यतापन्न उपर्युक्त वेद-वाक्यों का भी स्वार्थ-प्रतिपादन द्वारा ही प्रामाण्य है। अन्यथा स्वर्गादि सिद्ध-वस्तु के प्रतिपादक

"संख्या-विशेषात्" इत्यस्य व्याख्यान्तर माह :—

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या [1]प्रवक्तृगा ।
समाख्याऽपि च शाखानां नाऽऽद्य-प्रवचनादृते ॥ १७ ॥

वैदिकोत्तम-पुरुषेण स्वतन्त्रोच्चारयितुः संख्या वाच्या, "तत् ऐक्षत बहु स्याम्" इत्यादि-बहुषु उत्तम-पुरुषत्व-श्रुतेः ।

संख्या-पदार्थमन्यमाह—"समाख्या" इत्यादि । सर्वासां शाखानां हि काठक-कालापकाद्याः समाख्याः = संज्ञा-विशेषाः श्रूयन्ते, ते च नाध्ययन-मात्र-निबन्धनाः, अध्येतृणामानन्त्यात्, आदावन्यैरपि तदध्यय-

संख्या-पदं संज्ञा-परमभ्युपगम्य तृतीयां व्याख्यां प्रस्तौति—संख्या-पदार्थमित्यादिना । आनन्त्यादिति—तथा च संज्ञाया अनन्तत्वापत्तिः स्यात् । ननु अध्येतृणामानन्त्येऽपि आद्याऽध्येतृ-निमित्त एव संज्ञा-विशेष इत्यत आह—आदाविति । तथा च आदौ कठ एव तां शाखामध्यगीष्ट इत्यत्र नियामकं नास्तीति भावः । वस्तुतस्तु तन्मते सर्गाद्यसिद्धेः आद्याऽध्येतृत्वमसिद्धमेवेति ध्येयम् । शरीर-विशेषम् अधिष्ठायेति—एतच्च द्वितीय-स्तबकेऽपि विवृत-प्रायम् । तदेवमीश्वरे सिद्धे तन्मननस्योक्तं मोक्ष-हेतुत्वं नाऽनुपपन्नमित्युपसंहरति—सिद्ध-मीश्वर-मनः मोक्ष-हेतुः इति ॥ १७ ॥

वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वार्थ-प्रतिपादन में न हो सकेगा । यही बात "स्वार्थ-द्वारैव......" शब्द से कही गई है । सिद्धार्थ-प्रतिपादक वाक्यों का भी स्वार्थ-प्रतिपादन द्वारा ही विधि के साथ एकवाक्यता में तात्पर्य है ।

'वाक्यात्' इस पूर्वोक्त हेतु का व्याख्यान्तर यह है :—वेद में उपलब्ध 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि प्रशंसा-वाक्य तथा 'स्तेयं मनः' इत्यादि निन्दा-वाक्य वक्ता में प्रशंसा तथा निन्दा के ज्ञान की पूर्व कल्पना करते हैं प्रशंसा तथा निन्दा के प्रतिपादक वाक्य होने से, 'पकने पर आम-फल सुस्वादु होता है' इत्यादि लौकिक प्रशंसा-वाक्य के समान । अतः वाक्यत्व हेतु से भी ईश्वर सिद्ध है ॥१६॥

'संख्या-विशेषात्' इस हेतु की दूसरी व्याख्या बतला रहे हैं :—

[वेद में अनन्य-कर्तृकत्वेन उच्चरित 'स्याम्,' 'अभूवम्' तथा 'भविष्यामि' इत्यादि उत्तम-पुरुष की क्रियाओं से अभिधीयमान एकत्व-संख्या उसके वक्ता

---

१. च वक्तृगा इति पाठः ग. पुस्तके ।

नात् । तस्मादतीन्द्रियार्थ-दर्शी भगवानेव कारुणिकः सर्गादौ अस्मदाद्य-दृष्टाऽकृष्ट-काठकादि-शरीर-विशेषमधिष्ठाय यां शाखाम् उक्तवान् तस्याः शाखायाः तन्नाम्ना व्यपदेश इति सिद्धम् ईश्वर-मननं मोक्ष-हेतुः ॥ १७ ॥

यस्येश्वरे न विश्वासः तम्प्रत्याह :—

इत्येवं श्रुति-नीति-सम्प्लव-जलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैल-साराऽऽशयाः ।
किन्तु प्रस्तुत-विप्रतीप-विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया[1] नराः ॥१८॥

सम्प्लवः - समन्वयः । शैल-साराशयाः = शैल-सारः पाषाणं लौहं वा तद्वदाशयः हृदयं येषां ते शैल-साराशयाः युक्ति-ज्ञानाश्रयत्वाऽयोग्य-हृदयाः इत्यर्थः । हृदयस्य ज्ञानाश्रयत्वं च परम्परया-तस्य आत्म-निवासत्वेन श्रुति-प्रसिद्धत्वादिति बोध्यम् । प्रस्तुते ईश्वरे सत्यपि

ईश्वर की एकत्व संख्या ही है । दूसरी बात यह भी है कि 'संज्ञा', अर्थात् वेद की शाखाओं के जो कठ, कौथुम आदि नाम हैं वे भी कठ आदि रूप में ईश्वर के द्वारा प्रथमोच्चारण के माने विना उपपन्न नहीं हो सकते अतः ईश्वर सिद्ध है ॥१७॥]

वेद-वाक्य में प्रयुक्त उत्तम-पुरुष की क्रिया से उसके स्वतन्त्र उच्चारयिता परमेश्वर की एकत्व-संख्या का ही अभिधान होना चाहिए, "उस परमेश्वर ने सोचा कि मैं बहुत रूपों में प्रतिपन्न होऊँ" इत्यादि अनेक वेद-वाक्यों में उत्तम-पुरुष की क्रिया की उपलब्धि तो सर्व-वेद्य है ।

'समाख्या' इत्यादि शब्दों से संख्या शब्द का तीसरा अर्थ बतला रहे हैं । सभी शाखाओं की 'काठक', 'कालापक' आदि समाख्या, अर्थात् नाम सुने जाते हैं । ये नाम अध्येताओं के आधार पर नहीं रखे जा सकते हैं, क्योंकि अध्येता एक नहीं अनेक हैं । एवञ्च यदि एक के आधार पर नाम रक्खा गया तो दूसरे के आधार पर भी नाम रखना चाहिए था । साथ ही, यह भी सम्भावित है कि प्रथमतः कठ से भिन्न व्यक्ति ने ही उस शाखा का अध्ययन किया हो । अतः सूक्ष्माति-सूक्ष्म पदार्थ का द्रष्टा दयालु परमेश्वर ने ही सृष्टि के प्रारम्भ में हम जीवों के अदृष्ट से उद्भूत काठकादि शरीर में अधिष्ठित हो कर जिन शाखाओं

१. भावनीयाः इति पाठः क. घ. पुस्तकयोः ।

इति-शब्दः स्वरूपे। एवं शब्दः प्रकारार्थः। 'शैलसारः' = लोहम् अति-कठिन-शिला वा। 'प्रस्तुते' ईश्वरे, 'विप्रतीप-विधयः' = प्रतिकूल-पराः। तादृशाः अपि 'उच्चैः' अतिशयेन, काले भवच्चिन्तकाः शङ्का-कलङ्क-शून्याः कार्याः ॥ १८ ॥

अस्माकं तु निसर्ग-सुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्द-निधौ[1] तथाऽपि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशः याम्याः पुनर्यातनाः ॥१९॥

विपरीतः तदसत्त्व-विषयः कुतर्क-विधिः येषां ते प्रस्तुत-विप्रतीप-विधयः। काले = विषमे काले। तारणीयाः = ईश्वर-विषयक-शङ्का-कलङ्क-शून्याः कर्त्तव्याः। 'भावनीयाः' इति पाठेऽपि एष एवार्थः। स्वरूपे = ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट-स्वरूपे। प्रकारः = साधक-प्रमाण-प्रदर्शनम् बाधक-प्रमाणोपमर्दनं च।

प्रतिकूल-पराः = प्रतिकूल-तर्काभ्यास-परा इत्यर्थः। शेषं स्पष्टमेव ॥ १८ ॥

का उपदेश किया उन शाखाओं के 'काठक' आदि नाम पड़े। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वर का मनन मोक्ष का प्रयोजक है ॥१७॥

जिस व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास नहीं है उसके विषय में आचार्य कह रहे हैं :—

[इस प्रकार से श्रुति तथा युक्ति के समन्वय-रूप पर्याप्त जल से प्रक्षालित जिन नास्तिकों के हृदय में आप स्थान नहीं ले रहे हैं उनका हृदय प्रस्तर-तुल्य है। हे कारुणिक प्रभो ! किन्तु इस समय आपके विषय में विपरीत तर्क करने वाले ये नास्तिक भी जब अवसर पाकर आपका उच्च चिन्तन करेंगे तब आप ही इनके उद्धारक हों ॥१८॥]

'इति'-शब्द स्वरूप-प्रतिपादक है। 'एवम्' शब्द 'प्रकार' का वाचक है। 'शैल-सारः', अर्थात् लोहे का टुकड़ा अथवा अत्यन्त कठोर प्रस्तर-खण्ड। 'प्रस्तुते', अर्थात् प्रतिपाद्यमान ईश्वर के विषय में, 'विप्रतीप-विधयः', अर्थात्

---

१. आनन्द-निधे ! इति क-घ-पुस्तकयोः पाठः।

'अद्धा' = तत्त्वम् । 'सन्तृप्यते' इति कर्म-कर्त्तरि ॥ १९ ॥

इत्येष नीति-कुसुमाञ्जलिरुज्ज्वल-श्रीः
यद्वासयेदपि च दक्षिण-वामकौ द्वौ ।

सम्प्रति ईश्वरे श्रद्धावतां स्वेषां गतिमाह—अस्माकम् इत्यादि-श्लोकेन । यद्यपि हे निसर्ग-सुन्दर! आनन्द-निधौ त्वयि परमेश्वरे अस्माकं चेतः चिरादेव कालात् निमग्नमेव इति अद्धा तत्त्वम् (सत्यम् इति तात्पर्यम्) तथापि तरलत्वात् = त्वद्विषयक-कामना-वत्त्वात् अद्यापि न सन्तृप्तं जायते । अतः हे नाथ ! अस्मासु शीघ्रमेव तादृशीं करुणां विधेहि येन निमित्तेन अस्माकं चित्ते त्वयि एकाग्रतां सम्प्राप्ते सति वयं शतशः याम्याः यातना नारकीय-भोगाः न आप्नुवाम इति भावः । कर्म-कर्त्तरि इति—तृपेः तर्पणार्थकस्य सकर्मकत्वम् "पितॄन् अताप्सीत्" इत्यादौ प्रसिद्धमेवेति, अत्र ईश्वरः तत्करुणा वा यथार्थः कर्त्ता कर्म च चेतः इति तथापि कर्मणः कर्तृत्व-विवक्षायां तृप्यते चेतः इति रूपं न असाधु इति भावः । अत्र श्लोकार्थे "न ततः पुनरावर्त्तते" इत्यादि-श्रुतिः प्रमाणम्, "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इत्याद्याः स्मृतयश्च ॥ १९ ॥

'इत्येषेत्यत्र' इतिः समाप्ति-सूचनाय । नीतिः = न्यायः । एष उज्ज्वल-श्रीः "न्याय-कुसुमाञ्जलिः" यदि दक्षिण-वाम-नासा-पुटे कुसुमाञ्जलिरिव दक्षिण-वामकौ सज्जन-दुर्जनौ, वासयेत् = अनुरञ्जयेत् तर्हि बाढम्, परन्तु यदि दुर्जनत्वात् वाम-मार्गावलम्बिनं न रञ्जयेत् तावताऽपि किम् अस्माकम् अनीप्सितम्! न किमपि इति भावः । कथं

प्रतिकूल तर्क करने में तत्पर मन्द-बुद्धि भी जब 'उच्चैः', अर्थात् अत्यधिक रूप में विषम परिस्थिति में आपको चिन्ता करेंगे तब आप ही उनको ईश्वर-विषयक शङ्का-स्वरूप कलङ्क से शून्य करें ॥ १८ ॥

[परन्तु, हे स्वभाव-सुन्दर ! यद्यपि हमारा चित्त चिर काल से आनन्द-समुद्र-स्वरूप आप में निमग्न है यह सत्य है तथापि चञ्चलता के कारण अभी तृप्त नहीं हो पाया है । इसलिए, हे प्रभो, शीघ्र ही आप हम पर ऐसी अनुकम्पा करें जिसके प्रभाव से हम अपने चित्त को आप में ही एकतान बना कर पुनः पुनः यमराज की इन अनन्त-यातनाओं का शिकार न बनें ॥१९॥]

'अद्धा' अर्थात् सत्य। 'सन्तृप्यते' यह प्रयोग 'कर्म-कर्त्ता' में किया गया है ॥१९॥

नो वा ततः किममरेश-गुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पद-पीठ-समर्पणेन[1] ॥ २० ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्य-विरचितः
'न्याय-कुसुमाञ्जलिः' समाप्तः ॥

न अनीप्सितमित्याह—अमरेश-गुरोरित्यादिना। ईश्वरस्य पदमेव पीठम् पद-पीठम् तत्र समर्पणं यस्य तादृशेन अनेन न्याय-कुसुमाञ्जलिना अमरेश-गुरोः=ब्रह्मणः गुरुः=वेदाध्यापकः परमेश्वरः, "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यादि-श्रुतेः, प्रीतः अस्मासु अस्तु, तावतैव अस्माकमिष्टसिद्धिः तदनुग्रहादिति भावः ॥ २० ॥

भूतानि पञ्च परिहाय तु पञ्चकेऽस्मिन्
पुण्यं पदं पुर-भिदः पितरि प्रपन्ने।
सञ्चिन्त्य तच्चरण-पङ्कज-सञ्चितार्थम्
न्यस्ता प्रभाऽत्र कुसुमाञ्जलि-पञ्चमेऽपि ॥ १ ॥

मैथिलाऽऽलोचनाऽऽलम्बि-मैथिलालंकृताऽर्जने।
'मैथिली' मिथिला-लोभाल्लालयेन्मैथिलं कुलम् ॥ २ ॥

सम्विभक्ताऽपि याऽन्योन्यं संगता संगता चिरात्।
कथं न मयि साकाङ्क्षा सा गौडीयाऽपि भारती ॥ ३ ॥

भ्रान्तेः पुरुष-धर्मत्वम् आचार्यैरप्युरीकृतम्।
क्षम्यं तत्स्खलनं जाने गहनौदयनायने ॥ ४ ॥

वाण-नेत्राम्बर-श्रोत्र-मिते (२०२५) विक्रम-वत्सरे।
काश्यां 'प्रभा' पूरितेयं काशीनाथे समर्प्यते ॥ ५ ॥

[उज्ज्वल कान्ति वाला यह 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' ईश्वर-वादी तथा अनीश्वर-वादी इन दोनों को सुवासित करे या न करे, परन्तु हमारा इतना ही अभीष्ट है कि इस शब्दात्मक सिंहासन के समर्पण से ब्रह्मा के भी अधिपति भगवान् विष्णु प्रसन्न हों ॥२०॥]

---

१. समर्पितेन इति पाठः क-ग-घ-पुस्तकेषु।

नो वासयेत्, ततः किम् अस्माकम् ॥ २० ॥

इति श्रीहरिदास-भट्टाचार्य-विरचिता
न्याय-कुसुमाञ्जलि-वृत्तिः
स मा प्ता ॥



इति शाण्डिल्य-कुलालङ्कार-वाग्देवताऽवतार-
श्रीलक्ष्मीनाथमिश्रात्मजन्मनः
श्रीनारायणमिश्रस्य कृतायाम्
कुसुमाञ्जलि-वृत्ति-
प्रभायाम् पञ्चमः
स्तवकः ।
समाप्ता चेयं प्रभा-व्याख्या ॥



यदि यह दोनों पक्ष के लोगों को प्रसन्न न भी करे तब भी हमारा क्या बनता-बिगड़ता है ? कुछ नहीं ।।२०।।

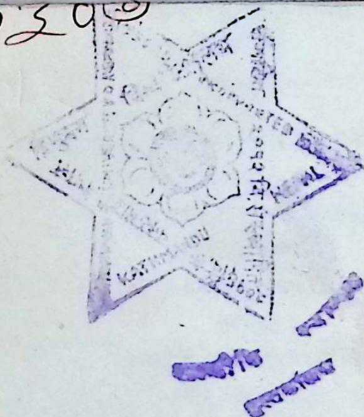
पञ्चम स्तवक समाप्त

श्री नारायण मिश्र-कृत विभा-व्याख्या समाप्त हुई ।

शिवमस्तु सर्व-जगताम् ॥



०५६।१०।३		




सरस्वती न:सुभगा मयस्करत्
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
म
वि.स. २०४३
MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY 1986 AD